विवेकानन्दजी के संग में

(वार्तालाप)

श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती

श्रीरामकृष्ण आश्रम
धन्तोली, नागपुर

दूसरों का अनुकरण करने लगना अनुचित है—भक्त तथा ज्ञानी भिन्न भिन्न स्थानों से निरीक्षण करके कहते हैं, इसीसे उनके कथन में कुछ भिन्नता का आभास होना—सेवाश्रम स्थापित करने के निमित्त स्वामीजी का विचार।

परिच्छेद ११

स्थान—आलमबाजार मठ। वर्ष—१८९७ ईसवी

विषय—मठ पर स्वामीजी से कुछ लोगों का संन्यास-दीक्षाग्रहण—संन्यास-धर्म विषय पर स्वामीजी का उपदेश—त्याग ही मनुष्यजीवन का उद्देश्य—"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च" —सर्वस्व-त्याग ही संन्यास—संन्यास ग्रहण करने का कोई कालाकाल नहीं—"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"—चार प्रकार के संन्यास—भगवान् बुद्धदेव के पश्चात् ही विविदिषा-संन्यास की वृद्धि—बुद्धदेव के पहले संन्यास आश्रम के रहने पर भी यह नहीं समझा जाता था कि त्याग या वैराग्य ही मनुष्यजीवन का लक्ष्य है—निकम्मे संन्यासीगण से देश का कोई कार्य नहीं होता इत्यादि सिद्धान्त का खण्डन—यथार्थ संन्यासी अपनी मुक्ति की भी उपेक्षा कर जगत् का कल्याण करते हैं।

परिच्छेद १२

स्थान—कलकत्ता, स्व० बलराम बसु का भवन। वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—गुरु गोविन्दसिंहजी शिष्यों को किस प्रकार की दीक्षा देते थे—उस समय पंजाब के सर्वसाधारण के मन में उन्होंने एक ही प्रकार की प्रेरणा को जगाया था—सिद्धाई लाभ करने की अपकारिता—स्वामीजी के जीवन में परिदृष्ट दो अद्भुत घटनाएँ—शिष्य को उपदेश—भूत-प्रेत के ध्यान से भूत और 'मैं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त आत्मा हूँ' ऐसा ध्यान सर्वदा करने से ब्रह्मज्ञ बनता है।

परिच्छेद १३

स्थान—बेलुड़, किराये का मठ। वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—मठ में श्रीरामकृष्णदेव की जन्मतिथि पूजा—ब्राह्मणजाति के अतिरिक्त अन्यान्य जाति के भक्तों को स्वामीजी का यज्ञोपवीत धारण कराना—मठ में श्रीयुत गिरीशचन्द्र घोष का समादर—कर्मयोग या परार्थ में कर्मानुष्ठान करने से आत्म-दर्शन निश्चित है, इस सिद्धान्त को युक्ति-विचार द्वारा स्वामीजी का समझाना।

परिच्छेद १४

स्थान—बेलुड, किराये का मठ। वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—नये मठ की भूमि पर श्रीरामकृष्ण की प्रतिष्ठा—आचार्य शंकर की अनुदारता—बौद्ध धर्म का पतन, कारण निर्देश—तीर्थमाहात्म्य—'रथे तु वामनं दृष्ट्वा' इत्यादि श्लोक का अर्थ—भावाभाव के अतीत ईश्वरस्वरूप की उपासना।

परिच्छेद १५

स्थान—बेलुड, किराये का मठ। वर्ष—१८९८ ईसवी (फरवरी)

विषय—स्वामीजी की बाल्य व यौवन अवस्था की कुछ घटनाएँ तथा दर्शन—अमरीका में प्रकाशित विभूतियों का वर्णन—भीतर से मानो कोई वक्तृताराशि को बढ़ाता है ऐसी अनुभूति—अमरीका के स्त्री पुरुषों का गुणावगुण—ईर्ष्या के मारे पादरियों का अत्याचार—जगत् में कोई महत्कार्य कपटता से नहीं बनता—ईश्वर पर निर्भरता—नाग महाशय के विषय में कुछ कथन।

परिच्छेद १६

स्थान—बेलुड, किराये का मठ। वर्ष—१८९८ ईसवी (नवम्बर)

विषय—काश्मीर में अमरनाथजी का दर्शन—क्षीरभवानी के मन्दिर में देवीजी की वाणी का श्रवण और मन से सकल संकल्प का

जातीय लोगों की जागृति में निम्न जातीय लोगों की जागृति तथा उनका उच्च जाति के लोगों से अपने अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न—उच्च जाति के लोग इस विषय में यदि उनकी सहायता करें तो भविष्य में दोनों जातियों का लाभ —निम्न जातियों के व्यक्तियों को यदि गीता के उपदेश के अनुसार शिक्षा दी जाय तो वे अपने अपनें जातीय कर्मों का त्याग न करके उन्हें और भी गौरव के साथ करते रहेंगे—यदि उच्च वर्गीय व्यक्ति इस समय इस प्रकार निम्न जातियों की सहायता न करेंगे तो उनके भविष्य के निश्चय ही अन्धकारपूर्ण होने की सम्भावना।

परिच्छेद २०

स्थान—बेलुड़, किराये का मठ-भवन। वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—"उद्बोधन" पत्र की स्थापना—इस पत्र के लिए स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी का अमित कष्ट तथा त्याग—स्वामीजी का इस पत्र को प्रकाशित करने का उद्देश—श्रीरामकृष्ण की संन्यासी सन्तानों का त्याग तथा अध्यवसाय—गृहस्थों के कल्याण के लिए ही पत्र का प्रचार आदि—"उद्बोधन" पत्र का संचालन—जीवन को उच्च भाव से गढ़ने के लिए उपायों का निर्देश—किसी से घृणा करना या किसी को डराना निन्दनीय —भारत में अवसन्नता का कारण—शरीर को सबल बनाना।

परिच्छेद २१

स्थान—कलकत्ता

विषय—भगिनी निवेदिता आदि के साथ स्वामीजी का अलीपुर पशुशाला देखने जाना—पशुशाला देखते समय वार्तालाप तथा हँसी—दर्शन के बाद पशुशाला के सुपरिण्टेण्डेण्ट रायबहादुर बाबू रामब्रह्म सन्याल के मकान पर चाय पीना तथा क्रमविकास के सम्बन्ध में वार्तालाप—क्रमविकास का कारण बताकर पाश्चात्य विद्वानों ने जो कुछ कहा है वह अन्तिम

स्वामी विवेकानंद

विवेकानन्दजी के संग में

परिच्छेद १

प्रथम दर्शन

स्थान—कलकत्ता, स्व० प्रियनाथ मुखर्जी का भवन, बागबाजार

वर्ष—१८९७ ईसवी।

विषय—स्वामीजी के साथ शिष्य का प्रथम परिचय—'मिरर' सम्पादक श्रीयुत नरेन्द्रनाथ सेन के साथ वार्तालाप—इंग्लैण्ड और अमरीका की तुलना पर विचार—पाश्चात्य जगत् में भारतवासियों के धर्मप्रचार का भविष्य-फल—भारत का कल्याण धर्म में या राजनीतिक चर्चा में—गोरक्षा-प्रचारक के साथ भेंट—मनुष्य की रक्षा करना पहला कर्तव्य।

तीन चार दिन हुए, स्वामीजी प्रथम बार विलायत से लौटकर कलकत्ता नगर में पधारे हैं। बहुत दिनों के वाद आपका पुण्य-दर्शन होने से श्रीरामकृष्णभक्तगण बहुत प्रसन्न हो रहे हैं। उनमें से जिनकी अवस्था अच्छी है, वे स्वामीजी को सादर अपने घर पर आमन्त्रित करके आपके सत्संग से अपने को कृतार्थ समझते हैं। आज मध्याह्न को बागबाजार के अन्तर्गत राजवल्लभ मुहल्ले में श्रीरामकृष्णभक्त श्रीयुत प्रियनाथजी के घर पर स्वामीजी को निमन्त्रण है। इस समाचार को पाते ही, बहुत से भक्त उनके घर घर आ रहे हैं। शिष्य भी लोगों के मुँह से यह सुनकर प्रियनाथजी के घर पर कोई ढाई बजे उपस्थित हुआ। स्वामीजी के साथ शिष्य का अभी तक कुछ परिचय नहीं है। शिष्य को अपने

जीवन में यह प्रथम बार स्वामीजी का दर्शनलाभ हुआ है।

वहाँ उपस्थित होने के साथ ही स्वामी तुरीयानन्दजी शिष्य को स्वामीजी के पास ले गये और उनसे उसका परिचय कराया। स्वामीजी जब मठ में पधारे थे, तभी शिष्यरचित एक श्रीरामकृष्ण-स्तोत्र पढ़कर उसके विषय में सब जान गये थे और यह भी मालूम कर लिया था कि शिष्य का श्रीरामकृष्ण के बड़े प्रेमी भक्त साधु नाग महाशय के पास आना-जाना रहता है।

शिष्य जब स्वामीजी को प्रणाम करके बैठ गया तो स्वामीजी ने संस्कृत भाषा में उससे सम्भाषण किया तथा नाग महाशय का कुशल-मंगल पूछा और नाग महाशय के आश्चर्यजनक त्याग, गम्भीर ईश्वरानुराग और नम्रता की प्रशंसा करते हुए बोले, "वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती*" और शिष्य को आज्ञा दी कि पत्र द्वारा इस सम्भाषण को उनके पास भेज दे। तदनन्तर बहुत भीड़ लग जाने के कारण वार्तालाप करने का सुभीता न देखकर स्वामीजी शिष्य और तुरीयानन्दजी को लेकर पश्चिम दिशा के एक छोटे कमरे में चले गये और शिष्य को लक्ष्य करके 'विवेचकचूड़ामणि' का यह श्लोक कहने लगे—

"मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्त्यपायः संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं तमेव मार्गं तव निर्दिशामि॥"

"हे विद्वन्! डरो मत, तुम्हारा नाश नहीं है, संसार-सागर के पार उतरने का उपाय है। जिस उपाय के आश्रय से यती लोग संसार-सागर के पार उतरे हैं, उसी श्रेष्ठ मार्ग को मैं तुम्हें दिखाता हूँ!" ऐसा कहकर शिष्य को श्रीशंकराचार्य कृत "विवेकचूड़ामणि" ग्रन्थ पढ़ने का आदेश दिया।

---

* अभिज्ञानशाकुन्तलम्।

शिष्य इन बातों को सुनकर चिन्ता करने लगा—क्या स्वामीजी मुझे मन्त्रदीक्षा लेने के लिए संकेत कर रहे हैं ? उस समय शिष्य वेदान्तवादी और बाह्य आचारों को बहुत ही महत्त्व देनेवाला था। गुरु से मन्त्र लेने की जो प्रथा है उस पर उसका कुछ विश्वास नहीं था और वर्णाश्रम धर्म का वह एकान्त अनुयायी तथा पक्षपाती था।

फिर नाना प्रकार का प्रसंग चल पड़ा। इतने में किसी ने आकर समाचार दिया कि 'मिरर' नामक दैनिक पत्र के सम्पादक श्रीयुत नरेन्द्रनाथ सेन स्वामीजी के दर्शन के लिए आये हैं। स्वामीजी ने सम्वादवाहक को आज्ञा दी 'उन्हें यहाँ लिवा लाओ।' नरेन्द्र बाबू ने छोटे कमरे में आकर आसन ग्रहण किया और वे अमरीका इंग्लैण्ड के विषय में स्वामीजी से नाना प्रकार के प्रश्न करने लगे। प्रश्नों के उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि अमरीका के लोग जैसे सहृदय, उदारचित्त, अतिथिसेवा-तत्पर और नवीन भाव ग्रहण करने में उत्सुक हैं, वैसे जगत् में और कोई नहीं हैं। अमरीका में जो कुछ कार्य हुआ है, वह मेरी शक्ति से नहीं हुआ वरन् इतने सहृदय होने के कारण ही अमरीकानिवासी इस वेदान्तभाव को ग्रहण करने में समर्थ हुए हैं। इंग्लैण्ड के विषय में स्वामीजी ने कहा कि अंग्रेज जाति की तरह प्राचीन रीतिनीति की पक्षपाती (Conservative) और कोई जाति संसार में नहीं है। पहले तो ये लोग किसी नये भाव को सहज में ग्रहण करना नहीं चाहते; परन्तु यदि अध्यवसाय के साथ कोई भाव उनको एक बार समझा दिया जाय तो फिर उसे कभी भी नहीं छोड़ते। ऐसी दृढ़प्रतिज्ञता किसी दूसरी जाति में नहीं पायी जाती। इसी कारण अंग्रेज जाति ने सभ्यता और शक्ति के संचय में पृथ्वी पर

सब से ऊँचा पद प्राप्त किया है।

फिर यह कहकर कि यदि कोई सुयोग्य प्रचारक मिले तो अमरीका की अपेक्षा इंग्लैण्ड में ही वेदान्तकार्य के विशेष स्थायी होने की अधिक सम्भावना है, और कहा, "मैं केवल कार्य की नींव डालकर आया हूँ। मेरे बाद के प्रचारक उसी मार्ग पर चलकर भविष्य में बहुत बड़ा काम कर सकेंगे।"

नरेन्द्र बाबू ने पूछा—"इस प्रकार धर्मप्रचार करने से भविष्य में हम लोगों को क्या लाभ है?"

स्वामीजी ने कहा—"हमारे देश में जो कुछ है सो वेदान्तधर्म ही है। पाश्चात्य सभ्यता के साथ तुलना करने से यह कहना ही पड़ता है कि हमारी सभ्यता उसके पासंग भर भी नहीं है, परन्तु धर्म के क्षेत्र में यह सार्वभौमिक वेदान्तवाद ही नाना प्रकार के मतावलम्बियों को समान अधिकार दे रहा है। इसके प्रचार से पाश्चात्य सभ्य संसार को विदित होगा कि किसी समय में भारतवर्ष में कैसे आश्चर्यजनक धर्म-भाव का स्फुरण हुआ था और वह अब तक वर्तमान है। पाश्चात्य जातियों में इस मत की चर्चा होने से उनकी हम पर श्रद्धा बढ़ेगी और हमारे प्रति सहानुभूति प्रकट होगी—बहुत सी अब तक हो भी चुकी है। इस प्रकार उनकी यथार्थ श्रद्धा और सहानुभूति प्राप्त करने पर हम अपने ऐहिक जीवन के लिए उनसे वैज्ञानिक शिक्षा ग्रहण करके जीवनसंग्राम में अधिक योग्यता प्राप्त करेंगे। दूसरी ओर वे हमसे वेदान्तमत ग्रहण करके पारमार्थिक कल्याण लाभ करने में समर्थ होंगे।

नरेन्द्र बाबू ने पूछा—"इस प्रकार के आदान-प्रदान से हमारी राजनीतिक उन्नति की कोई आशा है या नहीं?" स्वामीजी बोले, "वे (पाश्चात्य जाति) महापराक्रमशाली विरोचन की सन्तान

हैं। उनकी शक्ति से पंचभूत कठपुतली के समान उनकी सेवा कर रहे हैं। यदि आपको यह प्रतीत हो कि इसी स्थूल भौतिक शक्ति के प्रयोग से किसी न किसी दिन हम उनसे स्वतन्त्र हो जायँगे तो आपका ऐसा अनुमान सर्वथा निर्मूल है। इस शक्ति-प्रयोगकुशलता में, उनमें और हममें ऐसा अन्तर है जैसा कि हिमालय और एक सामान्य शिलाखण्ड में। मेरे मत को आप सुनियेगा। हम लोग उक्त प्रकार से वेदान्तधर्म का गूढ़ रहस्य पाश्चात्य जगत् में प्रचार करके उन महाशक्ति धारण करने वालों की श्रद्धा और सहानुभूति को आकर्षित करेंगे और आध्यात्मिक विषय में सर्वदा हम उनके गुरुस्थान पर आसीन रहेंगे। दूसरी ओर वे अन्यान्य ऐहिक विषयों में हमारे गुरु बने रहेंगे। जिस दिन भारतवासी अपने धर्मविषय से विमुख होकर पाश्चात्य जगत् से धर्म को जानने की चेष्टा करेंगे, उसी दिन इस अधःपतित जाति का जातित्व सदा के लिए नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। हमें यह दे दो, हमें वह दे दो ऐसे आन्दोलन से सफलता प्राप्त नहीं होगी। परन्तु उस आदान-प्रदानरूप कार्य से जब दोनों पक्ष में श्रद्धा और सहानुभूति की एक प्रेमलता का जन्म होगा, तब अधिक चिल्लाने की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। वे स्वयं हमारे लिए सब कुछ कर देंगे। मेरा विश्वास है कि इसी प्रकार से वेदान्तधर्म की चर्चा और वेदान्त का सर्वत्र प्रचार होने से हमारे देश तथा पाश्चात्य देश दोनों को ही विशेष लाभ होगा। इसके सामने राजनीतिक चर्चा मेरी समझ में गौण उपाय दीखती है। अपने इस विश्वास को कार्य में परिणत करने में मैं अपने प्राण तक भी दे दूँगा। यदि आप समझते हैं कि किसी दूसरे उपाय से भारत का कल्याण होगा तो आप उसी उपाय का अवलम्बन कीजिये।"

नरेन्द्र बाबू स्वामीजी की बातों पर बिना वाद-विवाद किये सहमत हो कुछ समय के पश्चात् चले गये। स्वामीजी की पूर्वोक्त बातों को श्रवण कर शिष्य विस्मित हो गया और उनकी दिव्य मूर्ति की ओर टकटकी लगाये देखता रहा।

नरेन्द्र बाबू के चले जाने के पश्चात् गोरक्षण सभा के एक उद्योगी प्रचारक स्वामीजी के दर्शन के लिए साधु-संन्यासियों का सा वेष धारण किये हुए आये। उनके मस्तक पर गेरुए रंग की एक पगड़ी थी। देखते ही जान पड़ता था कि वे हिन्दुस्तानी हैं। इन प्रचारक के आगमन का समाचार पाते ही स्वामीजी कमरे से बाहर आये। प्रचारक ने स्वामीजी को अभिवादन किया और गोमाता का एक चित्र उनको दिया। स्वामीजी ने उसे ले लिया और पास बैठे हुए किसी व्यक्ति को वह देकर प्रचारक से निम्न-लिखित वार्तालाप करने लगे।

स्वामीजी—आप लोगों की सभा का उद्देश्य क्या है?

प्रचारक—हम देश की गोमाताओं को कसाई के हाथों से बचाते हैं। स्थान स्थान पर गोशालाएँ स्थापित की गयी हैं जहाँ रोगग्रस्त, दुर्बल और कसाइयों से मोल ली हुई गोमाताओं का पालन किया जाता है।

स्वामीजी—बड़ी प्रशंसनीय बात है। सभा की आय कैसे होती है?

प्रचारक—आप जैसे धर्मात्मा जनों की कृपा से जो कुछ प्राप्त होता है, उसी से सभा का कार्य चलता है।

स्वामीजी—आपकी नगद पूंजी कितनी है?

प्रचारक—मारवाड़ी वैश्य-सम्प्रदाय इस कार्य में विशेष सहायता देता है। वे इस सत्कार्य में बहुतसा धन प्रदान करते हैं।

स्वामीजी—मध्य-भारत में इस वर्ष भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा है। भारत सरकार ने घोषित किया है कि नौ लाख लोग अन्नकष्ट से मर गये हैं। क्या आपकी सभा ने इस दुर्भिक्ष में कोई सहायता करने का आयोजन किया था ?

प्रचारक—हम दुर्भिक्षादि में कुछ सहायता नहीं करते। केवल गोमाता की रक्षा करने के उद्देश्य से यह सभा स्थापित हुई है।

स्वामीजी—आपके देखते देखते इस दुर्भिक्षादि में आपके लाखों भाई कराल काल के चंगुल में फँस गये। आप लोगों के पास बहुत नगद रुपया जमा होते हुए भी क्या उनको एक मुट्ठी अन्न देकर इस भीषण दुर्दिन में उनकी सहायता करना उचित नहीं समझा गया ?

प्रचारक—नहीं, मनुष्य के कर्मफल अर्थात् पापों से यह दुर्भिक्ष पड़ा था। उन्होंने कर्मानुसार फलभोग किया। जैसे कर्म हैं वैसा ही फल हुआ है।

प्रचारक की बात सुनते ही स्वामीजी के क्रोध की ज्वाला भड़क उठी और ऐसा मालूम होने लगा कि उनके नयनप्रान्त से अग्निकण स्फुरित हो रहे हैं। परन्तु अपने को सम्भालकर वे बोले, "जो सभा-समिति मनुष्यों से सहानुभूति नहीं रखती, अपने भाइयों को बिना अन्न मरते देखकर भी उनकी रक्षा के निमित्त एक मुट्ठी अन्न से सहायता करने को उद्यत नहीं होती, तथा पशु-पक्षियों के निमित्त हजारों रुपये व्यय कर रही है, उस सभा-समिति से मैं लेशमात्र भी सहानुभूति नहीं रखता। उससे मनुष्यसमाज का विशेष कुछ उपकार होना असम्भव सा जान पड़ता है। 'अपने कर्मफल से मनुष्य मरते हैं !' इस प्रकार सब बातों में कर्मफल का आश्रय लेने से किसी विषय में जगत् में कोई भी उद्योग करना

व्यर्थ है। यदि यह प्रमाण स्वीकार कर लिया जाय तो पशु-रक्षा का काम भी इसी के अन्तर्गत आता है। तुम्हारे पक्ष में भी कहा जा सकता है कि गोमाताएँ अपने कर्मफल से कसाइयों के पास पहुँचती हैं और मारी जाती हैं—इससे उनकी रक्षा का उद्योग करने का कोई प्रयोजन नहीं है।"

प्रचारक कुछ लज्जित होकर बोले—"हाँ महाराज, आपने जो कहा वह सत्य है, परन्तु शास्त्र में लिखा है कि गौ हमारी माता है।"

स्वामीजी हँसकर बोले—"जी हाँ, गौ हमारी माता है यह मैं भलीभाँति समझता हूँ। यदि यह न होती तो ऐसी कृतकृत्य सन्तान और दूसरा कौन प्रसव करता ?"

प्रचारक इस विषय पर और कुछ नहीं बोले। शायद स्वामीजी की हँसी प्रचारक की समझ में नहीं आयी। आगे स्वामीजी से उन्होंने कहा, "इस समिति की ओर से आपके सम्मुख भिक्षा के लिए उपस्थित हुआ हूँ।"

स्वामीजी—मैं साधु-संन्यासी हूँ। रुपया मेरे पास कहाँ है कि मैं आपकी सहायता करूँ? परन्तु यह भी कहता हूँ कि यदि कभी मेरे पास धन आये तो मैं प्रथम उस धन को मनुष्यसेवा में व्यय करूँगा। सब से पहले मनुष्य की रक्षा आवश्यक है—अन्नदान, धर्मदान, विद्यादान करना पड़ेगा। इन कामों को करके यदि कुछ रुपया बचेगा तो आपकी समिति को कुछ दूँगा।

इन बातों को सुनकर प्रचारक स्वामीजी को अभिवादन करके चले गये। तब स्वामीजी हमसे कहने लगे, "देखो कैसे अचम्भे की बात उन्होंने बतलायी! कहा कि मनुष्य अपने कर्मफल से मरता है, उस पर दया करने से क्या होगा? हमारे देश के पतन का

अनुमान इसी बात से किया जा सकता है। तुम्हारे हिन्दूधर्म का कर्मवाद कहाँ जाकर पहुँचा ? जिस मनुष्य का मनुष्य के लिए जी नहीं दुखता वह अपने को मनुष्य कैसे कहता है ?" इन बातों को कहने के साथ ही स्वामीजी का शरीर क्षोभ और दुःख से सनसना उठा।

इसके पश्चात् शिष्य से बोले---फिर कभी हमसे भेंट करना।

शिष्य---आप कहाँ विराजियेगा ? सम्भव है कि आप किसी बड़े आदमी के स्थान पर ठहरेंगे, वहाँ हमको कोई घुसने भी न देगा।

स्वामीजी---इस समय तो मैं कभी आलमबाजार के मठ में, कभी काशीपुर में गोपाललाल शील की बगीचे वाली कोठी में रहूँगा, तुम वहाँ आ जाना।

शिष्य---महाराज, बड़ी इच्छा है कि एकान्त में आपसे वार्तालाप करूँ।

स्वामीजी---बहुत अच्छा, किसी दिन रात्रि में आ जाओ, वेदान्त की चर्चा होगी।

शिष्य---महाराज, मैंने सुना है कि आपके साथ कुछ अंग्रेज और अमरीकन आये हैं। वे मेरे वस्त्रादिक के पहरावे और बातचीत से अप्रसन्न तो नहीं होंगे ?

स्वामीजी---वे भी तो मनुष्य हैं। विशेष करके वे वेदान्तधर्मनिष्ठ हैं। वे तुम्हारे समागम और सम्भाषण से आनन्दित होंगे।

शिष्य---महाराज, वेदान्त के अधिकारियों के लिए जो सब लक्षण होने चाहिए, वे आपके पाश्चात्य शिष्यों में कैसे विद्यमान हैं ? शास्त्र कहता है--'अधीतवेदवेदान्त, कृतप्रायश्चित्त, नित्य-

नैमित्तिक-कर्मानुष्ठानकारी,' 'आहार-विहार में परम संयमी, विशेष करके चतु:साधनसम्पन्न न होने से वेदान्त का अधिकारी नहीं बनता।' आपके पाश्चात्य शिष्यगण प्रथम तो ब्राह्मण नहीं हैं, दूसरे भोजनादिक में अनाचारी हैं, वे वेदान्तवाद कैसे समझ गये ?

स्वामीजी---वे वेदान्त को समझे या नहीं यह तुम उनसे मेल-मिलाप करने से ही जान जाओगे।

मालूम पड़ता है कि स्वामीजी अब तक समझ गये थे कि शिष्य एक निष्ठावान्, बाह्याचारप्रिय हिन्दू है।

इसके बाद स्वामीजी श्रीरामकृष्ण के भक्तों के साथ श्रीयुत बलराम बसुजी के स्थान को गये। शिष्य भी बटतले मुहल्ले से विवेकचूड़ामणि ग्रन्थ मोल लेकर दर्जीपाड़े में अपने घर की ओर चला गया।

परिच्छेद २

स्थान—कलकत्ते से काशीपुर जाने का रास्ता और गोपाललाल शील का बाग।

वर्ष—१८९७ ईसवी।

विषय—चेतना का लक्षण—जीवनसंग्राम में पटुता—मनुष्यजाति की जीवनीशक्ति-परीक्षा के निमित्त भी वही नियम—स्वयं को शक्तिहीन समझना ही भारत के जडत्व का कारण—प्रत्येक में अनन्त शक्तिस्वरूप आत्मा विद्यमान—इसीको दिखलाने और समझाने के लिए महापुरुषों का आगमन—धर्म अनुभूति का विषय—तीव्र व्याकुलता ही धर्मलाभ करने का उपाय—वर्तमान काल में गीतोक्त कर्म की आवश्यकता—गीताकार श्रीकृष्णजी के पूजन की आवश्यकता—देश में रजोगुण का उद्दीपन कराने का प्रयोजन।

आज मध्याह्न को स्वामीजी श्रीयुत गिरीशचन्द्र घोष * के मकान पर आराम कर रहे थे। शिष्य ने वहाँ आकर स्वामीजी को प्रणाम किया और उनको गोपाललाल शील के महल को जाने के लिए प्रस्तुत पाया। गाड़ी भी उपस्थित थी। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "मेरे साथ तू चल।" शिष्य के सम्मत होने पर स्वामीजी उसको लेकर गाड़ी में सवार हुए और गाड़ी चल दी। चितपुर के रास्ते पर पहुँचकर गंगादर्शन होते ही स्वामीजी अपने आपसे "गंगातरंग-रमणीय-जटाकलापम्" इत्यादि स्वर से कहने लगे। शिष्य मुग्ध होकर इस अद्भुत स्वर-लहरी को चुपचाप

---

* बंगाल के एक सुविख्यात नाटककार तथा नट एवं श्रीरामकृष्ण के एक परम भक्त।

सुनने लगा। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होने पर एक रेलगाड़ी के इंजन को चितपुर-पुल की ओर जाते देख स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "देखो कैसा सिंह की भाँति जा रहा है।" शिष्य ने कहा, "यह तो जड़ है, उसके पीछे मनुष्य की चेतना-शक्ति काम करती है और इसीसे वह चलता है। इस प्रकार चलने से क्या उसका अपना बल प्रकट होता है?"

स्वामीजी—अच्छा, बतलाओ तो चेतना का लक्षण क्या है?

शिष्य—महाराज, चेतना वही है जिसमें बुद्धि की क्रिया पायी जाती है।

स्वामीजी—जो कुछ प्रकृति के विरुद्ध लड़ाई करता है वह चेतना है। उसमें ही चैतन्य का विकास है। यदि एक चींटी को मारने लगो तो देखोगे कि वह भी अपनी जीवनरक्षा के लिए एक बार लड़ाई करेगी। जहाँ चेष्टा या पुरुषकार है, जहाँ संग्राम है, वहीं जीवन का चिह्न और चैतन्य का प्रकाश है।

शिष्य—क्या यही नियम मनुष्य और मनुष्यजाति के सम्बन्ध में भी ठीक है?

स्वामीजी—ठीक है या नहीं यह संसार का इतिहास पढ़कर देखो। यह नियम तुम्हारे अतिरिक्त सब जातियों के सम्बन्ध में ठीक है। आजकल संसार भर में केवल तुम्हीं जड़ के समान पड़े हो। तुमको बिलकुल मन्त्रमुग्ध (hypnotise) कर डाला है। बहुत प्राचीन समय से औरों ने तुमको बतलाया कि तुम हीन हो, तुममें कोई शक्ति नहीं है—और तुम भी यह सुनकर सहस्रों वर्षों से अपने को समझने लगे हो कि हम हीन हैं—निकम्मे है। ऐसा ध्यान करते-करते तुम वैसे ही बन गये हो। (अपना शरीर दिखलाकर) यह शरीर भी तो इसी देश की मिट्टी से बना है,

परन्तु मैंने कभी ऐसी चिन्ता नहीं की। देखो इसी कारण उसकी (ईश्वर की) इच्छा से जो हमको चिरकाल से हीन समझते हैं, उन्होंने ही मेरा देवता के समान सम्मान किया और करते हैं। यदि तुम भी सोच सको कि हमारे अन्दर अनन्त शक्ति, अपार ज्ञान, अदम्य उत्साह वर्तमान है, और अपने भीतर की शक्ति को जगा सको तो तुम भी मेरे समान हो जाओगे।

शिष्य—महाराज, ऐसा चिन्तन करने की शक्ति कहाँ से मिले? ऐसा शिक्षक या उपदेशक कहाँ मिले जो लड़कपन से ही इन बातों को सुनाता और समझाता रहे! हमने तो सब से यही सुना और सीखा कि आजकल का पठनपाठन केवल नौकरी के निमित्त है।

स्वामीजी—इसीलिए दूसरे प्रकार से सिखलाने और दिखलाने को हम आये हैं। तुम इस तत्त्व को हमसे सीखो, समझो और अनुभव करो। फिर इस भाव को नगर नगर में, गाँव गाँव में पुरवे-पुरवे में फैला दो; सब के पास जा जाकर कहो, "उठो, जागो और सोओ मत; सम्पूर्ण अभाव और दुःख नष्ट करने की शक्ति तुम्हीं में है; इस बात पर विश्वास करने ही से वह शक्ति जाग उठेगी।" इस बात को सब से कहो और साथ साथ सरल भाषा में विज्ञान, दर्शन, भूगोल और इतिहास की मूल बातों को सर्वसाधारण में फैला दो। मेरा यह विचार है कि मैं अविवाहित नवयुवकों को लेकर एक शिक्षा-केन्द्र स्थापित करूँ। पहले उनको शिक्षा दूँ, तत्पश्चात् उनके द्वारा इस कार्य का प्रचार कराऊँ।

शिष्य—महाराज, इस कार्य के लिए तो बहुत धन की अपेक्षा है। और रुपया कहाँ से आयेगा?

स्वामीजी—अरे तू क्या कहता है? मनुष्य ही तो रुपया पैदा

करता है। रुपये से मनुष्य पैदा होता है यह भी कभी कहीं सुना है? यदि तू अपने मन और मुख को एक कर सके तथा वचन और क्रिया को एक कर सके तो धन आप ही तेरे पास जलवत् बह आयेगा।

शिष्य——अच्छा महाराज, माना कि धन आ गया और आपने भी इस सत्कार्य का अनुष्ठान कर दिया। तब भी क्या हुआ? इसके पूर्व कितने ही महापुरुष कितने सत्कार्यों का अनुष्ठान कर गये, वे सब (सत्कार्य) अब कहाँ हैं! यह निश्चय है कि आपके भी प्रतिष्ठित कार्य की भविष्य में ऐसी ही दशा होगी। तो ऐसे उद्यम की आवश्यकता ही क्या है?

स्वामीजी——भविष्य में क्या होगा, इसी चिन्ता में जो सर्वदा रहता है उससे कोई कार्य नहीं हो सकता। इसलिए जिस बात को तू यह समझता है कि वह सत्य है उसे अभी कर डाल; भविष्य में क्या होगा, क्या नहीं होगा इसकी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? तनिक सा तो जीवन है; यदि इसमें भी किसी कार्य के लाभालाभ का विचार करते रहें तो क्या उस कार्य का होना सम्भव है? फलाफल देने वाले तो एकमात्र वे ईश्वर हैं। जैसा उचित होगा वैसा ही वे करेंगे। इस विषय में पड़ने से तेरा क्या प्रयोजन है? तू उस विषय की चिन्ता न कर और अपना काम किये जा।

बातें करते करते गाड़ी कोठी पर जा पहुँची। कलकत्ते से बहुत से लोग स्वामीजी के दर्शन के लिए वहाँ आये थे। स्वामीजी गाड़ी से उतरकर कमरे में जा बैठे और सब से बातचीत करने लगे। स्वामीजी के अंग्रेज शिष्य गुडविन साहब मूर्तिमान सेवा की भाँति पास ही खड़े थे। इनके साथ शिष्य का परिचय पहले

ही हो चुका था, इसीलिए शिष्य भी उनके पास ही बैठ गया और दोनों मिलकर स्वामीजी के विषय में नाना प्रकार का वार्तालाप करने लगे।

सन्ध्या होने पर स्वामीजी ने शिष्य को बुलाकर पूछा, "क्या तूने कठोपनिषद् कण्ठस्थ कर लिया है?"

शिष्य—नहीं महाराज, मैंने शांकरभाष्य के सहित उसका पाठ मात्र किया है।

स्वामीजी—उपनिषदों में ऐसा सुन्दर ग्रन्थ और कोई नहीं है। मैं चाहता हूँ कि तू इसे कण्ठस्थ कर ले। नचिकेता के समान श्रद्धा, साहस, विचार और वैराग्य अपने जीवन में लाने की चेष्टा कर, केवल पढ़ने मात्र से क्या होगा?

शिष्य—ऐसी कृपा कीजिये कि दास को भी उस सब का अनुभव हो जाय।

स्वामीजी—तुमने तो श्रीरामकृष्ण का कथन सुना है? वे कहा करते थे कि "कृपारूपी वायु सर्वदा बहती रहती है, तू पाल उठा क्यों नहीं देता?" रे बच्चा, क्या कोई किसी को कुछ कर दे सकता है? गुरु तो केवल यही बता देते हैं कि अपना कर्म अपने ही हाथ में है। बीज ही की शक्ति से वृक्ष होता है। जल-वायु तो उसके सहायक मात्र होते हैं।

शिष्य—तो देखिये महाराज, बाहर की सहायता भी आवश्यक है?

स्वामीजी—हाँ, है। परन्तु बात यह है कि भीतर पदार्थ न रहने से सैकड़ों प्रकार की सहायता से भी कुछ फल नहीं होता। और आत्मानुभूति के लिए एक अवसर सभी को मिलता है, क्योंकि सभी ब्रह्म हैं। ऊँच नीच का भेद ब्रह्मविकास के तारतम्य

मात्र से होता है। समय आने पर सभी का पूर्ण विकास होता है। इसीलिए शास्त्र में कहा है "कालेनात्मनि विन्दति।"

शिष्य---महाराज, ऐसा कब होगा ? शास्त्र से जान पड़ता है कि हमने बहुत जन्म अज्ञान में बिताये हैं।

स्वामीजी---डर क्या है ? अब जब तू यहाँ आ गया है तब इसी जन्म में तेरी इच्छा पूरी हो जायगी। मुक्ति, समाधि ये सब ब्रह्मप्रकाश के पथ पर के प्रतिबन्ध को केवल दूर करने के लिए होते हैं, क्योंकि आत्मा सूर्य के समान सर्वदा ही चमकती है। केवल अज्ञानरूपी बादल ने उसे ढक लिया है। यह भी हट जायगा और सूर्य का प्रकाश होगा। तभी 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' ऐसी अवस्था होगी। जितने पथ देखते हो वे सब इस प्रतिबन्धरूपी बादल को दूर करने का उपदेश देते हैं। जिसने जिस भाव से आत्मानुभव किया है वह उसी भाव से उपदेश कर गया है, परन्तु सब का उद्देश्य है आत्मज्ञान---आत्मदर्शन। इममें सब जातियों को, सब प्राणियों को समान अधिकार है। यही सर्ववादि-सम्मत मत है।

शिष्य---महाराज, शास्त्र के इस वचन को जब मैं पढ़ता हूँ या सुनता हूँ तब आत्मवस्तु अभी तक प्रत्यक्ष न होने के कारण मन वहुत ही चंचल हो जाता है।

स्वामीजी---"इसीको 'व्याकुलता' कहते हैं। यह जितनी बढ़ेगी प्रतिबन्धरूपी बादल उतना ही नष्ट होगा, उतना ही श्रद्धाजनित समाधान प्राप्त होगा। शनैः शनैः आत्मा 'करतला-मलकवत्' प्रत्यक्ष होगी। अनुभूति ही धर्म का प्राण है। कुछ कुछ आचार तथा नियम सब मान सकते हैं। कुछ विधि और नियम पालन भी सब कर सकते हैं, परन्तु अनुभूति के लिए कितने लोग व्याकुल होते हैं ? व्याकुलता, ईश्वरलाभ या आत्मज्ञान के निमित्त

उन्मत्त होना ही यथार्थ धर्मप्रवणता है। भगवान् श्रीकृष्ण के लिए गोपियों की जैसी उद्दाम उन्मत्तता थी, वैसी ही आत्मदर्शन के लिए होनी चाहिए। गोपियों के मन में भी स्त्री-पुरुष का भेद कुछ कुछ था, परन्तु ठीक ठीक आत्मज्ञान में लिंगभेद किंचित् नहीं रहता।" बात करते हुए स्वामीजी ने जयदेव लिखित 'गीत-गोविन्द' के विषय में कहा, "श्री जयदेव संस्कृत भाषा के अन्तिम कवि थे। उन्होंने कई स्थानों में भाव की अपेक्षा श्रुति-मधुर पदविन्यास पर अधिक ध्यान दिया है। देखो, गीत गोविन्द के 'पतति पतत्रे'* इत्यादि श्लोकों में कवि ने अनुराग तथा व्याकुलता की पराकाष्ठा दिखलायी है।" आत्मदर्शन के लिए वैसा ही अनुराग होना चाहिए।

फिर वृन्दावन-लीला को छोड़कर यह भी देखो कि कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण कैसे हृदयग्राही हैं---ऐसे भयानक युद्ध-कोलाहल में भी श्रीकृष्ण भगवान् कैसे स्थिर, गम्भीर तथा शान्त हैं। युद्धक्षेत्र में ही अर्जुन को गीता का उपदेश दे रहे हैं। क्षत्रिय का स्वधर्म जो युद्ध है उसी में उनको उत्साहित कर रहे हैं।

इस भयंकर युद्ध के प्रवर्तक होकर भी कैसे कर्महीन रहे, अस्त्र धारण नहीं किया। जिधर से देखोगे श्रीकृष्ण चरित्र को सर्वांग-सम्पूर्ण पाओगे। ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग इन सब के वे मानो प्रत्यक्ष स्वरूप ही हैं। श्रीकृष्ण के इसी भाव की आजकल विशेष आलोचना होनी चाहिए। अब वृन्दावन के बंशीधारी कृष्ण के ध्यान करने से कुछ नहीं बनेगा, इससे जीव का उद्धार नहीं

* पतति पतत्रे विचलति पत्रे शकितभवदुपयानम्।
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम्॥

-गीत-गोविन्दम्।

होगा। अब प्रयोजन है गीता के सिंहनादकारी श्रीकृष्ण की, धनुष-धारी श्रीरामचन्द्रजी की, महावीरजी की, कालीमाई की पूजा की। इसीसे लोग महा उद्यम से कर्म में लगेंगे और शक्तिशाली बनेंगे। मैंने बहुत अच्छी तरह विचार करके देखा है कि वर्तमान काल में जो धर्म की रट लगा रहे हैं, उनमें से बहुत लोग पाशवी दुर्बलता से भरे हुए हैं या विकृतमस्तिष्क अथवा उन्मादग्रस्त हैं। बिना रजोगुण के तेरा अब इहलोक भी नहीं—परलोक भी नहीं। घोर तमोगुण से देश भर गया है। फल भी उसका वही हो रहा है—इस जीवन में दासत्व और पर जीवन में नरक।

शिष्य—पाश्चात्यों में जो रजोभाव है उसे देखकर क्या आपको आशा है कि वे भी सात्त्विक बनेंगे ?

स्वामीजी—निश्चय बनेंगे, निःसन्देह बनेंगे। महारजोगुण का आश्रय लेने वाले वे अब भोगावस्था की चरम सीमा में पहुँच गये हैं। उनको योग प्राप्त नहीं होगा तो क्या तुम्हारे समान भूखे, उदर के निमित्त मारे मारे फिरने वालों को होगा ? उनके उत्कृष्ट भोगों को देख 'मेघदूत' के 'विद्युद्वन्तं ललितवसनाः' इत्यादि चित्र का स्मरण होता है। तुम्हारे भोग में क्या है ? केवल गन्दे मकान में रहना, फटे पुराने चिथड़ों पर सोना और प्रतिवर्ष शूकर के समान अपना वंश बढ़ाना—भूखे, भिखमंगे तथा दासों को जन्म देना ! इसी कारण मैं कहता हूँ कि अब मनुष्यों में रजोगुण उद्दीपन कराके उनको कर्मशील करना पड़ेगा। कर्म-कर्म-कर्म, अब 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। इसको छोड़ उद्धार का अन्य कोई भी पथ नहीं है।

शिष्य—महाराज, क्या हमारे पूर्वज भी कभी रजोगुण-सम्पन्न थे ?

स्वामीजी—क्यों नहीं ? इतिहास तो बतलाता है कि उन्होंने अनेक देशों पर विजय प्राप्त की और वहाँ उपनिवेश भी स्थापित किये। तिब्बत, चीन, सुमात्रा, जापान तक धर्मप्रचारकों को भेजा था। बिना रजोगुण का आश्रय लिये उन्नति का कोई भी उपाय नहीं है।

कथाप्रसंग में रात्रि बढ़ गयी। इतने में कु० मूलर आ पहुँचीं। यह एक अंग्रेज़ महिला थीं। स्वामीजी पर विशेष श्रद्धा रखती थीं। कुछ बातचीत करके कुमारी मूलर ऊपर चली गयीं।

स्वामीजी—देखता है यह कैसी वीर जाति की है : बड़े धनवान की लड़की है, तब भी धर्मलाभ के लिए सब कुछ छोड़कर कहाँ आ पहुँची है !

शिष्य—हाँ महाराज, परन्तु आपका क्रियाकलाप और भी अद्‌भुत है। कितने ही अंग्रेज़ पुरुष और महिलाएँ आपकी सेवा के लिए सर्वदा उद्यत हैं। आजकल यह बड़ी आश्चर्यजनक बात प्रतीत होती है।

स्वामीजी—(अपने शरीर की ओर संकेत करके) यदि शरीर रहा तो कितने ही और आश्चर्य देखोगे। कुछ उत्साही और अनुरागी युवक मिलने से मैं देश को उलट-पलट कर दूँगा। मद्रास में ऐसे थोड़े युवक हैं, परन्तु बंगाल देश से मुझे विशेष आशा है। ऐसे स्वच्छ मस्तिष्क वाले और कहीं नहीं पैदा होते; किन्तु इनके शरीर में शक्ति नहीं है। मस्तिष्क और मांस-पेशियों का बल साथ ही बढ़ना चाहिए। बलवान् शरीर के साथ तीव्र बुद्धि हो तो सारा जगत् पदानत हो सकता है।

इतने में समाचार मिला कि स्वामीजी का भोजन तैयार है। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "मेरा भोजन देखने चल।" जब स्वामीजी भोजन पा रहे थे तब वे कहने लगे, "बहुत चर्बी और तेल

से पका हुआ भोजन अच्छा नहीं होता है। पूरी से रोटी अच्छी होती है। पूरी रोगियों का खाना है। नया शाक अधिक प्रमाण में खाना चाहिए। मिठाई कम खानी चाहिए।" इन बातों को कहते कहते शिष्य से पूछा, "अरे, कई रोटियाँ मैंने खा लीं ! क्या और भी खाना चाहिए ?" कितनी रोटी खाई यह स्मरण नहीं रहा, और यह भी अनुमान नहीं हो सका कि भूख है या नहीं। बातों में शरीर-ज्ञान ऐसा जाता रहा।

और कुछ पाकर स्वामीजी ने अपना भोजन समाप्त किया। शिष्य भी आज्ञा पाकर कलकत्ते को लौटा। गाड़ी न मिलने से पैदल ही चला। चलते चलते विचार करने लगा कि, न जाने कल कब तक स्वामीजी के दर्शन पाऊँगा।

परिच्छेद ३

स्थान—काशीपुर, स्व० गोपाललाल शील का उद्यान

वर्ष—१८९७ ईस्वी

विषय—स्वामीजी में अद्भुत शक्ति का विकास—स्वामीजी के दर्शन के निमित्त कलकत्ते के अन्तर्गत बड़े बाजार के हिन्दुस्तानी पण्डितों का आगमन—पण्डितों के साथ संस्कृत भाषा में स्वामीजी का शास्त्रालाप—स्वामीजी के सम्बन्ध में पण्डितों की धारणा—स्वामीजी से उनके गुरुभाइयों की प्रीति—सभ्यता किसे कहते हैं—भारत की प्राचीन सभ्यता का विशेषत्व—श्रीरामकृष्णदेव के आगमन से प्राच्य तथा पाश्चात्य सभ्यता के सम्मेलन से एक नवीन युग का आविर्भाव—पाश्चात्य देश में धार्मिक लोगों के बाह्य चालचलन के सम्बन्ध में विचार—भावसमाधि तथा निर्विकल्प समाधि की विभिन्नता—श्रीरामकृष्ण भावराज्य के अधिराज—ब्रह्मज्ञ पुरुष ही यथार्थ में लोकगुरु—कुलगुरु प्रथा की अपकारिता—धर्म की ग्लानि दूर करने को ही श्रीरामकृष्ण का आगमन—पाश्चात्य जगत् में स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण का किस प्रकार से प्रचार किया।

स्वामीजी विलायत से प्रथम बार लौटकर कुछ दिन तक काशीपुर में स्व० गोपाललाल शील के उद्यान में विराजे शिष्य का उस समय वहाँ प्रतिदिन आना-जाना रहता था। स्वामीजी के दर्शन के निमित्त केवल शिष्य ही नहीं वरन् और बहुत से उत्साही युवकों की वहाँ भीड़ रहती थी। कुमारी मूलर ने स्वामीजी के साथ आकर प्रथम वहीं अवस्थान किया था। शिष्य के गुरुभाई गुडविन साहब भी इसी उद्यान वाटिका में स्वामीजी के साथ रहते थे।

उस समय स्वामीजी का यश भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल रहा था। इसी कारण कोई कौतुकाविष्ट होकर, कोई धर्मतत्त्व पूछने के निमित्त और कोई स्वामीजी के ज्ञान की परीक्षा लेने को उनके पास आता था।

शिष्य ने देखा कि प्रश्न करनेवाले लोग स्वामीजी के शास्त्र-व्याख्यानों को सुनकर मोहित हो जाते थे और उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से बड़े बड़े दार्शनिक और विश्वविद्यालयों के प्रसिद्ध पण्डितगण विस्मित हो जाते थे; मानो स्वामीजी के कण्ठ में स्वयं सरस्वती माता ही विराजमान हैं। इसी उद्यान में रहते समय उनकी अलौकिक योगदृष्टि का परिचय समय समय पर होता रहता था। *

कलकत्ते के बड़े बाजार में बहुत से पण्डित लोग रहते हैं, जिनका प्रतिपालन मारवाड़ियों के अन्न से ही होता है। इन सब वेदज्ञ एवं दार्शनिक पण्डितों ने भी स्वामीजी की कीर्ति सुनी थी। इनमें से कुछ प्रसिद्ध पण्डित लोग स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के निमित्त एक दिन इस बाग में आ पहुँचे। शिष्य उस दिन वहाँ उपस्थित था। आये हुए पण्डितों में से प्रत्येक धाराप्रवाह संस्कृत भाषा में वार्तालाप कर सकता था। उन्होंने आते ही मण्डलीवेष्टित स्वामीजी का सत्कार कर संस्कृत भाषा में उनसे वार्तालाप आरम्भ किया। स्वामीजी ने भी संस्कृत ही में उत्तर दिया। उस दिन

* इस बगीचे में रहते समय स्वामीजी ने एक छिन्नमुण्ड प्रेत देखा था। वह मानो करुण स्वर से उस दारुण यन्त्रणा से मुक्त करने के लिए प्रार्थना करता था। अनुसन्धान से स्वामीजी को मालूम हुआ कि वास्तव में उसी बगीचे में किसी आकस्मिक घटना से एक ब्राह्मण की मृत्यु हुई थी। स्वामीजी ने यह घटना बाद में अपने गुरुभाइयों को बतलायी थी।

कौनसे विषय पर पण्डितों का वाद-विवाद हुआ था यह अब शिष्य को स्मरण नहीं है, परन्तु यह जान पड़ता है कि लगभग सभी पण्डितों ने एक स्वर से चिल्लाकर संस्कृत में दर्शनशास्त्रों के कूट प्रश्न किये और स्वामीजी ने शान्ति तथा गम्भीरता के साथ धीरे धीरे उन सभी विषयों पर अपने सिद्धान्तों को कहा। यह भी अनुमान होता है कि स्वामीजी की संस्कृत भाषा पण्डितों की भाषा से सुनने में अधिक मधुर तथा सरस थी। पण्डितों ने भी बाद में इस बात को स्वीकार किया।

उस दिन संस्कृत भाषा में स्वामीजी का ऐसा धाराप्रवाह वार्तालाप सुनकर उनके सब गुरुभाई भी मुग्ध हो गये थे, क्योंकि वे जानते थे कि छः वर्ष यूरोप और अमरीका में रहने से स्वामीजी को संस्कृत भाषा की आलोचना करने का कोई अवसर नहीं मिला। शास्त्रदर्शी पण्डितों के साथ उस दिन स्वामीजी के ऐसे विचार सुनकर उन्होंने समझा कि स्वामीजी में अद्‌भुत शक्ति प्रकट हुई है। उसी सभा में श्री रामकृष्णानन्द, योगानन्द, निर्मलानन्द, तुरीयानन्द और शिवानन्द स्वामी भी उपस्थित थे।

इस विचार में स्वामीजी ने सिद्धान्तपक्ष को ग्रहण किया था और पण्डितों ने पूर्वपक्ष को लिया था। शिष्य को स्मरण है कि स्वामीजी ने एक स्थान पर 'अस्ति' के वदले 'स्वस्ति' का प्रयोग कर दिया था, इस पर पण्डित लोग हँस पड़े। पर स्वामीजी ने तत्क्षण कहा, "पण्डितानां दासोऽहं क्षन्तव्यमेतत् स्खलनम्" अर्थात् मैं पण्डितों का दास हूँ, व्याकरण की इस त्रुटि को क्षमा कीजिये। स्वामीजी की ऐसी नम्रता से पण्डित लोग मुग्ध हो गये। बहुत वादानुवाद के पश्चात् पण्डितों ने सिद्धान्तपक्ष की मीमांसा को ही यथेष्ट कहकर स्वीकार किया और स्वामीजी से प्रीतिपूर्वक

सम्भाषण करके वापस जाना निश्चित किया। उपस्थित लोगों में से दो चार लोग पण्डितों के पीछे पीछे गये और उनसे पूछा, "महाराज, आपने स्वामीजी को कैसा समझा ?" उनमें से जो एक वृद्ध पण्डित थे उन्होंने उत्तर दिया, "व्याकरण में गम्भीर बोध न होने पर भी स्वामीजी शास्त्रों के गूढ़ अर्थ समझने वाले हैं; मीमांसा करने में उनके समान दूसरा कोई नहीं है और अपनी प्रतिभा से वादखण्डन में उन्होंने अद्भुत पाण्डित्य दिखलाया।"

स्वामीजी पर उनके गुरुभाइयों का सर्वदा कैसा अद्भुत प्रेम पाया जाता था ! जब पण्डितों से स्वामीजी का वादानुवाद हो रहा था तब शिष्य ने स्वामी रामकृष्णानन्दजी को एकान्त में बैठे जप करते हुए पाया। पण्डितों के चले जाने पर शिष्य ने इसका कारण पूछने से उत्तर पाया कि स्वामीजी की विजय के लिए वे श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना कर रहे थे।

पण्डितों के जाने के बाद शिष्य ने स्वामीजी से सुना था कि वे पण्डित पूर्वमीमांसा-शास्त्र में निष्णात थे। स्वामीजी ने उत्तर-मीमांसा का अवलम्बन कर ज्ञानकाण्ड की श्रेष्ठता प्रतिपादन की थी—और पण्डित लोग भी स्वामीजी के सिद्धान्त को स्वीकार करने को बाध्य हुए थे।

व्याकरण की छोटी छोटी त्रुटियों के कारण पण्डितों ने स्वामीजी की जो हँसी की थी, उस पर स्वामीजी ने कहा था कि कई वर्ष संस्कृत भाषा में वार्तालाप न करने से ऐसी भूल हुई थी, इस कारण स्वामीजी ने पण्डितों पर कुछ भी दोष नहीं लगाया। परन्तु उन्होंने यह भी कहा था—"पाश्चात्य देश में वाद—तर्क —के मूल विषयों को छोड़कर भाषा की छोटी-मोटी भूलों पर ध्यान देना बड़ी असभ्यता समझी जाती है। सभ्य समाज मूल

विषय का ही ध्यान रखते हैं—भाषा का नहीं। परन्तु तेरे देश के सब लोग छिलके पर चिपटे रहते हैं और सार वस्तु का सन्धान ही नहीं लेते।" इतना कहकर स्वामीजी ने उस दिन शिष्य से संस्कृत में वार्तालाप आरम्भ किया; शिष्य ने भी येनकेनप्रकारेण संस्कृत में ही उत्तर दिया। शिष्य का भाषाप्रयोग ठीक न होने पर भी उसको उत्साहित करने के लिए स्वामीजी ने उसकी प्रशंसा की। तब से शिष्य स्वामीजी की इच्छानुसार उनसे बीच-बीच में देवभाषा में ही वार्तालाप करता था।

'सभ्यता' किसे कहते हैं?—इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि जो समाज या जो जाति आध्यात्मिक विषय में जितनी आगे बढ़ी है, वह समाज या वह जाति उतनी ही सभ्य कही जाती है। भाँति भाँति के अस्त्र-शस्त्र तथा शिल्पगृह निर्माण करके इस जीवन के सुख तथा समृद्धि को बढ़ानेवाली जाति को ही सभ्य नहीं कह सकते। आजकल की पाश्चात्य सभ्यता लोगों में दिन प्रतिदिन अभाव और 'हाय हाय' को ही बढ़ा रही है। भारत की प्राचीन सभ्यता सर्वसाधारण को आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग दिखलाकर यद्यपि उनके इस जीवन के अभाव को पूर्ण रूप से नष्ट न कर सकी तो भी उसको बहुत कम करने में निःसन्देह समर्थ हुई थी। इस युग में इन दोनों सभ्यताओं का संयोग कराने के लिए भगवान श्रीरामकृष्ण ने जन्म लिया है। आजकल जैसे लोग कर्मतत्पर बनेंगे वैसा ही उनको गम्भीर आध्यात्मिक ज्ञान का भी लाभ करना होगा। इसी प्रकार से भारतीय और पाश्चात्य सभ्यताओं का मेल होने से संसार में नये युग का उदय होगा। इन बातों को उस दिन स्वामीजी ने विशेष रूप से समझाया। बातों बातों में ही पाश्चात्य देश के एक विषय का स्वामीजी ने

उल्लेख किया था। वहाँ के लोग विचार करते हैं कि जो मनुष्य जितना धर्मपरायण होगा वह बाहरी चालचलन में उतना ही गम्भीर बनेगा; मुख से दूसरी बातों का प्रसंग भी न करेगा। परन्तु मेरे मुँह से उदार धर्मव्याख्यान सुनकर उस देश के धर्म-प्रचारक जैसे विस्मित होते थे वैसे ही वक्तृता के अन्त में मुझको अपने मित्रों से हास्यकौतुक करते देखकर भी आश्चर्यचकित होते थे। कभी ऐसा भी हुआ है कि उन्होंने मुझसे स्पष्ट कहा, "स्वामीजी, धर्मप्रचारक बनकर साधारण जन के समान ऐसा हास्य-कौतुक करना उचित नहीं है। आपमें ऐसी चपलता कुछ शोभा नहीं देती।" इसके उत्तर में मैं कहा करता था कि हम आनन्द की सन्तान हैं, हम क्यों उदास और दुःखी बने रहें ? इस उत्तर को सुनकर वे इसके मर्म को समझते थे या नहीं इसकी मुझे शंका है।

उस दिन स्वामीजी ने भावसमाधि और निर्विकल्प समाधि के विषय को भी नाना प्रकार से समझाया था। जहाँ तक सम्भव हो सका उसका पुनः वर्णन करने की चेष्टा की जा रही है।

अनुमान करो कि कोई ईश्वर की साधना कर रहा है और हनुमानजी का जैसा भगवान पर भक्तिभाव था, वैसे ही भक्ति-भाव को उसने ग्रहण किया है। अब जितना यह भाव गाढ़ा होता है, उस साधक के चाल-ढंग में भी, यहाँ तक कि शरीर की गठन में भी उतना ही वह भाव प्रकट होता है। 'जात्यन्तर परिणाम' इसी प्रकार से होता है। किसी एक भाव को ग्रहण करके साधना करने के साथ ही साधक उसी प्रकार आकार में बदल जाता है। किसी भाव की चरम अवस्था भावसमाधि कही जाती है। और 'मैं शरीर नहीं हूँ,' 'मन नहीं हूँ,' 'बुद्धि भी नहीं हूँ' इस प्रकार से 'नेति नेति' करते हुए ज्ञानी साधक जब अपनी चिन्मात्र सत्ता

में अवस्थान करते हैं, तब उस अवस्था को निर्विकल्प समाधि कहा जाता है। इस प्रकार के किसी एक भाव को ग्रहण कर उसकी सिद्धि होने में या उसकी चरम अवस्था पर पहुँचने में कितने ही जन्मों की चेष्टा की आवश्यकता होती है। भावराज्य के अधिराज श्रीरामकृष्ण कोई अठारह भिन्न भिन्न भावों से सिद्धिलाभ कर चुके थे। वे यह भी कहा करते थे कि यदि वे भावमुखी न रहते तो उनका शरीर न रहता।

भारतवर्ष में किस प्रणाली से कार्य करेंगे इसके सम्बन्ध में स्वामीजी ने कहा कि मद्रास और कलकत्ते में दो केन्द्र बनाकर सब प्रकार के लोककल्याण के लिए नये ढंग के साधु-संन्यासी बनायेंगे और यह भी कहा कि प्राचीन रीतियों के वृथा खण्डन से समाज तथा देश की उन्नति होना सम्भव नहीं है।

सभी कालों में प्राचीन रीतियों को नये ढंग में परिवर्तित करने से ही उन्नति हुई है। भारत में प्राचीन युग में भी धर्मप्रचारकों ने इसी प्रकार कार्य किया था। केवल बुद्धदेव के धर्म ने ही प्राचीन रीति और नीतियों का विध्वंस किया था। भारत से उसके निर्मूल हो जाने का यही कारण है।

शिष्य को स्मरण है कि स्वामीजी वार्तालाप करते हुए कहने लगे कि यदि किसी एक भी जीव में ब्रह्म का विकास हो तो सहस्रों मनुष्य उसी ज्योति से मार्ग देखकर आगे बढ़ते हैं। जो पुरुष ब्रह्मज्ञ होते हैं वे ही केवल लोकगुरु बन सकते हैं; यह बात शास्त्रों और युक्ति से प्रमाणित होती है। स्वार्थयुक्त ब्राह्मणों ने जो कुलगुरु प्रथा का प्रचार किया है वह वेद और शास्त्रों के विरुद्ध है। इसीलिए साधना करने पर भी लोग अब सिद्ध या ब्रह्मज्ञ नहीं होते। भगवान श्रीरामकृष्ण धर्म की यह सब ग्लानि

दूर करने के लिए शरीर धारण करके वर्तमान युग में इस संसार में अवतीर्ण हुए थे ! उनके प्रदर्शित सार्वभौमिक मत का प्रचार होने से ही जीव और जगत् का मंगल होगा। इनसे पूर्व सभी धर्मों को समन्वय करने वाले ऐसे अद्भुत आचार्य ने कई शताब्दियों से भारतवर्ष में जन्म नहीं लिया था।

इस बात पर स्वामीजी के एक गुरुभाई ने उनसे पूछा, "महाराज, पाश्चात्य देशों में आपने सब के सामने श्रीरामकृष्ण को अवतार कहकर क्यों नहीं प्रचार किया ?"

स्वामीजी—वे दर्शन और विज्ञान शास्त्रों पर बहुत ही अभिमान करते हैं। इसी कारण युक्ति, विचार, दर्शन और विज्ञान की सहायता से जब तक उनके ज्ञान का अहंकार न तोड़ा जाय, तब तक किसी विषय की वहाँ प्रतिष्ठा नहीं होती। तर्क-विचार से कुछ पता न लगने पर तत्त्व जानने के निमित्त सचमुच उत्सुक होकर जब वे मेरे पास आते थे, तब मैं उनसे श्रीरामकृष्ण की बात किया करता था। यदि पहले से ही उनसे अवतार-वाद का प्रसंग करता तो वे बोल उठते, "तुम नयी बात क्या सिखाते हो—हमारे प्रभु ईसा भी तो हैं।"

तीन चार घण्टे तक ऐसे आनन्द से समय बिताकर अन्यान्य लोगों के साथ शिष्य कलकत्ते को लौटा।

परिच्छेद ४

स्थान—श्रीयुत नवगोपाल घोष का भवन, रामकृष्णपुर, हावड़ा।

वर्ष—१८९७ (जनवरी, फरवरी)

विषय—नवगोपाल बाबू के भवन में श्रीरामकृष्ण की मूर्ति की प्रतिष्ठा—स्वामीजी की दीनता—नवगोपाल बाबू की सपरिवार श्रीरामकृष्ण में भक्ति—श्रीरामकृष्ण का प्रणाम मन्त्र।

श्रीरामकृष्ण के प्रेमी भक्त श्रीयुत नवगोपाल घोष ने भागीरथी के पश्चिम तट पर हावड़े के अन्तर्गत रामकृष्णपुर में एक नयी हवेली बनवायी है। इसके लिए जमीन मोल लेते समय इस स्थान का नाम रामकृष्णपुर सुनकर वे विशेष आनन्दित हुए थे, क्योंकि इस गाँव के नाम की उनके इष्टदेव के नाम के साथ एकता थी। मकान बनाने के थोड़े ही दिन पश्चात् स्वामीजी प्रथम बार विलायत से कलकत्ते को लौटकर आये थे। घोषजी और उनकी स्त्री की बड़ी इच्छा थी कि अपने मकान में स्वामीजी से श्रीराम-कृष्णमूर्ति की स्थापना करायें। कुछ दिन पहले, घोषजी ने मठ में जाकर स्वामीजी से अपनी इच्छा प्रकट की थी और स्वामीजी ने भी स्वीकार कर लिया था। इसी कारण आज नवगोपाल बाबू के गृह में उत्सव है। मठ के संन्यासी और श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ भक्त सब आज सादर निमन्त्रित हुए हैं। मकान भी आज ध्वजा और पताकाओं से सुशोभित है। फाटक पर सामने पूर्ण घट रक्खा गया है, कदली स्तम्भ रोपे गये हैं, देवदार के पत्तों के तोरण बनाये हैं और आम के पत्ते और पुष्पमाला की बन्दनवार

बाँधी गयी है। रामकृष्णपुर ग्राम आज 'जय रामकृष्ण' की ध्वनि से गूँज रहा है।

मठ से संन्यासी और बालब्रह्मचारीगण स्वामीजी को साथ लेकर तीन नावों को किराये पर लेकर रामकृष्णपुर के घाट पर उपस्थित हुए। स्वामीजी के शरीर पर एक गेरुआ वस्त्र था, सिर पर पगड़ी थी और पाँव नंगे थे। रामकृष्णपुर घाट से जिस मार्ग से होकर स्वामीजी नवगोपाल बाबू के घर जाने वाले थे, उसके दोनों ओर हजारों लोग उनके दर्शन के निमित्त खड़े हो गये। नाव से घाट पर उतरते ही स्वामीजी एक भजन गाने लगे जिसका आशय यह था—"वह कौन है जो दरिद्री ब्राह्मणी की गोद में चारों ओर उजाला करके सो रहा है? वह दिगम्बर कौन है, जिसने झोपड़ी में जन्म लिया है" इत्यादि। इस प्रकार गान करते और स्वयं मृदंग बजाते हुए वे आगे बढ़ने लगे। इसी अवसर पर दो तीन और भी मृदंग बजने लगे। साथ साथ सब भक्तजन एक ही स्वर से भजन गाते हुए उनके पीछे पीछे चलने लगे। उनके उद्दाम नृत्य और मृदंग की ध्वनि से पथ और घाट सब गूँज उठे। जाते समय यह मण्डली कुछ देर डाक्टर रामलाल बाबू के मकान के सामने खड़ी हुई। डाक्टर महाशय भी जल्दी से बाहर निकल आये और मण्डली के साथ चलने लगे। सब लोगों का यह विचार था कि स्वामीजी बड़ी सजधज और आडम्बर से आयेंगे—परन्तु मठ के अन्यान्य साधुओं के समान वस्त्र धारण किये हुए और नंगे पैर मृदंग बजाते हुए उनको जाते देखकर बहुत से लोग उनको पहचान ही न सके। जब औरों से पूछकर स्वामीजी का परिचय पाया तब वे कहने लगे, "क्या, यही विश्व-विजयी स्वामी विवेकानन्दजी हैं?" स्वामीजी की इस नम्रता

को देखकर सब एक स्वर से प्रशंसा करने और 'जय श्रीरामकृष्ण' की ध्वनि से मार्ग को गुँजाने लगे।

आदर्श गृहस्थ नवगोपाल बाबू का मन आनन्द से पूर्ण है और वे श्रीरामकृष्ण की सांगोपांग सेवा के लिए बड़ी सामग्री इकट्ठी कर चारों ओर दौड़-धूप कर रहे हैं। कभी कभी प्रेमानन्द में मग्न होकर 'जयराम जयराम' शब्द का उच्चारण कर रहे हैं। मण्डली के उनके द्वार पर पहुँचते ही, भीतर से शंखध्वनि होने लगी तथा घड़ियाल बजने लगे। स्वामीजी ने मृदंग को उतारकर बैठक में थोड़ा विश्राम किया। तत्पश्चात् ठाकुरघर देखने के लिए ऊपर दुमंजिले पर गये। यह ठाकुरघर श्वेतसंगमर्मर का था। बीच में सिंहासन के ऊपर श्रीरामकृष्ण की पोरसिलेन (चिनी) की बनी हुई मूर्ति विराजमान थी। हिन्दुओं में देव-देवी के पूजन के लिए जिन सामग्रियों की आवश्यकता होती है, उनके उपार्जन करने में कोई भी त्रुटि नहीं थी। स्वामीजी यह सब देखकर बड़े प्रसन्न हुए।

नवगोपाल बाबू की स्त्री ने अन्य स्त्रियों के साथ स्वामीजी को साष्टांग प्रणाम किया और पंखा झलने लगीं। स्वामीजी से सब सामग्री की प्रशंसा सुनकर गृहस्वामिनी उनसे बोलीं, "हमारी क्या शक्ति है कि श्रीगुरुदेव की सेवा का अधिकार हमको प्राप्त हो? गृह छोटा और धन सामान्य है। आप कृपा करके आज श्रीगुरुदेव की प्रतिष्ठा कर हमको कृतार्थ कीजिये।"

स्वामीजी ने इसके उत्तर में हास्यभाव से कहा, "तुम्हारे गुरुदेव तो किसी काल में भी ऐसे श्वेत-पत्थर के मन्दिर में चौदह पीढ़ी से नहीं बसे! उन्होंने तो गाँव के फूस की झोपड़ी में जन्म लिया था और येनकेनप्रकारेण अपने दिन व्यतीत किये। ऐसी उत्तम सेवा पर प्रसन्न होकर यदि यहाँ न बसेंगे तो फिर कहाँ?"

स्वामीजी की बात पर सब हँसने लगे। अब विभूति-भूषित स्वामीजी साक्षात् महादेवजी के समान पूजक के आसन पर बैठकर, श्रीरामकृष्ण का आवाहन करने लगे।

स्वामी प्रकाशानन्दजी स्वामीजी के निकट बैठकर मन्त्रादि उच्चारण करने लगे। क्रमशः पूजा सर्वांग सम्पूर्ण हुई और आरती का शंख, घण्टा बजा। स्वामी प्रकाशानन्दजी ने ही इसका सम्पादन किया।

आरती होने पर स्वामीजी ने उस पूजा-स्थान में बैठकर ही श्रीरामकृष्णदेव के एक प्रणाम मन्त्र की मौखिक रचना की।

" स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे।
अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः ॥"

सब लोगों ने इस श्लोक को पढ़कर प्रणाम किया। फिर शिष्य ने श्रीरामकृष्ण का एक स्तोत्र पाठ किया। इस प्रकार पूजा समाप्त हुई। इसके पश्चात् नीचे एकत्रित भक्त मण्डली ने कुछ भोजन करके गाना आरम्भ कर दिया। स्वामीजी ऊपर ही ठहरे। गृह की स्त्रियाँ स्वामीजी को प्रणाम करके धर्मविषयों पर उनसे नाना प्रश्न करने और उनका आशीर्वाद ग्रहण करने लगीं।

शिष्य इस परिवार को श्रीरामकृष्ण में लीन देखकर विस्मित हो खड़ा रहा और इनके सत्संग से अपना मनुष्यजन्म सफल मानने लगा। इसके बाद भक्तों ने प्रसाद पाकर आचमन किया और नीचे आकर थोड़ी देर के लिए विश्राम करने लगे। सायंकाल को वे छोटे छोटे दलों में विभक्त होकर अपने अपने घर लौटे। शिष्य भी स्वामीजी के साथ गाड़ी में रामकृष्णपुर के घाट तक गये। वहाँ से नाव में बैठकर बहुत आनन्द से नाना प्रकार का वार्तालाप करते हुए बागबाज़ार की ओर चले।

परिच्छेद ५

स्थान—दक्षिणेश्वर कालीमन्दिर और आलमबाज़ार मठ
वर्ष—१८९७ (मार्च)

विषय—दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण का अन्तिम जन्मोत्सव—धर्मराज्य में उत्संव तथा पर्व की आवश्यकता—अधिकारियों के भेदानुसार सब प्रकार के लोकव्यवहारों की आवश्यकता—किसी भी नवीन सम्प्रदाय का गठन न करना ही स्वामीजी के धर्मप्रचार का उद्देश्य।

जब स्वामीजी प्रथम बार इंग्लैण्ड से लौटे तब आलमबाज़ार में रामकृष्ण मठ था। जिस भवन में मठ था उसे लोग 'भूतभवन' कहते थे—परन्तु वहाँ संन्यासियों के सत्संग से यह भूतभवन रामकृष्ण तीर्थ में परिणत हो गया था। वहाँ के साधन-भजन, जप, तपस्या, शास्त्र-प्रसंग और नामकीर्तन का क्या ठिकाना था! कलकत्ते में राजाओं के समान सम्मान प्राप्त होने पर भी स्वामीजी उस टूटे-फूटे मठ में ही रहने लगे। कलकत्तानिवासियों ने उन पर श्रद्धान्वित होकर कलकत्ते की उत्तर दिशा काशीपुर में गोपाललाल शील के बाग में एक स्थान एक मास के लिए निर्धारित किया था। वहाँ भी स्वामीजी कभी कभी रहकर दर्शनोत्सुक लोगों से धर्मचर्चा करके उनके मन की इच्छा पूर्ण करने लगे।

श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव अब निकट है। इस वर्ष दक्षिणेश्वर, रानी रासमणि के काली मन्दिर में उत्सव के लिए काफी जोरों से तैयारी हुई हैं। प्रत्येक धर्मपिपासु मनुष्य के आनन्द और उत्साह की कोई सीमा नहीं है; रामकृष्ण-सेवकों का तो कहना

ही क्या है! इसका विशेष कारण यह है कि विश्वविजयी स्वामीजी श्रीरामकृष्ण की भविष्यवाणी को सफल करके इस वर्ष विलायत से लौट आये हैं। उनके सब गुरुभाई आज उनसे मिलकर श्रीरामकृष्ण के सत्संग का आनन्द अनुभव कर रहे हैं। माँ काली के मन्दिर की दक्षिण दिशा में प्रसाद बन रहा है। स्वामीजी कुछ गुरुभाइयों को अपने साथ लेकर नौ-दस बजे के लगभग आ पहुँचे। उनके पैर नंगे थे और सिर पर गेरुए रंग की पगड़ी थी। उनकी आनन्दित मूर्ति का दर्शन कर चरणकमलों का स्पर्श करने और उनके श्रीमुख से जाज्वल्य अग्निशिखा के सदृश कथाओं को सुनकर कृतार्थ होने के लिए लोग चारों ओर से आने लगे। इसी कारण आज स्वामीजी के विश्राम के लिए तनिक भी अवसर नहीं है। माँ काली के मन्दिर के सामने हजारों लोग एकत्रित हैं। स्वामीजी ने जगन्माता को भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया और उनके साथ ही साथ सहस्रों और लोगों ने भी उसी तरह वन्दना की। तत्पश्चात् श्रीराधाकान्तजी की मूर्ति को प्रणाम करके श्रीरामकृष्ण के वासगृह में पधारे। यहाँ ऐसी भीड़ हुई कि तिल भर स्थान शेष न रहा। काली मन्दिर की चारों दिशाएँ 'जय रामकृष्ण' शब्द से भर गयीं। होरमिलर (Hoarmiller) कम्पनी का जहाज लाखों दर्शकों को आज अपनी गोद में बिठाकर बराबर कलकत्ते से ला रहा है। नौबत आदि के मधुर स्वर पर सुरधुनी गंगा नृत्य कर रही है। मानो उत्साह, आकांक्षा, धर्मपिपासा और अनुराग साक्षात् देह धारणकर श्रीरामकृष्ण के पार्षदों के रूप में चारों ओर विराजमान हैं। इस वर्ष के उत्सव का अनुमान ही किया जा सकता है। भाषा में इतनी शक्ति कहाँ कि उसका वर्णन कर सके।

स्वामीजी के साथ आयी हुई दो अंग्रेज महिलाएँ उत्सव में

उपस्थित हैं। उनसे शिष्य अभी तक परिचित न था। स्वामीजी उनको साथ लेकर पवित्र पंचवटी और बिल्ववृक्ष को दिखला रहे थे। स्वामीजी से शिष्य का विशेष परिचय न होने पर भी उनके पीछे पीछे जाकर उत्सवविषयक स्वरचित एक संस्कृत स्तोत्र उनके हाथ में दिया। स्वामीजी भी उसे पढ़ते हुए पंचवटी की ओर चले। चलते चलते शिष्य की ओर देखकर बोले, "अच्छा लिखा है, तुम और भी लिखना।"

पंचवटी के एक ओर श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ भक्तगण एकत्रित हैं। गिरीशचन्द्र घोष पंचवटी की उत्तर दिशा में गंगा की ओर मुँह किये बैठे हैं और उनको घेरे बहुत से भक्त श्रीरामकृष्ण के गुणों के व्याख्यान और कथाप्रसंग में मग्न हुए बैठे हैं। इसी अवसर पर बहुत से लोगों के साथ साथ स्वामीजी गिरीशचन्द्रजी के पास उपस्थित हुए और "अरे! घोषजी यहाँ हैं!" यह कहकर उनको प्रणाम किया। गिरीशबाबू को पिछली बातों का स्मरण कराकर स्वामीजी बोले, "घोषजी, वह भी एक समय था और यह भी एक समय है।" गिरीशबाबू स्वामीजी से सहमत हो बोले, "हाँ, बहुत ठीक; किन्तु अभी तक मन चाहता है कि और भी देखूँ।" दोनों में जो ऐसा वार्तालाप हुआ, उसका गूढ़ अर्थ ग्रहण करने में और कोई समर्थ न हुआ। कुछ देर वार्तालाप कर स्वामीजी पंचवटी की उत्तर-पूर्व दिशा में जो बिल्ववृक्ष था, वहाँ चले गये। स्वामीजी के चले जाने पर गिरीशबाबू ने उपस्थित भक्तमण्डली को सम्बोधन करके कहा, "एक दिन हरमोहन मित्र ने संवाद-पत्र में पढ़कर मुझसे कहा था कि अमरीका में स्वामीजी के नाम पर निन्दा प्रकाशित की गयी है। मैंने तब उनसे कहा था कि यदि मैं अपनी आँखों से नरेन्द्र को कोई बुरा काम करते देखूँ

तो यह अनुमान करूँगा कि मेरी आँखों में विकार उत्पन्न हुआ है और उनको निकाल दूँगा। वे (नरेन्द्रादि) सूर्योदय से पहले निकाले हुए माखन के सदृश स्वच्छ और निर्मल हैं; क्या संसार-रूपी पानी में वे फिर घुल सकते हैं ? जो उनमें दोष निकालेगा वह नरक का भागी होगा।" यह वार्तालाप हो ही रहा था कि स्वामी निरंजनानन्दजी गिरीशबाबू के पास आये और कोलम्बो से कलकत्ते तक लौटने की घटना—किस प्रकार लोगों ने स्वामीजी का आदर और सत्कार किया और स्वामीजी ने अपनी वक्तृता में उनको कैसा अनमोल उपदेश दिया—आदि का वर्णन करने लगे। गिरीशबाबू इन बातों को सुनकर आश्चर्यचकित हो बैठे रहे।

उस दिन दक्षिणेश्वर के देवालय में इस प्रकार दिव्य भाव का प्रवाह बह रहा था! अब यह विराट जनसंघ स्वामीजी की वक्तृता को सुनने के लिए उद्ग्रीव होकर खड़ा हो गया। परन्तु अनेक चेष्टा करने पर भी स्वामीजी लोगों के कोलाहल की अपेक्षा ऊँचे स्वर से वक्तृता न दे सके। लाचार होकर उन्होंने इस उद्यम का परित्याग किया और दोनों अंग्रेज़ महिलाओं को साथ लेकर श्रीरामकृष्ण का साधना-स्थान दिखाने और उनके बड़े बड़े सांगो-पांग भक्तों से परिचय कराने लगे। धर्मशिक्षा के निमित्त ये दो अंग्रेज़ स्त्रियाँ बहुत दूर से स्वामीजी के साथ आयी हैं यह जानकर किसी किसी को बहुत आश्चर्य हुआ और वे स्वामीजी की अद्भुत-शक्ति की प्रशंसा करने लगे।

तीसरे पहर तीन बजे स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "एक गाड़ी लाओ, मठ को जाना है।" शिष्य आलमबाजार तक के लिए दो आने किराये पर एक गाड़ी साथ ले आया। स्वामीजी उसमें बैठकर स्वामी निरंजनानन्दजी और शिष्य को साथ ले बड़े

आनन्द से मठ को चले। जाते जाते शिष्य से कहने लगे, "जिन भावों की अपने जीवन या कार्य में स्वयं सफलता प्राप्त न की हो, उन भावों की केवल चर्चा मात्र से क्या होता है? यही सब उत्सवों का भी अभिप्राय है कि इन्हींसे तो सर्वसाधारण में ये सब भाव धीरे धीरे फैलेंगे। हिन्दुओं के बारह महीनों में कितने ही पर्व होते हैं और उनका उद्देश्य यही है कि धर्म में जितने बड़े बड़े भाव हैं उनको सर्वसाधारण में फैलायें। परन्तु इसमें एक दोष भी है। साधारण लोग इनका यथार्थ भाव न जान उत्सवों में ही मग्न हो जाते हैं और उनकी पूर्ति होने पर कुछ लाभ न उठा ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इस कारण ये उत्सव धर्म के बाहरी वस्त्र के समान धर्म के यथार्थ भावों को ढाँके रहते हैं।

परन्तु इनमें से कुछ लोग "धर्म और आत्मा क्या है" यह न जानने पर भी इनसे यथार्थ धर्म जानने की चेष्टा करेंगे। आज जो श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव हुआ है इसमें जो लोग आये थे उनके हृदय में श्रीगुरुदेव के विषय में जानने की--वे कौन थे जिनके नाम पर इतने लोग एकत्रित हुए और उन्हींके नाम पर क्यों वे आये हैं--इच्छा अवश्य उत्पन्न होगी। और जिनके मन में यह भाव भी न हुआ हो वे वर्ष में एक बार भजन सुनने तथा प्रसाद पाने के निमित्त भी आयेंगे, तो भी श्रीगुरुदेव के भक्तों के दर्शन अवश्य होंगे, जिनसे उनका उपकार ही होगा, न कि अपकार।"

शिष्य--यदि कोई इस उत्सव और भजन-गान को ही धर्म का सार समझ लें तो क्या वे भी धर्ममार्ग में और आगे बढ़ सकेंगे? हमारे देश में जैसे षष्ठीपूजा, मंगलचण्डीपूजा आदि नित्यनैमित्तिक हो गयी हैं वैसे ही ये भी हो जायेंगे। इस प्रकार बहुत लोग मृत्यु काल तक पूजा करते रहते हैं, परन्तु मैंने तो ऐसा कोई भी

मनुष्य नहीं देखा जो ऐसे पूजन करते करते ब्रह्मज्ञ हो गया हो।

स्वामीजी—क्यों, इस भारत में जितने धर्मवीरों ने जन्म लिया वे सब इन्हीं पूजाओं के आश्रय से आगे बढ़े और ऊँची अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इन्हीं पूजाओं का आश्रय लेकर साधना करते हुए जब वे आत्मदर्शन करते हैं, तब इन पर उनका कुछ भी ध्यान नहीं रहता; परन्तु लोकसंस्थिति के लिए अवतार-सदृश महा-पुरुषगण भी इन सभी को मानते हैं।

शिष्य—हाँ लोगों को दिखाने के लिए ऐसा मान सकते हैं, किन्तु जब आत्मज्ञ पुरुषों को यह संसार ही इन्द्रजालवत् मिथ्या प्रतीत होता है, तब क्या वे इन सब बाहरी लौकिक व्यवहारों को सत्यभाव से मान सकते हैं?

स्वामीजी—क्यों नहीं? जिनको हम सत्य समझते हैं वे भी तो देश, काल और पात्र के अनुसार भिन्न भिन्न (Relative) होते हैं। इसी कारण अधिकारियों के भेदानुसार इन सब व्यवहारों का प्रयोजन है। जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "माता किसी सन्तान को पुलाव और कलिया पकाकर देती है और किसी को साबूदाना देती है।" उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।

अब इन उत्तरों को सुन और समझ कर शिष्य चुप हो गया। इसी समय गाड़ी भी आलमबाजार के मठ में आ पहुँची। शिष्य गाड़ी का किराया देकर स्वामीजी के साथ मठ में गया और स्वामीजी के पीने के लिए जल ले आया। स्वामीजी ने जलपान कर अपना कुर्ता उतार डाला और जमीन पर जो दरी बिछी थी उसी पर अर्द्ध शयन करते हुए विश्राम करने लगे। स्वामी निरंजनानन्दजी जो पास ही विराजमान थे, बोले, "उत्सव में ऐसी

भीड़ इसके पहले कभी नहीं हुई थी, मानो पूरा कलकत्ता यहाँ टूट पड़ा है।"

स्वामीजी—इसमें आश्चर्य ही क्या है, आगे न जाने क्या क्या होगा!

शिष्य—प्रत्येक धर्मसम्प्रदाय में यह पाया जाता है कि किसी न किसी प्रकार का बाहरी उत्सव और आमोद मनाया जाता है, परन्तु कोई भी किसी से मेल नहीं रखता! ऐसे उदार मोहम्मदीय धर्म में भी शीया-सुन्नियों में दंगा तथा फिसाद होता है। मैंने यह ढाका शहर में देखा है।

स्वामीजी—सम्प्रदाय होने पर थोड़ा-बहुत ऐसा अवश्य होगा ही, परन्तु क्या तू यहाँ के भाव को जानता है? हम तो कोई भी सम्प्रदायी नहीं। हमारे गुरुदेव ने इसी को दिखलाने के निमित्त जन्म लिया था। वे सब कुछ मानते थे, परन्तु यह भी कहते थे कि ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से यह सब मिथ्या माया ही है।

शिष्य—महाराज, आपकी बात समझ में नहीं आती। मेरे मन में कभी कभी ऐसा अनुमान होता है कि आप भी ऐसे उत्सवों का प्रचार करके श्रीरामकृष्ण के नाम से एक नये सम्प्रदाय को जन्म दे रहे हैं। मैंने पूज्यपाद नाग महाशय से सुना है कि श्रीगुरुदेव किसी भी सम्प्रदाय में नहीं थे। शाक्त, वैष्णव, ब्राह्मसमाजी, मुसलमान, ईसाई इन सभी धर्मों का वे बहुत मान करते थे।

स्वामीजी—तूने कैसे समझा कि हम सब मतों का उसी प्रकार मान नहीं करते?

यह कहकर स्वामीजी हँसकर स्वामी निरंजनानन्दजी से बोले, "अरे! यह गँवार कहता क्या है?"

शिष्य––कृपा करके इस बात को तो मुझे समझा दीजिये।

स्वामीजी––तूने तो मेरी वक्तृताएँ पढ़ी हैं। क्या कहीं भी मैंने श्रीरामकृष्ण का नाम लिया है? मैंने तो जगत् में केवल उपनिषदों के धर्म का ही प्रचार किया है।

शिष्य––महाराज, यह तो ठीक है। परन्तु आपसे परिचय होने पर मैं देखता हूँ कि आप श्रीरामकृष्ण में लीन हैं। यदि आपने श्रीगुरुदेव को भगवान् जाना है तो क्यों नहीं लोगों से आप यह स्पष्ट कह देते?

स्वामीजी––मैंने जो अनुभव किया है वही बतलाया है। यदि तूने वेदान्त के अद्वैत मत को ही ठीक माना है तो क्यों नहीं लोगों को भी यह समझा देता?

शिष्य––प्रथम मैं स्वयं अनुभव करूँगा, तभी तो समझाऊँगा। मैंने तो केवल इस मत को पढ़ा ही है।

स्वामीजी––तब पहले तू इसकी अनुभूति कर ले। फिर लोगों को समझा सकेगा। वर्तमान में तो प्रत्येक मनुष्य एक एक मत पर विश्वास करके चल रहा है इसमें तो तू कुछ कह ही नहीं सकता, क्योंकि तू भी तो अभी एक मत पर ही विश्वास करके चल रहा है।

शिष्य––हाँ महाराज, यह सत्य है कि मैं भी एक मत पर विश्वास करके चल रहा हूँ, किन्तु मैं इसका प्रमाण शास्त्र से देता हूँ। मैं शास्त्र के विरोधी मत को नहीं मानता।

स्वामीजी––शास्त्र से तेरा क्या अर्थ है? यदि उपनिषदों को प्रमाण माना जाय तो क्या बाइबिल, जेन्दावस्ता भी न माने जायें?

शिष्य––यदि इन पुस्तकों को प्रमाण स्वीकार करें भी, तो वेद के समान वे प्राचीन ग्रन्थ नहीं हैं। और वेद में जैसा आत्मतत्त्व-

समाधान है वैसा और किसी में है भी नहीं।

स्वामीजी—अच्छा तेरी यह बात मैंने स्वीकार की, परन्तु वेद के अतिरिक्त और कहीं भी सत्य नहीं है यह कहने का तेरा क्या अधिकार है?

शिष्य—जी महाराज, वेद के अतिरिक्त और सब धर्मग्रन्थों में भी सत्य हो सकता है, इसके विरुद्ध मैं कुछ नहीं कहता, किन्तु मैं तो उपनिषद् के मत को ही मानूंगा। इसी में मेरा परम विश्वास है।

स्वामीजी—अवश्य मानो; परन्तु यदि किसी का अन्य किसी मत पर "परम" विश्वास हो तो उसको उसी विश्वास पर चलने दो। अन्त में देखोगे तुम और वह एक ही स्थान पर पहुँचोगे। महिम्न स्तोत्र में क्या तूने नहीं पड़ा है, "त्वमसि पयसामर्णव इव?"

परिच्छेद ६

स्थान—आलमबाज़ार मठ

वर्ष—१८९७ (मई)

विषय—स्वामीजी का शिष्य को दीक्षादान—दीक्षा से पूर्व प्रश्न—यज्ञसूत्र की उत्पत्ति के विषय में वेदों का मत—जिससे अपना मोक्ष और जगत् के कल्याणचिन्तन में मन को सर्वदा मग्न रख सके वही दीक्षा—अहंभाव से पाप-पुण्य की उत्पत्ति—आत्मा का प्रकाश छोटे 'अहं' के त्याग ही में—मन के नाश में ही यथार्थ अहंभाव का प्रकाश, और वास्तव में यही अहं का स्वरूप—"कालेनात्मनि विन्दति।"

स्वामीजी दार्जिलिंग से कलकत्ते को लौटे हैं और आलमबाज़ार मठ में ही ठहरे हैं। गंगा के किनारे किसी स्थान पर मठ को स्थानान्तरित करने का प्रबन्ध हो रहा है। आजकल उनके पास शिष्य का प्रतिदिन आना-जाना रहता है, और कभी कभी रात्रि में भी वह वहीं रह जाता है। जीवन के प्रथम पथप्रदर्शक नाग महाशय ने शिष्य को गुरुदीक्षा नहीं दी थी। दीक्षाविषय में वार्तालाप होते ही वे स्वामीजी का नाम लेकर कहते थे, "वे (स्वामीजी) ही जगत् के गुरु होने के योग्य हैं।" इसी कारण, स्वामीजी से ही दीक्षाग्रहण करने का संकल्प कर शिष्य ने दार्जिलिंग को एक पत्र उनके पास भेजा था। उत्तर में स्वामीजी ने लिखा था, "यदि नाग महाशय को कोई आपत्ति न हो तो मैं बड़े आनन्द से तुमको दीक्षा दूँगा।" यह पत्र शिष्य के पास अभी तक है।

आज वैशाख १३०३ (बंगला सन) का उन्नीसवाँ दिन है।

स्वामीजी ने शिष्य को आज दीक्षा देना स्वीकार किया है। आज शिष्य के जीवन में सभी दिनों की अपेक्षा एक विशेष दिन है। शिष्य प्रात:काल ही गंगास्नान कर कुछ लीची तथा अन्यान्य सामग्री मोल लेकर लगभग आठ बजे आलमबाजार मठ में उपस्थित हुआ। शिष्य को देखकर स्वामीजी ने हँसकर कहा, "आज तुम्हें बलिदान देना होगा, क्यों ?"

स्वामीजी शिष्य से यह कहकर फिर औरों के साथ अमरीका के सम्बन्ध में वार्तालाप करने लगे। धर्मजीवन के गठन करने में किस प्रकार एकनिष्ठ होना पड़ता है, गुरु पर किस प्रकार अटल विश्वास एवं दृढ़ भक्तिभाव होना चाहिए, गुरुवाक्यों पर किस प्रकार निर्भर रहना चाहिए और गुरु के निमित्त अपने प्राण तक देने को भी किस प्रकार प्रस्तुत रहना चाहिए—आदि आदि बातों की भी चर्चा होने लगी। तत्पश्चात् शिष्य के हृदय की परीक्षा करने के निमित्त कुछ प्रश्न करने लगे, "मैं जब भी जिस काम की आज्ञा दूँगा क्या तू तुरन्त उस आज्ञा का पालन करने की यथाशक्ति चेष्टा करेगा ? तेरा मंगल समझकर यदि मैं तुझे गंगा में डूबकर मर जाने की या छत से कूद पड़ने की आज्ञा दूँ, तो क्या तू बिना विचारे इसका पालन करेगा ? अब भी तू विचार कर ले। बिना विचारे गुरु करने को तैयार न हो।" शिष्य के मन में कैसा विश्वास है यही जानने के लिए वे कुछ ऐसे प्रश्न करने लगे। शिष्य भी सिर झुकाये "पालन करूँगा" कहकर प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने लगा।

स्वामीजी कहने लगे—"वही सच्चा गुरु है, जो इस मायारूपी संसार के पार ले जाता है, जो कृपा करके सब मानसिक आधि-व्याधि विनष्ट करता है। पूर्वकाल में शिष्यगण समित्पाणि होकर

गुरु के आश्रम में जाया करते थे। गुरु उनको अधिकारी समझने पर दीक्षादान करके वेद पढ़ाते थे और तन-मन-वाक्य-दण्डरूप व्रत के चिह्नस्वरूप त्रिरावृत्त मूँज-मेखला उसकी कमर में बाँध देते थे। शिष्य अपनी कौपीनों को उससे तानकर बाँधते थे। उस मूँज-मेखला के स्थान पर अब यज्ञसूत्र या जनेऊ पहिनने की रीति निकली है।"

शिष्य—हम सूत के जो उपवीत धारण करते है, क्या यह वैदिक प्रथा नहीं है?

स्वामीजी—वेद में कहीं सूत के उपवीत का प्रसंग नहीं है। स्मार्त पण्डित रघुनन्दन ने भी लिखा है—"अस्मिन्नेव समये यज्ञ-सूत्रं परिधापयेत्।" ऐसे उपवीत का प्रसंग गोभिल के गृह्यसूत्र में भी नहीं है। गुरु के पास होनेवाले इस वैदिक संस्कार को ही शास्त्रों में उपनयन कहा गया है; परन्तु आजकल देश की कैसी दुरवस्था हो गयी है! शास्त्रपथ को छोड़कर केवल कुछ देशाचार, लोकाचार तथा स्त्री-आचार से सारा देश भरा हुआ है। इसी कारण मैं कहता हूँ कि जैसा प्राचीनकाल में था वैसा ही काम शास्त्र के अनुसार करते जाओ। स्वयं श्रद्धावान् होकर अपने देश में भी श्रद्धा लाओ। अपने हृदय में नचिकेता के समान श्रद्धा लाओ। नचिकेता के समान यमलोक में चले जाओ। आत्मतत्त्व जानने के लिए, आत्मा के उद्धार के लिए, इस जन्म-मृत्यु की समस्या की यथार्थ मीमांसा के लिए यदि यम के द्वार पर भी जाकर सत्य का लाभ कर सको, तो निर्भय हृदय से वहाँ जाना उचित है। भय ही मृत्यु है। भय से पार हो जाना चाहिए। आज से ही भयशून्य हो जाओ। अपने मोक्ष तथा परहित के निमित्त आत्मोत्सर्ग करने के लिए अग्रसर हो जाओ। थोड़ी सी

तथा मांस का बोझ लिये फिरने से क्या होगा ? ईश्वर के निमित्त सर्वस्व-त्यागरूप मन्त्र में दीक्षा ग्रहण करके दधीचि मुनि के समान औरों के निमित्त अपनी हड्डी और मांस दान कर दो। शास्त्र में लिखा है कि जो अधीतवेदवेदान्त हैं, जो ब्रह्मज्ञ हैं, जो अन्य को भय के पार ले जाने में समर्थ हैं, वे ही यथार्थ गुरु हैं। उनके दर्शन पाते ही उनसे दीक्षित होना उचित है; "नात्र कार्या विचारणा।" आजकल वह रीति कहाँ पहुँची है ? देखो तो— "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।"

अब नौ बजे का समय है। स्वामीजी आज गंगास्नान करने नहीं गये, मठ में ही स्नान किया। स्नान के बाद एक नया गेरुए रंग का वस्त्र पहन कर धीरे से पूजा-घर में प्रवेश करके आसन पर बैठ गये। शिष्य ने वहाँ प्रवेश नहीं किया, परन्तु बाहर ही प्रतीक्षा करने लगा—'स्वामीजी जब बुलायेंगे तभी भीतर जाऊँगा।' अब स्वामीजी ध्यानस्थ हुए—मुक्त-पद्मासन, ईषन्मुद्रित नयन से ऐसा अनुमान होता था कि तन-मन-प्राण सब स्पन्दहीन हो गया है। ध्यान के अन्त में स्वामीजी ने "वत्स, इधर आओ" कहकर बुलाया। शिष्य स्वामीजी के स्नेहयुक्त आह्वान से मुग्ध होकर यन्त्रवत् पूजा-घर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ प्रवेश करते ही स्वामीजी ने शिष्य को आदेश किया "द्वार बन्द करो।" द्वार के बन्द करने पर स्वामीजी ने कहा "मेरे वामपार्श्व में स्थिर होकर बैठो।" स्वामीजी के आदेश को शिरोधार्य करके शिष्य आसन पर बैठा। उस समय कैसे एक अनिर्वचनीय, अपूर्व भाव से उसका हृदय थर थर काँप रहा था। इसके अनन्तर स्वामीजी ने अपने हस्तकमल को शिष्य के मस्तक पर रखकर उससे दो चार गुह्य बातें पूछीं। उनका यथासाध्य उत्तर देने पर स्वामीजी ने उसके कान में

महाबीज मन्त्र तीन बार उच्चारण किया और शिष्य से तीन बार उच्चारण करवाया। उसके बाद साधना के विषय में कुछ उपदेश प्रदान करके निश्चल होकर अनिमेष नेत्रों से शिष्य के नेत्रों की ओर कुछ देर तक देखते रहे। अब शिष्य का मन स्तब्ध और एकाग्र हो जाने से वह एक अनिर्वचनीय भाव से निश्चल होकर बैठा रहा। कितनी देर तक इस अवस्था में रहा, इसका अब कुछ ध्यान ही नहीं रहा। इसके बाद स्वामीजी बोले, "गुरुदक्षिणा लाओ।" शिष्य ने कहा, "क्या लाऊँ?" यह सुनकर स्वामीजी ने आज्ञा दी, "भण्डार से कुछ फल ले आओ।" शिष्य भागता हुआ भण्डार को गया और दस बारह लीची ले आया। स्वामीजी अपने हाथ में लीची लेकर एक एक करके सब खा गये और बोले—"अच्छा, तेरी गुरुदक्षिणा हो गयी।" जिस समय पूजागृह में स्वामीजी से शिष्य दीक्षित हो रहा था उसी समय मठ का एक और व्यक्ति दीक्षित होने के लिए कृतसंकल्प हो द्वार के बाहर खड़ा था। स्वामी शुद्धानन्दजी ने उस समय तक ब्रह्मचारी अवस्था में मठ में रहने पर भी यथाविधि दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। आज शिष्य को इस प्रकार से दीक्षित होते देख उन्होंने भी बड़े उत्साह से दीक्षा लेना निश्चय किया और पूजा-घर से दीक्षित होकर शिष्य के निकलते ही वे वहाँ जा पहुँचे और स्वामीजी से अपना अभिप्राय प्रकट किया। स्वामीजी भी शुद्धानन्दजी के विशेष आग्रह से सम्मत हो गये और पुनः पूजा करने को आसन ग्रहण किया।

फिर, शुद्धानन्दजी को दीक्षा देने के कुछ समय बाद स्वामीजी पूजा-घर से बाहर निकल आये। कुछ देर बाद उन्होंने भोजन किया और फिर विश्राम करने लगे। शिष्य ने भी शुद्धानन्दजी

के साथ स्वामीजी के पात्रावशेष को बड़े प्रेम से ग्रहण किया और उनके पायँते बैठकर धीरे धीरे उनकी चरणसेवा करने लगा। कुछ देर विश्राम के बाद स्वामीजी ऊपर की बैठक में जाकर बैठे। शिष्य ने भी उस समय सुअवसर पाकर उनसे प्रश्न किया—"महाराज, पाप और पुण्य का भाव कहाँ से उत्पन्न हुआ ?"

स्वामीजी—बहुत्व के भाव से यह सब आ पहुँचा है। मनुष्य एकत्व की ओर जितना बढ़ता जाता है उतना ही "हम-तुम" का भाव कम होता जाता है, जिसमें से कि सारा धर्माधर्म इत्यादि द्वन्द्वभाव उत्पन्न हुआ है। हमसे यह पृथक् है ऐसा भाव मन में उत्पन्न होने से ही अन्यान्य द्वन्द्व भावों का विकास होता है, किन्तु सम्पूर्ण एकत्व अनुभव होने पर मनुष्य का शोक या मोह नहीं रह जाता—"तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।" सब प्रकार की दुर्बलता को ही पाप कहते हैं (Weakness is sin)। इससे हिंसा तथा द्वेष आदि का जन्म होता है। इसलिए दुर्बलता का दूसरा नाम पाप है। हृदय में आत्मा सर्वदा प्रकाशमान है, परन्तु उधर कोई ध्यान नहीं देता। केवल इस जड़ शरीर हड्डी तथा मांस के एक अद्‌भुत पिंजरे पर ही ध्यान रखकर "मैं, मैं" करते हैं। यही सब प्रकार की दुर्बलता का मूल है। इस अध्यास से ही जगत् में व्यावहारिक भाव निकले हैं, परन्तु परमार्थ भाव इस द्वन्द्वभाव के परे वर्तमान है।

शिष्य—तो क्या इस सब व्यावहारिक सत्ता में कुछ भी सत्य नहीं है ?

स्वामीजी—जब तक "मैं शरीर हूँ" यह ज्ञान है, तब तक ये सत्य हैं। किन्तु "जब मैं आत्मा हूँ" यह अनुभव होता है, तब यह सब व्यावहारिक सत्ता मिथ्या प्रतीत होती है। लोग जिसे पाप

कहते हैं, वह दुर्बलता का फल । इस शरीर को "मैं" जानना—यह अहंभाव—दुर्बलता का रूपान्तर । जब "मैं आत्मा हूँ" इसी भाव पर मन स्थिर होगा, तब तुम पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म के पार पहुँच जाओगे । श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "मैं" के नाश में ही दुःख का अन्त है ।

शिष्य—यह "अहं" तो मरने पर भी नहीं मरता । इसको मारना बड़ा कठिन है ।

स्वामीजी—हाँ । एक प्रकार से यह कठिन भी है, परन्तु दूसरे प्रकार से बड़ा सरल भी है । "मैं" यह पदार्थ कहाँ है क्या मुझे समझा सकता है ? जो स्वयं है ही नहीं उसका मरना और जीना कैसा ? अहंरूप जो एक मिथ्या भाव है उसी से मनुष्य मोहित (hypnotised) है, बस । इस पिशाच से मुक्ति प्राप्त होने पर यह स्वप्न दूर हो जाता है और दीख पड़ता है कि एक आत्मा आब्रह्मस्तम्ब तक सब में विराजित है । इसीको जानना होगा, प्रत्यक्ष करना पड़ेगा । जो भी साधन-भजन हैं, वे सब इस आवरण को दूर करने के निमित्त हैं । इसके हटने से ही विदित होगा कि चित् सूर्य अपनी प्रभा से स्वयं चमक रहा है; क्योंकि आत्मा ही एक मात्र स्वयंज्योति—स्वयंवेद्य है, वह क्या दूसरे की सहायता से जानी जा सकती है ? इसी कारण श्रुति कहती "विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ।" तू जो कुछ जानता है, वह मन की सहायता से, किन्तु मन तो जड़ वस्तु है । उसके पीछे शुद्ध आत्मा रहने के कारण मन का कार्य होता है । इसी कारण से मन के द्वारा उस आत्मा को कैसे जानोगे ? इससे तो यह जान पड़ता है कि मन या बुद्धि कोई भी शुद्धात्मा के पास नहीं पहुँच सकती है । ज्ञान की पहुँच यहीं तक है । परन्तु आगे जब मन विकल्परहित या

वृत्तिहीन होता है, तभी मन का लोप होता है और तभी आत्मा प्रत्यक्ष होती है। इस अवस्था का वर्णन भाष्यकार श्रीशंकराचार्य ने "अपरोक्षानुभूति" कहकर किया है।

शिष्य—किन्तु महाराज, मन ही तो "अहं" है। मन का यदि लोप हुआ तो "मैं" कहाँ रहा ?

स्वामीजी—वह जो अवस्था है, यथार्थ में वही "अहं" का स्वरूप है। उस समय का जो "अहं" रहेगा वह सर्वभूतस्थ, सर्वगत सर्वान्तरात्मा होता है। घटाकाश टूटकर महाकाश का प्रकाश होता है—घट टूटने पर क्या उसके अन्दर के आकाश का विनाश हो जाता है ? इसी प्रकार यह छोटा "अहं" जिसे तू शरीर में बन्द समझता था, फैलकर सर्वगत "अहं" या आत्मरूप से प्रत्यक्ष हो जाता है। अतएव मैं कहता हूँ कि मन मरा या रहा इससे यथार्थ अहं या आत्मा का क्या ? यह बात समय आने पर तुझे प्रत्यक्ष होगी "कालेनात्मनि विन्दति।" श्रवण और मनन करते करते इस बात की अनुभूति होगी और तब तू मन के अतीत चला जायगा, तब ऐसे प्रश्न करने का अवसर भी न रहेगा।

शिष्य यह सुन स्थिर होकर बैठा रहा। स्वामीजी ने फिर कहा—"इसी सहज विषय को समझाने के लिए कितने ही शास्त्र लिखे गये हैं; तिस पर भी लोग इसको नहीं समझ सकते। आपात-मधुर चांदी के चमकते रुपये और स्त्रियों के क्षणभंगुर सौन्दर्य से मोहित होकर इस दुर्लभ मनुष्यजन्म को कैसे खो रहे हैं! महामाया का आश्चर्यजनक प्रभाव है! माता महामाया रक्षा करो! माता महामाया रक्षा करो!"

परिच्छेद ७

स्थान—कलकत्ता

वर्ष—१८९७

विषय—स्त्रीशिक्षा के सम्बन्ध में स्वामीजी का मत—महाकाली पाठशाला का परिदर्शन और प्रशंसा—अन्य देश की स्त्रियों के साथ भारतीय महिलाओं की तुलना एवं उनका विशेषत्व—स्त्री और पुरुष सब को शिक्षा देना कर्तव्य—किसी भी सामाजिक नियम को बल से तोड़ना उचित नहीं—शिक्षा के प्रभाव से लोग बुरे नियमों को स्वयं छोड़ देंगे।

स्वामीजी अमरीका से लौटकर कुछ दिनों से कलकत्ते में बलराम बसुजी के बागबाजारवाली उद्यानवाटिका में ही ठहरे हैं। कभी कभी परिचित व्यक्तियों से मिलने उनके स्थान पर भी जाते हैं। आज प्रातःकाल शिष्य जब स्वामीजी के पास आया तब उसने उनको बाहर जाने के लिए तैयार पाया। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "मेरे साथ चल।" यह कहते कहते स्वामीजी सीढ़ियों से नीचे उतरने लगे। शिष्य भी पीछे पीछे चला। स्वामीजी शिष्य के साथ एक किराये की गाड़ी में सवार हुए, गाड़ी दक्षिण की ओर चली।

शिष्य—महाराज, कहाँ चल रहे हैं?

स्वामीजी—चलो, अभी मालूम हो जायगा।

स्वामीजी कहाँ जा रहे हैं इस विषय में उन्होंने शिष्य से कुछ भी नहीं कहा। गाड़ी के बिडनस्ट्रीट में पहुँचने पर कथाप्रसंग में कहने लगे, "तुम्हारे देश में स्त्रियों के पठनपाठन के लिए कुछ भी

प्रयत्न नहीं दीख पड़ता। तुम स्वयं पठनपाठन करके योग्य बन रहे हो, किन्तु जो तुम्हारे सुखदुःख की भागी हैं—प्रत्येक समय में प्राण देकर सेवा करती हैं—उनकी शिक्षा के लिए, उनके उत्थान के लिए तुमने क्या किया है ? "

शिष्य—क्यों महाराज, आजकल तो स्त्रियों के लिए कितनी ही पाठशालाएँ तथा उच्चविद्यालय बन गये हैं, कितनी ही स्त्रियाँ एम्. ए., बी. ए. परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो गयी हैं।

स्वामीजी—यह तो विलायती ढंग पर हो रहा है। तुम्हारे धर्मशास्त्र और देश की परिपाटी के अनुसार क्या कहीं भी कोई पाठशाला बालकों की भी है; स्त्रियों की बात तो जाने दो। इस देश के पुरुषों में भी शिक्षा का विस्तार अधिक नहीं है, इसी कारण गवर्नमेन्ट के Statistics (संख्यासूचक विवरण) में जब पाया जाता है कि भारतवर्ष में प्रति शत केवल दस बारह लोग ही शिक्षित हैं तो अनुमान होता है कि स्त्रियों में प्रति शत एक भी शिक्षिता न होगी। यदि ऐसा न होता तो देश की ऐसी दुर्दशा क्यों होती ? शिक्षा का विस्तार तथा ज्ञान का उन्मेष हुए बिना देश की उन्नति कैसे होगी ? तुममें से जो शिक्षित हैं और जिन पर देश की भावी आशा निर्भर है, उनमें भी इस विषय की कोई चेष्टा या उद्यम नहीं पाया जाता; किन्तु स्मरण रहे कि सर्वसाधारण में और स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार न होने से उन्नति का कोई उपाय नहीं है। इसलिए कुछ ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी बनाने की मेरी इच्छा है। ब्रह्मचारी लोग समय पर संन्यास लेकर देश देश में, गाँव गाँव में जायेंगे और सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार करने का प्रबन्ध करेंगे और ब्रह्मचारिणियाँ स्त्रियों में विद्या का प्रचार करेंगी; परन्तु यह सब काम अपने देश के ढंग पर होना चाहिए।

पुरुषों के लिए जैसा शिक्षा-केन्द्र बनाना होगा वैसा ही स्त्रियों के निमित्त भी करना होगा। शिक्षिता और सच्चरित्रा ब्रह्म-चारिणियाँ इस केन्द्र में कुमारियों को शिक्षा दिया करेंगी। पुराण, इतिहास, गृहकार्य, शिल्प, गृहस्थी के सारे नियम इत्यादि वर्तमान विज्ञान की सहायता से समझाने होंगे तथा आदर्श चरित्रगठन करने की उपयुक्त नीतियों की भी शिक्षा देनी होगी। कुमारियों को धर्मपरायण और नीतिपरायण वनाना पड़ेगा। जिससे वह भविष्य में अच्छी गृहिणी हों वही करना होगा। इन कन्याओं से जो सन्तान उत्पन्न होगी वह इन विषयों में और भी उन्नति कर सकेगी। जिनकी माता शिक्षिता और नीतिपरायण हैं उनके ही घर में बड़े लोग जन्म लेते हैं। वर्तमान समय में तो स्त्रियों को काम करने का यन्त्र-सा बना रखा है। राम! राम!! तुम्हारी शिक्षा का क्या यही फल हुआ? स्त्रियों की वर्तमान दशा से उनका प्रथम उद्धार करना होगा। सर्वसाधारण को जगाना होगा; तभी तो भारत का कल्याण होगा।

अब गाड़ी को कौर्नवालीस स्ट्रीट के ब्राह्मसमाज मन्दिर से आगे बढ़ते देखकर स्वामीजी ने गाड़ीवाले से कहा, "चोरबागान के रास्ते को ले चलो।" गाड़ी जब उस रास्ते को मुड़ी तब स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "महाकाली पाठशाला की स्थापनकर्त्री तपस्विनी माताजी ने अपनी पाठशाला देखने के लिए निमन्त्रित किया है।" यह पाठशाला उस समय चोरबागान में राजेन्द्रनाथ मल्लिकजी के मकान के पूर्व की ओर किराये के मकान में थी। गाड़ी ठहरने पर दो चार भद्रपुरुषों ने स्वामीजी को प्रणाम किया और उन्हें कोठे पर लिवा ले गये। तपस्विनी माताजी ने भी खड़े होकर स्वामीजी का सत्कार किया। थोड़ी देर बाद ही तपस्विनी

माताजी स्वामीजी को पाठशाला की एक श्रेणी में ले गयीं। कुमारियों ने खड़े होकर स्वामीजी की अभ्यर्थना की और माताजी के आदेश से शिवजी के ध्यान की स्वर सहित आवृत्ति करनी आरम्भ की। फिर किस प्रणाली से पाठशाला में पूजन की शिक्षा दी जाती है, वह भी माताजी के आदेश से कुमारियाँ दिखलाने लगीं। स्वामीजी भी हर्षित नेत्रों से यह सब देखकर एक दूसरी श्रेणी की छात्राओं को देखने के लिए गये। वृद्धा माताजी ने अपने को स्वामीजी के साथ कुल श्रेणियों में घूमकर दिखाने के लिए असमर्थ जान पाठशाला के दो तीन शिक्षकों को बुलाकर स्वामीजी को सब श्रेणियों को अच्छी प्रकार दिखलाने के लिए कहा। सब श्रेणियों को देखकर स्वामीजी पुनः माताजी के पास लौट आये और उन्होंने एक छात्रा को बुलाकर रघुवंश के तृतीय अध्याय के प्रथम श्लोक की व्याख्या करने को कहा। उस कुमारी ने उसकी व्याख्या संस्कृत में ही करके स्वामीजी को सुनायी। स्वामीजी ने सुनकर सन्तोष प्रकट किया और स्त्रीशिक्षा का प्रचार करने में इतना अध्यवसाय और यत्न का इतना साफल्य देखकर माताजी की बहुत प्रशंसा करने लगे। इस पर माताजी ने विनय से कहा, "मैं छात्राओं की सेवा उन्हें देवी भगवती समझकर कर रही हूँ। विद्यालय स्थापित करके यश लाभ करने का कोई विचार नहीं है।"

विद्यालय के सम्बन्ध में वार्तालाप करके स्वामीजी ने जब विदा लेनी चाही तब माताजी ने स्वामीजी को Visitors' Book (स्कूल के विषय में अपना मत लिखने के लिए निर्दिष्ट पुस्तक) में अपना मत प्रकट करने को कहा। स्वामीजी ने उस पुस्तक में अपना मत विशद रूप से लिख दिया। लिखित विषय की अन्तिम पंक्ति

शिष्य को अभी तक स्मरण है। वह यह थी---"The movement is in the right direction" अर्थात् कार्य उचित मार्ग पर हो रहा है।

इसके बाद माताजी को नमस्कार करके स्वामीजी फिर गाड़ी में सवार हुए और शिष्य से स्त्रीशिक्षा पर वार्तालाप करते हुए बागबाजार की ओर चले गये। वार्तालाप का कुछ विवरण निम्नलिखित है।

स्वामीजी---देखो, कहाँ इनकी जन्मभूमि ! सर्वस्व का त्याग किया है ! तथापि यहाँ लोगों के मंगल के लिए कैसा यत्न कर रही हैं ! स्त्री के अतिरिक्त और कौन छात्राओं को ऐसा निपुण कर सकता है ? सभी प्रबन्ध अच्छा पाया, परन्तु गृहस्थ पुरुषशिक्षकों का वहाँ होना मुझे उचित नहीं जान पड़ा। शिक्षिता विधवा या ब्रह्मचारिणियों को ही पाठशाला का कुल भार सौंपना चाहिए। इस देश की स्त्री-पाठशाला में पुरुषों का संसर्ग किंचिन्मात्र भी अच्छा नहीं।

शिष्य---किन्तु महाराज, इस देश में गार्गी, खना, लीलावती के समान गुणवती शिक्षिता स्त्रियाँ अब पायी कहाँ जाती हैं ?

स्वामीजी---क्या ऐसी स्त्रियाँ इस देश में नहीं हैं ? अरे यह देश वही है जहाँ सीता और सावित्री का जन्म हुआ था। पुण्यक्षेत्र भारत में अभी तक स्त्रियों में जैसा चरित्र, सेवाभाव, स्नेह, दया, तुष्टि और भक्ति पाये जाते हैं, पृथ्वी पर और कहीं ऐसे नहीं पाये जाते। पाश्चात्य देशों में स्त्रियों को देखने पर कुछ समय तक यही नहीं जान सकते थे कि वे स्त्रियाँ हैं। ठीक पुरुषों के समान प्रतीत होती थीं। ट्रामगाड़ी चलाती हैं, दफ्तर जाती हैं, स्कूल जाती हैं, प्रोफेसरी करती हैं ! एक मात्र भारतवर्ष ही में स्त्रियों में लज्जा, विनय इत्यादि देखकर नेत्रों को शान्ति होती

है। ऐसे योग्य आधार होने पर भी तुम उनकी उन्नति न कर सके ! इनको ज्ञानरूपी ज्योति दिखाने का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया ! उचित रीति से शिक्षा पाने पर ये आदर्श स्त्रियाँ बन सकती हैं।

शिष्य—महाराज, माताजी जिस प्रकार कुमारियों को शिक्षा दे रही हैं, क्या इससे ऐसा फल मिलेगा ? वे कुमारियाँ बड़ी होने पर विवाह करेंगी और थोड़े ही समय में अन्य स्त्रियों के समान हो जायेंगी परन्तु मेरा विचार है कि यदि उनसे ब्रह्मचर्य का पालन कराया जाय तो वे समाज और देश की उन्नति के लिए जीवन उत्सर्ग करने और शास्त्रोक्त उच्च आदर्श लाभ करने में समर्थ होंगी।

स्वामीजी—धीरे धीरे सब हो जायगा। यहाँ अभी तक ऐसे शिक्षित पुरुषों ने जन्म नहीं लिया है, जो समाज-शासन से भयभीत न होकर अपनी कन्याओं को अविवाहित रख सकें। देखो, आजकल कन्याओं की अवस्था बारह-तेरह वर्ष होते ही समाज के भय से उनका विवाह कर देते हैं। अभी उस दिन की बात है कि सम्मति बिल (Consent Bill) के आने पर समाज के नेताओं ने लाखों मनुष्यों को एकत्रित कर चिल्लाना शुरू कर दिया कि हम यह कानून नहीं चाहते ! अन्य देशों में इस प्रकार की सभा इकट्ठी करके विरोध प्रदर्शन करने की कौन कहे, ऐसे कानून के बनने की बात सुनकर ही लोग लज्जा से अपने घरों में छिप जाते हैं और सोचते हैं कि क्या अभी तक हमारे समाज में इस प्रकार का कलंक मौजूद है ?

शिष्य—परन्तु महाराज, क्या ये सब संहिताकार लोग बिना कुछ विचार किये ही बालविवाह का अनुमोदन करते थे ? निश्चय इसमें कुछ गूढ़ रहस्य है।

स्वामीजी—क्या रहस्य मालूम पड़ता है ?

शिष्य—विचारिये कि छोटी अवस्था में कन्याओं का विवाह कर देने से वे ससुराल में जाकर लड़कपन से ही कुलधर्म को सीख जायेंगी और गृहकार्य में निपुण बनेंगी। इसके अतिरिक्त पिता के गृह में वयस्क कन्या के स्वेच्छाचारिणी होने की सम्भावना है; बाल्यकाल में विवाह होने में स्वतन्त्र हो जाने का कोई भी भय नहीं रहता और लज्जा, नम्रता, धीरज तथा श्रमशीलता आदि नारीजाति के स्वाभाविक गुणों का विकास होता जाता है।

स्वामीजी—दूसरे पक्ष में यह कहा जा सकता है कि बाल-विवाह होने से बहुत स्त्रियाँ अल्पायु में ही सन्तान प्रसव करके मर जाती हैं। उनकी सन्तान अल्पजीवी होकर देश में भिक्षुकों की संख्या की वृद्धि करती हैं, क्योंकि माता पिता का शरीर सम्पूर्ण रूप से सबल न होने से सन्तान सबल और नीरोग कैसे उत्पन्न हो सकती है। पठनपाठन कराके कुमारियों की अधिक उम्र होने पर विवाह करने से उनकी जो सन्तान होगी, उसके द्वारा देश का कल्याण होगा। तुम्हारे यहाँ घर घर में जो इतनी विधवाएँ हैं, इसका कारण बालविवाह ही तो है। बालविवाह कम होने से विधवाओं की संख्या भी कम हो जायगी।

शिष्य—किन्तु महाराज, मेरा यह अनुमान है कि अधिक उम्र में विवाह होने से कुमारियाँ गृहकार्य में उतना ध्यान नहीं देतीं। सुना है कि कलकत्ते के अनेक गृहों में सास भोजन पकाती हैं और शिक्षित बहुएँ शृंगार करके बैठी रहती हैं। हमारे पूर्वबंग में ऐसा कभी नहीं होने पाता।

स्वामीजी—बुरा-भला सभी देशों में है। मेरा मत यह है कि सब देशों में समाज अपने आप बनता है। इसी कारण बालविवाह

उठा देना या विधवाविवाह आदि विषयों में सिर पटकना व्यर्थ है। हमारा यह कर्तव्य है कि समाज के स्त्री पुरुषों को शिक्षा दें। इससे फल यह होगा कि वे स्वयं भले-बुरे को समझेंगे और बुरे को स्वयं ही छोड़ देंगे। तब किसी को इन विषयों पर समाज का खण्डन या मण्डन करना न पड़ेगा।

शिष्य—आजकल स्त्रियों को किस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है?

स्वामीजी—धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य, रन्धन, सीना, शरीरपालन आदि सब विषयों का स्थूल मर्म सिखलाना उचित है। नाटक और उपन्यास तो उनके पास तक नहीं पहुँचने चाहिए। महाकाली पाठशाला अनेक विषयों में ठीक पथ पर चल रही है, किन्तु केवल पूजापद्धति सिखलाने से ही काम न बनेगा। सब विषयों में उनकी आँखें खोल देना उचित है। छात्राओं के सामने आदर्श नारीचरित्र सर्वदा रखकर त्यागरूप व्रत में उनका अनुराग उत्पन्न कराना चाहिए। सीता, सावित्री, दमयन्ती, लीलावती, खना, मीराबाई आदि के जीवनचरित्र कुमारियों को समझाकर उनको अपने जीवन इसी प्रकार से संगठित करने का उपदेश देना होगा।

गाड़ी अब बागबाजार में स्व० बलराम बसुजी के घर पर पहुँची। स्वामीजी गाड़ी से उतरकर ऊपर चले गये और दर्शनाभिलाषियों से, जो वहाँ उपस्थित थे, महाकाली पाठशाला का कुल वृत्तान्त कहने लगे।

आगे, नवनिर्मित "रामकृष्ण मिशन" के सदस्यों का क्या क्या कार्य कर्तव्य है, आदि विषयों की आलोचना करने के साथ ही साथ वे 'विद्यादान' तथा 'ज्ञानदान' का श्रेष्ठत्व अनेक प्रकार से

प्रतिपादन करने लगे। शिष्य को लक्ष्य करके बोले, 'Educate, Educate, (शिक्षा दो, शिक्षा दो)। "नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।" शिक्षादान के विरोधी मतावलम्बियों पर व्यंग करके बोले, 'सावधान, प्रह्लाद के समान न बन जाना।' शिष्य के इसका अर्थ पूछने पर स्वामीजी ने कहा, "क्या तूने सुना नहीं कि 'क' अक्षर को देखते ही प्रह्लाद की आँखों में आँसू भर आये थे, फिर उनसे पठनपाठन क्या हो सकता था! यह निश्चित है कि प्रह्लाद की आँखों में आँसू भर आये थे प्रेम के और मूर्ख की आँखों में आँसू आते हैं डर के मारे। भक्तों में भी इस प्रकार के अनेक हैं।" इस बात को सुनकर सब लोग हँसने लगे। स्वामी योगानन्द यह सुनकर बोले "तुम्हारे मन में जब कोई बात उत्पन्न होती है, तो उसकी जब तक पूर्ति नहीं होगी तब तक तुमको शान्ति कहाँ! अब जो इच्छा है वही होकर रहेगा।"

परिच्छेद ८

स्थान—कलकत्ता

वर्ष—१८९७ ईसवी

विषय—शिष्य का स्वयं भोजन पकाकर स्वामीजी को भोजन कराना—ध्यान के स्वरूप और अवलम्बन सम्बन्धी चर्चा—बाहरी अवलम्बन के आश्रय पर भी मन को एकाग्र करना सम्भव—एकाग्रता होने पर भी पूर्व-संस्कार से साधकों के मन में वासनाओं का उदय होना—मन की एकाग्रता से साधक को ब्रह्माभास तथा भाँति भाँति की विभूतियाँ प्राप्त करने का उपाय लाभ हो जाना—इस अवस्था में किसी प्रकार की वासना से परि-चालित होने पर ब्रह्मज्ञान का लाभ न होना।

कुछ दिनों से स्वामीजी बागबाजार में स्व० बलराम बसुजी के भवन में ठहरे हैं। क्या प्रातः, क्या मध्याह्न, क्या सायंकाल उनको विश्राम करने को तनिक भी अवसर नहीं मिलता; क्योंकि स्वामीजी कहीं भी क्यों न रहें, अनेक उत्साही युवक (कालेज के छात्र) उनके दर्शनों को आ ही जाते हैं। स्वामीजी सादर सब को धर्म या दर्शन के कठिन तत्त्वों को सुगमता से समझाते हैं। स्वामीजी की प्रतिभा से मानो वे परास्त होकर निर्वाक् हुए बैठे रहते हैं।

आज सूर्यग्रहण होगा। ग्रहण सर्वग्रासी है। ग्रहण देखने के निमित्त ज्योतिषीगण भिन्न भिन्न स्थानों को गये हैं। धर्मपिपासु नरनारी दूर दूर से गंगास्नान करने आये हैं और बड़ी उत्सुकता से ग्रहण पड़ने के समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं। परन्तु स्वामीजी को ग्रहण के सम्बन्ध में कोई विशेष उत्साह नहीं है। स्वामीजी का आदेश है कि शिष्य अपने हाथ से भोजन पकाकर स्वामीजी

को खिलाये। शाक तरकारी और रसोई पकाने के सब उपयोगी पदार्थ इकट्ठा कर प्रातःकाल आठ बजे शिष्य बलराम बसुजी के घर पर पहुँचा। उसको देखकर स्वामीजी ने कहा, "तुम्हारे देश में जिस प्रकार भोजन* पकाया जाता है, उसी प्रकार बनाओ और ग्रहण पड़ने से पूर्व ही भोजन हो जाना चाहिए।"

बलराम बाबू के परिवार में से कोई भी कलकत्ते में नहीं था। इस कारण सारा घर खाली था। शिष्य ने भीतर के रसोई घर में जाकर रसोई पकाना आरम्भ किया। श्रीरामकृष्ण की प्रेमी स्त्री भक्त योगीन माता ने पास ही उपस्थित रहकर रसोई के निमित्त सब चीजों का आयोजन किया और कभी कभी पकाने का ढंग बतलाकर उसकी सहायता करने लगीं। स्वामीजी भी बीच बीच में वहाँ आकर रसोई देखकर शिष्य को उत्साहित करने लगे और कभी "तरकारी का 'झोल' (शोरवा) तुम्हारे पूर्वबंग के ढंग का पके" कहकर हँसी करने लगे।

जब भात, मूंग की दाल, झोल, खटाई, सुक्तुनी आदि सब पदार्थ पक चुके तब स्वामीजी स्नान कर आ पहुँचे और स्वयं ही पत्तल बिछाकर बैठ गये। "अभी सब रसोई नहीं बनी है," कहने पर भी कुछ नहीं सुना, बड़े हठी बच्चे के समान बोले, "बड़ी भूख

---

* बंगवासियों का प्रधान आहार भात है, परन्तु इसके साथ दाल, झोल (शोरवा), नाना स्वादिष्ट तरकारियाँ (जैसे, 'चच्चडी' 'डलना' 'सुक्तुनी' 'घन्टो,' 'भाजा' तथा 'टक' इत्यादि) न पकाने से उनकी भोजनपरिपाटी नहीं होती, वे दो चार हरी तरकारियों को एक साथ मिलाकर भिन्न भिन्न मसाले तथा उपकरण के संयोजन से कटु, तिक्त, अम्ल, मधुर रसों की तरकारी पकाने में बडे निपुण होते हैं। पूर्व बंगवासियों की एक विशेषता यह है कि वे तरकारियों में मसाला, विशेष करके लाल मिर्च बहुत डालते हैं।

लगी है, अब ठहरा नहीं जाता, भूख के मारे आँतें जल रही हैं।" लाचार होकर शिष्य ने सुक्तुनी और भात परोस दिया। स्वामीजी ने भी तुरन्त भोजन करना आरम्भ कर दिया। तत्पश्चात् शिष्य ने कटोरी में अन्यान्य शाकों को परोसकर सामने रख दिया। फिर योगानन्द तथा प्रेमानन्द प्रमुख अन्य सब संन्यासियों को अन्न तथा शाकादि परोसने लगे। शिष्य रसोई पकाने में निपुण नहीं था, किन्तु आज स्वामीजी ने उसकी रसोई की बहुत बहुत प्रशंसा की। कलकत्तेवाले "पूर्वबंग की सुक्तुनी" के नाम से ही बड़ी हँसी करते हैं, किन्तु स्वामीजी यह भोजन कर बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले, "ऐसी अच्छी रसोई मैंने कभी नहीं पायी। यह 'झोल सब्जी' जैसी चटपटी बनी है, ऐसी और कोई तरकारी नहीं बनी।" खटाई चखकर बोले, "यह बिलकुल बर्दवानवालों के ढंग पर बनी है।" अन्त में सन्देश (मिठाई) तथा दही से स्वामीजी ने भोजन समाप्त किया और आचमन करके घर के भीतर खटिया पर जा बैठे। शिष्य स्वामीजी के सामने-वाले दालान में प्रसाद पाने को बैठ गया। स्वामीजी ने बातचीत करते करते उससे कहा, "जो अच्छी रसोई नहीं पका सकता वह साधु भी नहीं बन सकता। यदि मन शुद्ध न हो तो किसी से अच्छी स्वादिष्ट रसोई नहीं पकती।"

थोड़ी देर बाद चारों ओर शंख-ध्वनि होने लगी तथा घण्टा बजने लगा और स्त्रीकण्ठ की 'उलु' ध्वनि सुनाई दी। स्वामीजी बोले, "अरे, ग्रहण पड़ने लगा, मैं सो जाऊँ, तू चरण सेवा कर।" यह कहकर वे कुछ आलस्य और तन्द्रा का अनुभव करने लगे। शिष्य भी उनकी पदसेवा करते करते विचार करने लगा, "ऐसे पुण्य समय में गुरुपदों की सेवा करना ही मेरा जप, तपस्या और

गंगास्नान है।" ऐसा विचार कर शान्त मन से स्वामीजी की सेवा करने लगा। ग्रहण के समय सूर्य के छिप जाने से चारों दिशाओं में सायंकाल के समान अन्धेरा छा गया।

जब ग्रहण मुक्त होने में पन्द्रह-बीस मिनट ही थे, तब स्वामीजी सोकर उठे और मुँह हाथ धोकर हँसकर शिष्य से बोले, "लोग कहते हैं कि ग्रहण के समय यदि कुछ किया जाये, तो उससे करोड़ गुना अधिक फल प्राप्त होता है। इसलिए मैंने यह सोचा था कि महामाया ने तो इस शरीर को अच्छी नींद दी ही नहीं; यदि इस समय कुछ देर सो जाऊँ तो आगे अच्छी नींद मिलेगी, परन्तु ऐसा नहीं हो सका। अधिक से अधिक कोई पन्द्रह मिनट ही सोया हूँगा।"

इसके बाद स्वामीजी के पास सब के आ बैठने पर, स्वामीजी ने शिष्य को उपनिषद् के सम्बन्ध में कुछ बोलने का आदेश किया। इससे पहिले शिष्य ने स्वामीजी के सामने कभी वक्तृता नहीं दी थी। उसका हृदय काँपने लगा, परन्तु स्वामीजी छोड़ने वाले कब थे। लाचारी से शिष्य खड़ा होकर "परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भुः" मन्त्र पर व्याख्यान देने लगा। इसके आगे गुरुभक्ति और त्याग की महिमा वर्णन की और ब्रह्मज्ञान ही परम पुरुषार्थ है, यह सिद्धान्त बतलाकर बैठ गया। स्वामीजी ने शिष्य का उत्साह बढ़ाने को बार बार करतलध्वनि कर कहा, "बहुत अच्छा! बहुत अच्छा!!"

तत्पश्चात् स्वामीजी ने शुद्धानन्द, प्रकाशानन्द आदि स्वामियों को कुछ बोलने का आदेश दिया। स्वामी शुद्धानन्द ने ओजस्विनी भाषा में ध्यान सम्बन्धी एक छोटा-सा व्याख्यान दिया। उसके बाद स्वामी प्रकाशानन्द आदि के कुछ व्याख्यान होने पर स्वामीजी वहाँ से बाहर बैठक में आये। तब सन्ध्या होने में कोई घन्टा भर

था। वहाँ सब के पहुँचने पर स्वामीजी ने कहा, "जिसको जो कुछ पूछना हो, पूछो।"

शुद्धानन्द स्वामी ने पूछा, "महाराज, ध्यान का स्वरूप क्या है?"

स्वामीजी---किसी विषय पर मन को एकाग्र करने का ही नाम ध्यान है। किसी एक विषय पर भी मन की एकाग्रता होने से उसकी एकाग्रता जिसमें चाहो उसमें कर सकते हो।

शिष्य---शास्त्र में विषय और निर्विषय के भेदानुसार दो प्रकार के ध्यान पाये जाते हैं। इसका क्या अर्थ है और उनमें से कौन श्रेष्ठ है?

स्वामीजी---प्रथम किसी एक विषय का आश्रय कर ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। किसी समय मैं एक छोटे-से काले बिन्दु पर मन को एकाग्र किया करता था। परन्तु कुछ दिन के अभ्यास के बाद वह बिन्दु मुझे दीखना बन्द हो जाता था। वह मेरे सामने है या नहीं यह भी विचार नहीं कर सकता था। वायुहीन समुद्र के समान मन का सम्पूर्ण निरोध हो जाता था। अर्थात् वृत्तिरूपी कोई लहर नहीं रहती थी। ऐसी अवस्था में मुझे अतीन्द्रिय सत्य की परछाईं कुछ कुछ दिखायी देती थी। इसलिए मेरा विचार है कि किसी सामान्य बाहरी विषय का भी आश्रय लेकर ध्यान करने का अभ्यास करने से मन की एकाग्रता होती है। जिसमें जिसका मन लगता है, उसीका आश्रय कर ध्यान का अभ्यास करने से मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है। इसीलिए हमारे देश में इतने देव-देवी-मूर्तियों के पूजने की व्यवस्था है। देव-देवीपूजा से ही शिल्प की उन्नति हुई है। परन्तु इस बात को अभी छोड़ दो। अब बात यह है कि ध्यान का बाहरी अवलम्बन सब का एक नहीं हो सकता। जो जिस विषय के आश्रय से ध्यान-सिद्ध हो गया है, वह उस

अवलम्बन का ही वर्णन और प्रचार कर गया है। तत्पश्चात् क्रमश: वे मन के स्थिर करने के लिए हैं, इस बात के भूलने पर लोगों ने इस बाहरी अवलम्बन को ही श्रेष्ठ समझ लिया है। जो उपाय था, उसको लेकर लोग मग्न हो रहे हैं और जो उद्देश्य था, उस पर लक्ष्य कम हो गया है। मन को वृत्तिहीन करना ही उद्देश्य है; किन्तु किसी विषय में तन्मय न होने से यह कभी नहीं हो सकता।

शिष्य—मनोवृत्ति के विषयाकार होने से उसमें फिर ब्रह्म की धारणा कैसे हो सकती है ?

स्वामीजी—वृत्ति पहले विषयाकार होती है, यह ठीक है; किन्तु तत्पश्चात् उस विषय का कोई ज्ञान नहीं रहता, तब शुद्ध 'अस्ति' मात्र का ही बोध रहता है।

शिष्य—महाराज, मन की एकाग्रता होने पर भी कामनाओं और वासनाओं का उदय क्यों होता है ?

स्वामीजी—यह सब पूर्व संस्कार से होता है! बुद्धदेव जब समाधि अवस्था को प्राप्त करने को ही थे, उस समय भी 'मार' उनके सामने आया। 'मार' स्वयं कुछ भी नहीं था, वरन् मन के पूर्वसंस्कार का ही छायारूप से बाहर प्रकाश हुआ था।

शिष्य—सिद्ध होने के पहले नाना विभीषिका देखने की बातें जो सुनने में आती हैं, क्या वे सब मन की ही कल्पनाएँ हैं ?

स्वामीजी—और नहीं तो क्या ? यह निश्चित है कि उस अवस्था में साधक विचार नहीं कर सकता कि यह सब उसके मन का ही बाहरी प्रकाश है; परन्तु वास्तव में बाहर कुछ भी नहीं है। यह जगत् जो देखते हो यह भी नहीं है; सभी मन की कल्पनाएँ हैं। मन के वृत्तिशून्य होने पर उसमें ब्रह्माभास होता

है। 'यं यं लोकं मनसा संविभाति' उन उन लोकों के दर्शन होते हैं। जो संकल्प किया जाता है वही सिद्ध होता है। ऐसी सत्य और संकल्प अवस्था लाभ करके भी जो जागरूक रह सकता है किसी भी प्रकार की वासनाओं का दास नहीं होता, वही सिद्ध होता है; परन्तु जो ऐसी अवस्था लाभ करने पर विचलित हो जाता है, वह नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करके परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है।

इन बातों को कहते कहते स्वामीजी बारम्बार 'शिव' नाम का उच्चारण करने लगे। अन्त में फिर बोले, "बिना त्याग के इस गम्भीर जीवन-समस्या का गूढ़ अर्थ निकालना और किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं है। 'त्याग'--'त्याग', यही तुम्हारे जीवन का मूलमन्त्र होना चाहिए। 'सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।'"

परिच्छेद ९

स्थान—कलकत्ता

वर्ष—१८९७ इसवी

विषय—श्रीरामकृष्ण के भक्तों को बुलाकर स्वामीजी के द्वारा कलकत्ते में रामकृष्ण मिशन समिति का संगठन—श्रीरामकृष्ण के उदार भावों के प्रचार के विषय में सब की सम्मति पूछना—श्रीरामकृष्ण को स्वामीजी किस भाव से देखते थे—श्रीरामकृष्ण स्वामीजी को किस दृष्टि से देखते थे, तत्सम्बन्ध में श्रीयोगानन्द स्वामी की उक्ति—अपने ईश्वरावतारत्व के विषय में श्रीरामकृष्ण की उक्ति—अवतारत्व में विश्वास करने की कठिनाई; देखने पर भी नहीं होता, इसका होना उनकी दया पर ही निर्भर है—कृपा का स्वरूप और कौन लोग उस कृपा को प्राप्त करते हैं—स्वामीजी और गिरीश बाबू का वार्तालाप।

स्वामीजी का अवस्थान कुछ दिनों से बागबाजार में स्व० बलराम बसुजी के भवन में है। स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण के सब गृहस्थ भक्तों को यहाँ एकत्रित होने के लिए समाचार भेजा था। इसीसे दिन के तीन बजे श्रीरामकृष्ण के भक्तजन एकत्रित हुए हैं। स्वामी योगानन्द भी वहाँ उपस्थित हैं। स्वामीजी ने एक समिति संगठित करने के उद्देश्य से सब को निमन्त्रित किया है। सब महानुभावों के बैठ जाने पर स्वामीजी ने कहा, "अनेक देशों में भ्रमण करने पर मैंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि बिना संघ के कोई भी बड़ा कार्य सिद्ध नहीं होता। परन्तु हमारे देश में इसका निर्माण यदि शुरू से ही सर्वसाधारण के मतानुसार (वोट द्वारा) किया जाय तो मुझे ऐसा अनुमान नहीं होता कि

वह अधिक कार्य करेगा। पाश्चात्य देशों के लिए यह नियम अच्छा है, क्योंकि वहाँ सब नरनारी अधिक शिक्षित हैं और हमारे समान द्वेषपरायण नहीं हैं। वे गुण का सम्मान करना जानते हैं। मैं स्वयं एक तुच्छ मनुष्य हूँ, परन्तु मेरा भी उन्होंने कितना सत्कार किया। इस देश में शिक्षाविस्तार के साथ जब साधारण लोग और भी सहृदय बनेंगे और अपने हृदय को छोटे छोटे मतों की संकीर्ण सीमा से हटाकर उदारता से विचार करेंगे, तब साधारण लोगों के मतानुसार काम चल सकता है। इन सब बातों का विचार करके मैं देखता हूँ कि हमारे इस संघ के लिए एक प्रधान संचालक (Dictator) होना आवश्यक है, सब लोग उसीके आदेश को मानें। कुछ समय पश्चात् सब के मतानुसार ही कार्य करना पड़ेगा।

यह संघ उन श्रीरामकृष्ण के नाम पर स्थापित होगा जिनके नाम पर भरोसा कर हम संन्यासी हुए और आप सब महानुभाव जिनको अपना जीवन-आदर्श मान संसार-आश्रमरूप कार्यक्षेत्र में विराजित हैं और जिनके देहावसान से बीस ही वर्ष में प्राच्य तथा पाश्चात्य जगत् में उनके पवित्र नाम और अद्भुत जीवनी का प्रसार ऐसा आश्चर्यजनक हुआ है। हम सब प्रभु के सेवक हैं, आप लोग इस कार्य में सहायता दीजिये।

श्रीयुत गिरीशचन्द्र तथा अन्यान्य गृहस्थों के इस प्रस्ताव पर सम्मत होने पर रामकृष्ण संघ की भावी कार्यप्रणाली की आलोचना होने लगी। संघ का नाम "रामकृष्ण संघ" अथवा "रामकृष्ण मिशन" रखा गया। उसके उद्देश्यादि नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

उद्देश्य—मनुष्यों के हित के निमित्त श्रीरामकृष्ण ने जिन तत्त्वों का विवेचन किया है और उनके जीवन में कार्य द्वारा जिनकी पूर्ति हुई है, उन

सब का प्रचार तथा मनुष्यों की दैहिक, मानसिक और पारमार्थिक उन्नति के निमित्त वे सब तत्त्व जिस प्रकार से प्रयुक्त हो सकें, उसमें सहायता करना ही इस संघ (मिशन) का उद्देश्य है।

व्रत—जगत् के सब धर्ममतों को एक अक्षय सनातन धर्म का रूपान्तर मात्र जानकर, समस्त धर्मावलम्बियों में मित्रता स्थापित करने के लिए श्रीरामकृष्ण ने जिस कार्य की अवतारणा की थी, उसीका परिचालन करना इस संघ का व्रत है।

कार्यप्रणाली—मनुष्यों की सांसारिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए विद्यादान करने के लिए उपयुक्त लोगों को शिक्षित करना। शिल्प-कार्य करके अथवा परिश्रम से जो अपनी जीविका चलाते हैं, उनका उत्साह बढ़ाना और वेदान्त तथा अन्यान्य धर्मभावों का, जैसी कि उनकी रामकृष्ण-जीवन में व्याख्या हुई थी, मनुष्य-समाज में प्रचार करना।

भारतवर्षीय कार्य—भारतवर्ष के नगर नगर में आचार्य-व्रत ग्रहण करने के अभिलाषी गृहस्थ या संन्यासियों की शिक्षा के निमित्त आश्रम स्थापित करना और जिनसे वे दूर दूर जाकर साधारण जनों को शिक्षा दे सकें उन उपायों का अवलम्बन करना।

विदेशीय कार्यविभाग—भारतवर्ष से बाहर अन्यान्य विदेशों में व्रतधारियों को भेजना और उन देशों में स्थापित सब आश्रमों का भारतवर्ष के आश्रमों से मित्रभाव और सहानुभूति बढ़ाना तथा नये नये आश्रमों की स्थापना करना।

स्वामीजी स्वयं ही उस समिति के साधारण सभापति बने। स्वामी ब्रह्मानन्दजी कलकत्ता केन्द्र के सभापति और स्वामी योगानन्दजी सहकारी बने। एटर्नी बाबू नरेन्द्रनाथ मित्र इसके सेक्रेटरी, डाक्टर शशिभूषण घोष और शरच्चन्द्र सरकार अण्डर-सेक्रेटरी और शिष्य शास्त्रपाठक निर्वाचित हुए। स्व० बलराम बसुजी के मकान पर पत्येक रविवार को चार बजे के उपरान्त समिति का अधिवेशन होगा, यह नियम भी निश्चित किया गया।

इस सभा के पश्चात् तीन वर्ष तक "रामकृष्ण मिशन" समिति का अधिवेशन प्रति रविवार को बलराम बसुजी के मकान पर हुआ। स्वामीजी जब तक फिर विलायत नहीं गये, तब तक सुविधानुसार समिति के अधिवेशन में उपस्थित होकर कभी उपदेश आदि देकर या कभी अपने सुन्दर कण्ठ से गान सुनाकर सब को मोहित करते थे।

सभा की समाप्ति पर सदस्य लोगों के चले जाने के पश्चात् योगानन्द स्वामी को लक्ष्य करके स्वामीजी कहने लगे, "इस प्रकार से कार्य तो आरम्भ किया गया, अब देखना चाहिए कि श्रीगुरुदेव की इच्छा से कहाँ तक इसका निर्वाह होता है।"

स्वामी योगानन्द——तुम्हारा यह सब कार्य विदेशी ढंग पर हो रहा है। श्रीरामकृष्ण का उपदेश क्या ऐसा ही था?

स्वामीजी——तुमने कैसे जाना कि यह सब श्रीरामकृष्ण के भावानुसार नहीं है? तुम क्या अनन्त भावमय गुरुदेव को अपनी सीमा में आबद्ध करना चाहते हो? मैं इस सीमा को तोड़कर उनके भाव जगत् भर में फैलाऊँगा। श्रीरामकृष्ण ने उनके पूजा-पाठ का प्रचार करने का उपदेश मुझे कभी नहीं दिया। वे साधन-भजन, ध्यान-धारणा तथा और और ऊँचे धर्मभावों के सम्बन्ध में जो सब उपदेश दे गये हैं, उनको पहले अपने में अनुभव करके फिर सर्वसाधारण को उन्हें सिखलाना होगा। मत अनन्त हैं; पथ भी अनन्त हैं। सम्प्रदायों से भरे हुए जगत् में और एक नवीन सम्प्रदाय के पैदा कर देने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ। प्रभु के चरणों में आश्रय पाकर हम कृतार्थ हो गये हैं। त्रिजगत् के लोगों को उनके सब भावों को देने के निमित्त ही हमारा जन्म हुआ है।

इन बातों का प्रतिवाद न करने पर स्वामी योगानन्द से स्वामीजी फिर कहने लगे, "प्रभु की कृपा का परिचय इस जीवन में बहुत पाया। वे ही तो पीछे खड़े होकर इन सब कार्यों को करा रहे हैं। जब भूख से कातर होकर वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ था, जब कौपीन बाँधने को वस्त्र तक नहीं था, जब कौड़ीहीन होकर पृथ्वी का भ्रमण करने को कृतसंकल्प हुआ था, तब भी श्रीगुरुदेव की कृपा से सब बातों में मैंने सहायता पायी। फिर जब इसी विवेकानन्द के दर्शन करने के निमित्त शिकागो के रास्तों में लठ चले थे, जिस सम्मान के शतांश का एकांश भी प्राप्त करने पर साधारण मनुष्य उन्मत्त हो जाते हैं, श्रीगुरुदेव की कृपा से उस सम्मान को भी सहज में पचा गया। प्रभु की इच्छा से सर्वत्र विजय है। अब इस देश में कुछ कार्य कर जाऊँगा। तुम सन्देह छोड़कर मेरे कार्य में सहायता करो, देखोगे कि उनकी इच्छा से सब पूर्ण हो जायगा।"

स्वामी योगानन्द—तुम जैसा आदेश करोगे, हम वैसा ही करेंगे। हम तो सदा से तुम्हारे आज्ञाकारी हैं। मैं तो कभी कभी स्पष्ट ही देखता हूँ कि श्रीगुरुदेव स्वयं तुमसे यह सब कार्य करा रहे हैं। फिर बीच बीच में मन में न जाने क्यों ऐसा सन्देह आ जाता है। मैंने श्रीगुरुदेव के कार्य करने की रीति कुछ और ही प्रकार की देखी थी, इसीलिए सन्देह होता है कि कहीं हम उनकी शिक्षा छोड़कर दूसरे पथ पर तो नहीं चल रहे हैं? इसी कारण तुमसे ऐसा कहता हूँ और सावधान कर देता हूँ।

स्वामीजी—इसके उत्तर में मैं कहता हूँ कि साधारण भक्तों ने श्रीगुरुदेव को जहाँ तक समझा है, वास्तव में हमारे प्रभु उतने ही नहीं हैं; वरन् वे अनन्त भावमय हैं। ब्रह्मज्ञान की मर्यादा हो भी,

किन्तु प्रभु के अगम्य भावों की कुछ मर्यादा नहीं है। उनके कृपा-कटाक्ष से एक क्यों, लाखों विवेकानन्द अभी उत्पन्न हो सकते हैं। पर ऐसा न करके वे अपनी ही इच्छा से मेरे द्वारा अर्थात् मुझे यन्त्रवत् बनाकर, यहाँ सब कार्य करा रहे हैं। इसमें मैं क्या करूँ ?

यह कहकर स्वामीजी अन्य कार्य के निमित्त कहीं चले गये। स्वामी योगानन्द शिष्य से कहने लगे, "वाह ! नरेन्द्र का कैसा विश्वास है ! इस पर भी क्या तूने ध्यान दिया है ? उन्होंने कहा कि श्रीगुरुदेव के कृपाकटाक्ष से लाखों विवेकानन्द बन सकते हैं ! धन्य है उनकी गुरुभक्ति को ! यदि ऐसी भक्ति का शतांश भी हम प्राप्त कर सकते तो कृतार्थ हो जाते।"

शिष्य—महाराज, श्रीरामकृष्ण स्वामीजी के विषय में क्या कहा करते थे ?

योगानन्द—वे कहा करते थे, 'इस युग में ऐसा आधार जगत् में और कभी नहीं आया।' कभी कहते थे, 'नरेन्द्र पुरुष है और मैं प्रकृति हूँ, नरेन्द्र मेरी ससुराल है।' कभी कहा करते थे, 'अखण्ड के राज्य के हैं,' कभी कहते थे, 'अखण्ड श्रेणी के हैं—वहाँ देव-देवी सब अपना प्रकाश ब्रह्म से स्वतन्त्र रखने को समर्थ न होकर, उनमें लीन हो गये हैं, वहाँ केवल सात ऋषियों को अपना प्रकाश स्वतन्त्र रखकर ध्यान में निमग्न रहते देखा, नरेन्द्र उनमें से एक का अंशावतार है।' कभी कहा करते थे, 'जगत्-पालक नारायण ने नर और नारायण नामक जिन दो ऋषियों की मूर्ति धारण करके जगत् के कल्याण के लिए तपस्या की थी, नरेन्द्र उसी नर ऋषि का अवतार है,' कभी कहते थे, 'शुकदेवजी के समान इसको भी माया ने स्पर्श नहीं किया है।'

शिष्य—क्या वे सब बातें सत्य हैं ? या श्रीरामकृष्ण भावा-

वस्था में समय समय पर एक एक प्रकार का उनको कहा करते थे।

योगानन्द—उनकी सब बातें सत्य हैं। उनके श्रीमुख से भूल से भी मिथ्या बात नहीं निकली।

शिष्य—तब फिर क्यों कभी कभी ऐसे भिन्न प्रकार से कहा करते थे।

योगानन्द—तेरी समझ में नहीं आया। नरेन्द्र को सब का समष्टि प्रकाश कहा करते थे। क्या तुझे नहीं दीख पड़ता कि नरेन्द्र में ऋषि का वेद-ज्ञान, शंकर का त्याग, बुद्ध का हृदय, शुकदेव का मायारहित भाव और ब्रह्मज्ञान का पूर्ण विकास एक साथ वर्तमान हैं? श्रीरामकृष्ण इसीसे बीच बीच में नरेन्द्र के विषय में ऐसी नाना प्रकार की बातें कहा करते थे। जो वे कहते थे वह सब सत्य है।

शिष्य सुनकर निर्वाक् हो गया। इतने में स्वामीजी लौटे और शिष्य से पूछा, "क्या तेरे देश में सब लोग श्रीरामकृष्ण के नाम से विशेष रूप से परिचित हैं?"

शिष्य—मेरे देश से तो केवल नाग महाशय ही श्रीरामकृष्ण के पास आये थे। उनसे समाचार पाने पर अनेक लोग श्रीराम-कृष्ण के विषय में जानने को उत्सुक हुए हैं; परन्तु वहाँ के नागरिक श्रीरामकृष्ण को ईश्वर के अवतार अभी तक नहीं जान सके, और कोई कोई तो यह बात सुनकर भी इस पर विश्वास नहीं करते।

स्वामीजी—इस बात पर विश्वास करना क्या तूने ऐसा सुगम समझ रखा है? हमने उनको सब प्रकार से जाँचा, उनके मुँह से यह बात बारम्बार सुनी, चौबीस घण्टे उनके साथ रहे तिस पर भी बीच बीच में हमको सन्देह होता है, तो फिर औरों को क्या कहें?

शिष्य---महाराज, श्रीरामकृष्ण पूर्णब्रह्म भगवान थे, क्या यह बात उन्होंने कभी अपने मुँह से कही थी ?

स्वामीजी---कितने ही बार कही थी। हम सब लोगों से कही थी। जब वे काशीपुर के बाग में थे और उनका शरीरत्याग होने को ही था, तब मैंने उनकी शय्या के निकट बैठकर एक दिन मन में सोचा कि यदि तुम अब कह सको "मैं भगवान हूँ" तब मेरा विश्वास होगा कि तुम सत्य ही भगवान हो। तब चोला के छूटने के दो दिन बाकी थे। उक्त बात को सोचते ही श्रीगुरुदेव ने एका-एक मेरी ओर देखकर कहा, "जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे ही अब इस शरीर में रामकृष्ण हैं,---तेरे वेदान्त के मत से नहीं।" मैं तो सुनकर भौचक्का हो गया। प्रभु के श्रीमुख से बारम्बार सुनने पर भी हमें ही अभी तक पूर्ण विश्वास नहीं हुआ---सन्देह और निराशा में मन कभी कभी आन्दोलित हो जाता है---तो फिर औरों की बात क्या ? हमारे ही समान देहधारी एक मनुष्य को ईश्वर कहकर निर्देश करना और उन पर विश्वास रखना बड़ा ही कठिन है। सिद्धपुरुष या ब्रह्मज्ञ तक अनुमान करना सम्भव है। उनको चाहे जो कुछ कहो, चाहे जो कुछ समझो, महापुरुष मानो या ब्रह्मज्ञ, इसमें क्या धरा है। परन्तु श्रीगुरुदेव जैसे पुरुषोत्तम ने इससे पहले जगत् में और कभी जन्म नहीं लिया। संसार के घोर अन्धकार में अब यही महापुरुष ज्योतिः-स्तम्भस्वरूप हैं। इनकी ही ज्योति से मनुष्य संसारसमुद्र के पार चले जायेंगे।

शिष्य---मेरा अनुमान है कि जब तक कुछ देख-सुन न लें, तब तक यथार्थ विश्वास नहीं होता। सुना है कि मथुर बाबू ने श्रीरामकृष्ण के विषय में कितनी ही अद्भुत घटनाएँ प्रत्यक्ष की

थीं और उन्हीं से उनका विश्वास उन पर जमा था।

स्वामीजी—जिसे विश्वास नहीं है, उसे देखने पर भी कुछ नहीं होता। देखने पर सोचता है कि यह कहीं अपने मस्तिष्क का विकार या स्वप्नादि तो नहीं है? दुर्योधन ने भी विश्वरूप देखा था, अर्जुन ने भी विश्वरूप देखा था। अर्जुन को विश्वास हुआ किन्तु दुर्योधन ने उसे जादू समझा! यदि वे ही न समझायें तो और किसी प्रकार से समझने का उपाय नहीं है। किसी किसी को बिना कुछ देखे सुने ही पूर्ण विश्वास हो जाता है और किसी को बारह वर्ष तक प्रत्यक्ष सामने रहकर नाना प्रकार की विभूतियाँ देखकर भी सन्देह में पड़ा रहना होता है। सारांश यह है कि उनकी कृपा चाहिए, परन्तु लगे रहने से ही उनकी कृपा होगी।

शिष्य—महाराज, कृपा का क्या कोई नियम है?

स्वामीजी—है भी और नहीं भी।

शिष्य—यह कैसे?

स्वामीजी—जो तन-मन-वचन से सर्वदा पवित्र रहते हैं, जिनका अनुराग प्रबल है, जो सत्-असत् का विचार करने वाले हैं और ध्यान तथा धारणा में संलग्न रहते हैं उन्हीं पर भगवान की कृपा होती है। परन्तु भगवान प्रकृति के सब नियमों (Natural laws) के परे हैं अर्थात् किसी नियम के वश में नहीं हैं। श्रीगुरुदेव जैसा कहा करते थे, 'उनका स्वभाव बच्चों के समान है।' इस कारण यह देखने में आता है कि किसी किसी ने करोड़ों जन्मों से उन्हें पुकारा, किन्तु उनसे कोई उत्तर न पा सका। फिर जिसको हम पापी, तापी और नास्तिक समझते हैं, उसमें एकाएक चैतन्य का प्रकाश हुआ। उसके न माँगने पर भी भगवान ने उस पर कृपा कर दी। तुम यह कह सकते हो कि उसके पूर्वजन्म का संस्कार

था, परन्तु इस रहस्य को समझना बड़ा कठिन है। श्रीगुरुदेव ने ऐसा भी कहा है कि उन्हें ही सम्पूर्ण सहारा समझो। जैसे पत्तल तूफान के सामने रहती है उसी प्रकार तुम भी रहो। उन्होंने फिर कहा कि कृपारूपी हवा तो चल ही रही है, तुम अपना पाल उठा दो।

शिष्य——महाराज, यह तो बड़ी कठिन बात है। कोई युक्ति ही यहाँ नहीं ठहर सकती।

स्वामीजी——तर्क विचार की दौड़ तो माया से अधिकृत इसी जगत् में है, देश-काल-निमित्त की सीमा के अन्तर्गत है; परन्तु वे देश-कालातीत हैं। उनके नियम (laws) भी हैं, और वे नियम के बाहर भी हैं। प्रकृति के जो कुछ नियम हैं, उन्होंने ही उनको बनाया या वे ही स्वयं ये नियम बने और इन सब के परे भी रहे। जिन्होंने उनकी कृपा को प्राप्त किया, वे उसी क्षण सब नियमों के परे (beyond law) पहुँच जाते हैं। इसीलिए कृपा का कोई विशेष नियम (condition) नहीं है। कृपा को प्राप्त करना उनकी इच्छा पर है। यह कुल जगत्-सृजन ही उनकी एक लीला है। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।' जो इस जगत् को अपनी इच्छानुसार तोड़ता और बनाता है, क्या वह अपनी कृपा से किसी महापापी को मुक्ति नहीं दे सकता? तब भी किसी किसी से कुछ साधन-भजन करा लेते हैं और किसी से नहीं भी कराते। यह भी उन्हीं की लीला है।

शिष्य——महाराज, यह बात ठीक समझ में नहीं आयी।

स्वामीजी——और अधिक समझने से क्या फल पाओगे? जहाँ तक सम्भव हो उनसे ही मन लगाये रखो। इसीसे इस जगत् की माया स्वयं छूट जायगी; परन्तु लगा रहना पड़ेगा। कामिनी और

कांचन से मन को पृथक् रखना पड़ेगा। सर्वदा सत् और असत् का विचार करना होगा। मैं शरीर नहीं हूँ, ऐसे विदेह भाव से अवस्थान करना पड़ेगा। मैं सर्वव्यापी आत्मा ही हूँ इसी की अनुभूति होनी चाहिए। इसी प्रकार लगे रहने का ही नाम पुरुषकार है। इस पुरुषकार की सहायता से ही उन पर निर्भरता आती है, जिसको परम पुरुषार्थ कहते हैं।

स्वामीजी फिर कहने लगे, "यदि तुम पर उनकी कृपा नहीं होती तो तुम यहाँ क्यों आते? श्रीगुरुदेव कहा करते थे, 'जिन पर भगवान की कृपा हुई है उनको यहाँ अवश्य ही आना होगा। वह कहीं भी क्यों न रहे, कुछ भी क्यों न करे, यहाँ की बातों से और यहाँ के भावों से उसे अवश्य अभिभूत होना होगा।' तुम अपने ही सम्बन्ध में सोचकर देखो न, जो नाग महाशय भगवान की कृपा से सिद्ध हुए थे और उनकी कृपा को ठीक ठीक समझते थे, उनका सत्संग भी क्या बिना ईश्वर की कृपा के कभी हो सकता है? 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' जन्म-जन्मान्तर की सुकृति से ही महापुरुषों के दर्शन होते हैं। शास्त्र में उत्तमा भक्ति के जो लक्षण दिये हैं, वे सभी नाग महाशय में प्रकट हुए थे। लोग जो 'तृणादपि सुनीचेन' कहते हैं वह एकमात्र नाग महाशय में ही मैंने देखा है। तुम्हारा पूर्व बंगाल देश धन्य है, क्योंकि नाग महाशय के चरणरेणु से वह पवित्र हो गया है।"

बातचीत करते हुए स्वामीजी महाकवि गिरीशचन्द्र घोष के भवन की ओर घूमते हुए निकले। स्वामी योगानन्द और शिष्य भी साथ चले। गिरीश बाबू के भवन में उपस्थित होकर स्वामीजी ने आसन ग्रहण किया और कहा, "जी० सी०*, आजकल मन में

---

* गिरीशचन्द्र को स्वामीजी जी० सी० कहकर पुकारा करते थे।

केवल यही उदय हो रहा कि यह करूँ, वह करूँ, उनके बचनों को संसार में फैला दूँ इत्यादि। फिर यह भी शंका होती है कि इससे भारत में कहीं एक नवीन सम्प्रदाय का सृजन न हो जाय। इसलिए बड़ी सावधानी से चलना पड़ता है। कभी ऐसा भी विचार हो आता है कि यदि कोई सम्प्रदाय बन जाय तो बन जाने दो। फिर सोचता हूँ कि नहीं, उन्होंने तो किसी के भाव को कभी नष्ट नहीं किया। समदर्शन करना ही उनका भाव था। ऐसा विचार कर अपनी इच्छा को समय समय पर दबा देता हूँ। इस बारे में तुम्हारा क्या विचार है?"

गिरीश बाबू—मेरा विचार और क्या हो सकता है। तुम तो उनके हाथ में यन्त्र के समान हो, जो करायेंगे वह तुमको अवश्य करना होगा। इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता। मैं तो देखता हूँ कि प्रभु की शक्ति ही तुमसे कार्य करा रही है। मुझे स्पष्ट यह प्रत्यक्ष हो रहा है।

स्वामीजी—और मैं देखता हूँ कि हम अपनी इच्छानुसार कार्य कर रहे हैं। परन्तु अपने आपद तथा विपद में, अभाव और दारिद्रय में भी वे प्रत्यक्ष होकर ठीक मार्ग पर मुझे चलाते हैं यह भी मैंने देखा है। परन्तु प्रभु की शक्ति का कुछ भी अनुमान नहीं कर सका।

गिरीश बाबू—उन्होंने तुम्हारे विषय में कहा था कि सब समझ जाने से ही सब शून्य हो जायगा; तो फिर कौन करेगा और किससे करायेगा?

ऐसे वार्तालाप के पश्चात् अमरीका के प्रसंग पर बातें होने लगीं। गिरीश बाबू ने स्वामीजी का ध्यान अन्य प्रसंग में ले जाने के लिए अपनी इच्छा से ही इस प्रसंग का आरम्भ किया, यही

मेरा अनुमान है। ऐसा करने का कारण पूछने पर गिरीश बाबू ने दूसरे समय मुझसे कहा था, "श्रीगुरुदेव के श्रीमुख से सुना है कि इस प्रकार के विषय का वार्तालाप करते करते यदि स्वामीजी को संसार-वैराग्य या ईश्वरोद्दीपना होकर अपने स्वरूप का एक बार दर्शन हो जाय, (अर्थात् वे अपने स्वरूप को पहिचान जायँ) तो एक क्षण भी उनका शरीर नहीं रहेगा।" इसीलिए मैंने देखा कि स्वामीजी के संन्यासी गुरुभाइयों ने जब जब उनको चौबीसों घण्टे श्रीगुरुदेव का प्रसंग करते हुए पाया, तब तब अन्यान्य प्रसंगों में उनका मन लगा दिया। अब अमरीका के प्रसंग में स्वामीजी तल्लीन हो गये। वहाँ की समृद्धि तथा स्त्री पुरुषों का गुणावगुण और उनके भोग-विलास इत्यादि की नाना कथाओं का वर्णन करने लगे।

परिच्छेद १०

स्थान—कलकत्ता

वर्ष—१८९७ ईसवी

विषय—स्वामीजी का शिष्य को ऋग्वेद पढ़ाना—पण्डित मैक्समूलर के सम्बन्ध में स्वामीजी का अद्भुत विश्वास—ईश्वर ने वेदमन्त्र का आश्रय लेकर सृष्टि रची है, इस वैदिक मत का अर्थ—वेद शब्दात्मक—'शब्द' पद का प्राचीन अर्थ—नाद से शब्द का और शब्द से स्थूल जगत् के विकास का समाधि-अवस्था में प्रत्यक्ष होना—समाधि-अवस्था में अवतारी पुरुषों को यह विषय कैसा प्रतिभात होता है—स्वामीजी की सहृदयता—ज्ञान और प्रेम के अविच्छेद्य सम्बन्ध के विषय में गिरीश बाबू से शिष्य का वार्तालाप—गिरीश बाबू के सिद्धान्त शास्त्र के विरोधी नहीं—गुरुभक्तिरूपी शक्ति से गिरीश बाबू ने सत्यसिद्धान्तों को प्रत्यक्ष किया—बिना समझे ही दूसरों का अनुकरण करने लगना अनुचित है—भक्त तथा ज्ञानी भिन्न भिन्न स्थानों से निरीक्षण करके कहते हैं, इसीसे उनके कथन में कुछ भिन्नता का आभास होना—सेवाश्रम स्थापन करने के निमित्त स्वामीजी का विचार।

आज दस दिन से शिष्य स्वामीजी से ऋग्वेद का सायनभाष्य पढ़ता है। स्वामीजी बागबाजार में स्व० बलराम बसुजी के भवन में ही ठहरे हुए हैं। किसी धनी के घर से मैक्समूलर के प्रकाशित किये हुए ऋग्वेद ग्रन्थ के सब भाग लाये गये हैं। प्रथम तो ग्रन्थ नया, तिस पर वैदिक भाषा कठिन होने के कारण अनेक स्थानों पर शिष्य अटक जाता था। यह देखकर स्वामीजी उसको स्नेह से गँवार कहकर कभी कभी उसकी हँसी उड़ाते थे और उन स्थानों का उच्चारण तथा पाठ बतलाते थे। वेद के अनादित्व को

प्रमाणित करने के निमित्त सायनाचार्य ने जो अद्‌भुत युक्तिकौशल प्रकट किया है उसकी व्याख्या करते समय स्वामीजी ने भाष्यकार की वहुत प्रशंसा की और कहीं कहीं प्रमाण देकर उन पदों के गूढ़ार्थ पर अपना भिन्न मत प्रकट कर सायन की ओर कटाक्ष भी किया।

इसी प्रकार कुछ देर तक पठनपाठन होने पर स्वामीजी ने मैक्समूलर के सम्बन्ध में कहा, "मुझे कभी कभी ऐसा अनुमान होता है कि स्वयं सायनाचार्य ने अपने भाष्य का अपने ही आप उद्धार करने के निमित्त मैक्समूलर के रूप में पुन: जन्म लिया है। ऐसा सिद्धान्त मेरा बहुत दिनों से था, पर मैक्समूलर को देखकर मेरा सिद्धान्त और भी दृढ़ हो गया है। ऐसा परिश्रमी और ऐसा वेदवेदान्तसिद्ध पण्डित हमारे देश में भी नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण पर भी उनकी कैसी गम्भीर भक्ति थी! उनके अवतारत्व पर भी उनका विश्वास है। मैं उनके ही भवन में अतिथि रहा था—कैसी देखभाल और सत्कार किया! दोनों वृद्ध पति-पत्नी को देखकर ऐसा अनुमान होता था कि मानो श्रीवशिष्ठ देव और देवी अरुन्धती संसार में वास कर रहे हैं। मुझे विदा करते समय वृद्ध की आँखों से आँसू टपकने लगे।"

शिष्य—अच्छा महाराज, यदि सायन ही मैक्समूलर हुए हैं, तो पवित्र भूमि भारत को छोड़कर उन्होंने म्लेच्छ बन कर क्यों जन्म लिया?

स्वामीजी—'मैं आर्य हूँ,' 'वे म्लेच्छ हैं' आदि विचार अज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं। जो वेद के भाष्यकार हैं, जो ज्ञान की तेजस्वी मूर्ति हैं उनके लिए वर्णाश्रम या जातिविभाग कैसा? उनके सम्मुख यह सब अर्थहीन है। जीव के उपकारार्थ वे जहाँ चाहें, जन्म ले सकते हैं। विशेषकर जिस देश में विद्या और धन

दोनों हैं, वहाँ यदि जन्म न लेते, तो ऐसा बड़ा ग्रन्थ छापने का व्यय कहाँ से आता ? क्या तुमने नहीं सुना कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस ऋग्वेद के छपवाने के लिए नौ लाख रुपये नगद दिये थे, परन्तु उससे भी काम पूरा नहीं हुआ। यहाँ के (भारत के) सैकड़ों वैदिक पण्डितों को मासिक वेतन देकर इस कार्य में नियुक्त किया गया था। विद्या और ज्ञान के निमित्त इतना व्यय और ऐसी प्रबल ज्ञान की तृष्णा वर्तमान समय में क्या किसी ने इस देश में देखी है ? मैक्समूलर ने स्वयं ही भूमिका में लिखा है कि वे पच्चीस वर्ष तक तो केवल इसके लिखने में ही लगे रहे और फिर छपवाने में बीस वर्ष और लगे। पैंतालीस वर्ष तक एक ही पुस्तक में लगे रहना क्या साधारण मनुष्य का कार्य है ? इसीसे समझ लो कि मैं क्यों उनको स्वयं सायन कहता हूँ।

मैक्समूलर के विषय में ऐसा वार्तालाप होने के पश्चात् फिर ग्रन्थपाठ होने लगा। वेद का आश्रय लेकर ही सृष्टि का विकास हुआ है, यह जो सायन का मत है, स्वामीजी ने नाना प्रकार से इसका समर्थन किया और कहा, "वेद का अर्थ अनादि सत्यों का समूह है। वेदज्ञ ऋषियों ने इन सत्यों को प्रत्यक्ष किया था। बिना अतीन्द्रिय दृष्टि के साधारण दृष्टि से ये सत्य प्रत्यक्ष नहीं होते। इसीसे वेद में ऋषि का अर्थ मन्त्रार्थदर्शी है, यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मणादि जातिविभाग वेद के बाद हुआ था। वेद शब्दात्मक अर्थात् भावात्मक हैं—अथवा अनन्त भावराशि की समष्टि को ही वेद कहते हैं। 'शब्द' इस पद का वैदिक प्राचीन अर्थ सूक्ष्मभाव है, जो फिर आगे स्थूल रूप से अपने को व्यक्त करता है। इसलिए प्रलयकाल में भावी सृष्टि का सूक्ष्म बीजसमूह वेद में ही सम्पुटित रहता है। इसीसे पुराण में पहले पहल मीनावतार से

वेद का उद्धार दिखायी देता है। प्रथमावतार से ही वेद का उद्धार हुआ। फिर उसी वेद से क्रमशः सृष्टि का विकास होने लगा। अर्थात् वेदनिहित शब्दों का आश्रय लेकर विश्व के सब स्थूल पदार्थ एक एक करके बनने लगे, क्योंकि शब्द या भाव सब स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म रूप हैं। पूर्व कल्पों में भी इसी प्रकार सृष्टि हुई थी, यह बात वैदिक सन्ध्या के मन्त्र में ही है, 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथिवीं चान्तरीक्षमथो स्वः।' समझे ?"

शिष्य--परन्तु महाराज, यदि कोई वस्तु ही न हो, तो शब्द किसके लिए प्रयोग होगा ? और पदार्थों के नाम भी कैसे बनेंगे ?

स्वामीजी—वर्तमान अवस्था में ऐसा ही अनुमान होता है। परन्तु देखो यह जो घट है, इसके टूट जाने पर क्या घटत्व भी नाश हो जायगा ? क्योंकि यह घट स्थूल है और घटत्व घट की सूक्ष्म या शब्दावस्था है। इसी प्रकार सब पदार्थों की शब्दावस्था ही उनकी सूक्ष्मावस्था है और जिन वस्तुओं को हम देखते हैं, स्पर्श करते हैं, वे ऐसी शब्दावस्था में अवस्थित पदार्थों के स्थूल विकास मात्र हैं, जैसे कार्य और उसका कारण। जगत् के नाश होने पर भी जगत्बोधात्मक शब्द अर्थात् सब स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म स्वरूप, ब्रह्म में कारणरूप से वर्तमान रहते हैं। जगद्विकास होने के पूर्व ही प्रथम इन पदार्थों की सूक्ष्मस्वरूपसमष्टि लहराने लगती है और उसीका प्रकृतिस्वरूप शब्दगर्भात्मक अनादि नाद ओंकार अपने आप ही उठता है। उसके बाद उसी समष्टि से विशेष विशेष पदार्थों की प्रथम सूक्ष्म प्रतिकृति अर्थात् शाब्दिक रूप और तत्पश्चात् उनका स्थूल रूप प्रकट होता है। यह शब्द ही वेद है। यही सायन का अभिप्राय है, समझे ?

शिष्य—महाराज, ठीक समझ में नहीं आया।

स्वामीजी—यहाँ तक तो समझ गये कि जगत् में जितने घट हैं उन सब के नष्ट होने पर भी 'घट' शब्द रह सकता है। फिर जगत् नाश हो जाने पर अर्थात् जिन वस्तुओं की समष्टि को जगत् कहते हैं, उनके नाश होने पर भी उन पदार्थों के बोध कराने वाले शब्द क्यों नहीं रह सकते हैं ? और उनसे सृष्टि फिर क्यों नहीं प्रकट हो सकती ?

शिष्य—परन्तु महाराज, 'घट घट' चिल्लाने से तो घट नहीं बनता है।

स्वामीजी—तेरे या मेरे इस प्रकार चिल्लाने से नहीं बनते किन्तु सिद्धसंकल्प ब्रह्म में घट की स्मृति होते ही घट का प्रकाश हो जाता है। जब साधारण साधकों की इच्छा से अघटन घटित हो जाता है, तब सिद्धसंकल्प ब्रह्म का कहना ही क्या है। सृष्टि से पूर्व ब्रह्म प्रथम शब्दात्मक बनते हैं, फिर ओंकारात्मक या नादात्मक होते हैं। तत्पश्चात् पहले कल्पों के विशेष विशेष शब्द जैसे भूः, भुवः, स्वः अथवा गो, मानव, घट, पट इत्यादि का प्रकाश उसी ओंकार से होता है। सिद्धसंकल्प ब्रह्म में क्रमशः एक-एक शब्द के होते ही उसी क्षण उन उन पदार्थों का भी प्रकाश हो जाता है और इस विचित्र जगत् का विकास हो उठता है। अब समझे न कि कैसे शब्द ही सृष्टि का मूल है ?

शिष्य—हाँ महाराज, समझ में तो आया, किन्तु ठीक धारणा नहीं होती।

स्वामीजी—अरे बच्चा ! प्रत्यक्षरूप से अनुभूति होना क्या ऐसा सुगम समझा है ? जब मन ब्रह्मावगाही होता है, तभी वह एक एक करके ऐसी अवस्थाओं में से होकर निर्विकल्प अवस्था में पहुँचता है। समाधि के पूर्वकाल में पहले अनुभव होता है कि

जगत् शब्दमय है, फिर वह शब्द गम्भीर ओंकार-ध्वनि में लीन हो जाता है। तत्पश्चात् वह भी सुनायी नहीं पड़ता और जो भी सुनने में आता है, उसके वास्तविक अस्तित्व पर सन्देह होने लगता है। इसी को अनादि नाद कहते हैं। इस अवस्था से आगे ही मन प्रत्यक्-ब्रह्म में लीन हो जाता है। बस, यहाँ सब निर्वाक् और स्थिर हो जाता है।

स्वामीजी की बातों से शिष्य को स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि स्वामीजी स्वयं इन अवस्थाओं में से होकर समाधि-भूमि पर अनेक बार गमनागमन कर चुके हैं। यदि ऐसा न होता तो ऐसे विशद रूप से वे इन सब बातों को समझा कैसे रहे थे? शिष्य ने निर्वाक् होकर सुना और विचार किया कि स्वयं इन अवस्थाओं की अनुभूति न करने से कोई दूसरों को ऐसी सुगमता से इन बातों को समझा नहीं सकता।

स्वामीजी ने फिर कहा, "अवतारतुल्य महापुरुष लोग समाधि अवस्था से जब 'मैं' और 'मेरा' राज्य में लौट आते हैं, तब वे प्रथम ही अव्यक्त नाद का अनुभव करते हैं। फिर नाद के स्पष्ट होने पर ओंकार का अनुभव करते हैं। ओंकार के पश्चात् शब्द-मय जगत् का अनुभव कर अन्त में स्थूल पंचभौतिक जगत् को प्रत्यक्ष देखते हैं। किन्तु साधारण साधक लोग अनेक कष्ट सहकर यदि किसी प्रकार से नाद के परे पहुँचकर ब्रह्म की साक्षात् उपलब्धि करें भी, तो फिर जिस अवस्था में स्थूल जगत् का अनुभव होता है वहाँ वे उतर नहीं सकते—ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं—'क्षीरे नीरवत्'।"

यह वार्तालाप हो ही रहा था कि इसी समय महाकवि गिरीशचन्द्र घोष वहाँ आ पहुँचे। स्वामीजी उनका अभिवादन कर

तथा कुशल प्रश्नादि पूछकर पुनः शिष्य को पढ़ाने लगे। गिरीश बाबू भी एकाग्रचित्त हो उसे सुनने लगे और स्वामीजी की इस प्रकार अपूर्व विशद रूप से वेदव्याख्या सुन मुग्ध होकर बैठे रहे।

पूर्व विषय का अनुसरण करके स्वामीजी फिर कहने लगे, "वैदिक और लौकिक भेद से शब्द दो अंशों में विभक्त हैं। 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' * में इसका विचार मैंने देखा है। इन विचारों से गम्भीर ध्यान का परिचय मिलता है, किन्तु पारिभाषिक शब्दों के मारे सिर में चक्कर आ जाता है।"

अब गिरीश बाबू की ओर मुँह करके स्वामीजी बोले, "क्या गिरीश बाबू, तुमने यह सब तो नहीं पढ़ा; केवल कृष्ण और विष्णु का नाम लेकर ही अपनी आयु बितायी है न ?"

गिरीश बाबू—और क्या पढ़ूँ भाई ! इतना अवसर भी नहीं और बुद्धि भी नहीं कि वह सब समझ सकूँ। परन्तु श्रीगुरुदेव की कृपा से उन सब वेद-वेदान्तों को नमस्कार करके इस जन्म में ही पार उतर जाऊँगा। वे तुमसे अनेक कार्य करायेंगे, इसी निमित्त यह सब पढ़ा रहे हैं, उससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है।

इतना ही कहकर गिरीश बाबू ने उस बृहत् ऋग्वेद ग्रन्थ को बारम्बार प्रणाम किया और कहा, "जय वेदरूपी रामकृष्णजी की जय !"

पाठकों से हम अन्यत्र कह चुके हैं कि स्वामीजी जब जिस विषय का उपदेश करते थे, तब सुनने वालों के मन में वह विषय ऐसी गम्भीरता से अंकित हो जाता था कि उस समय वे उस विषय को ही सब से श्रेष्ठ अनुमान करते थे। जब ब्रह्मज्ञान के विषय में कहा करते थे तब सुनने वाले उसको प्राप्त करना ही

* न्यायप्रस्थान का एक विशेष ग्रन्थ।

जीवन का एकमात्र उद्देश्य समझते थे। फिर जब भक्ति या कर्म या जातीय उन्नति आदि अन्यान्य विषयों का प्रसंग चलाते थे, तब श्रोता लोग उन विषयों को ही अपने मन में सब से ऊँचा स्थान दिया करते थे और उन्हीं का अनुष्ठान करने को तत्पर हो जाया करते थे। अब स्वामीजी ने वेद के प्रसंग में शिष्य आदि को वेदोक्त ज्ञान की महिमा से इतना मोहित किया कि वे (शिष्य आदि) अब यह नहीं समझ सकते थे कि इससे भी और कोई श्रेष्ठ वस्तु हो सकती है। गिरीश बाबू ने इस बात को ताड़ लिया। स्वामीजी के महान् उदार भाव तथा शिक्षा देने की ऐसी सुन्दर रीति को वे पहले से ही जानते थे। अब गिरीश बाबू ने मन ही मन में एक नयी युक्ति सोची कि जिससे स्वामीजी अपने शिष्य को ज्ञान, भक्ति और कर्म का समान महत्त्व समझा दें।

स्वामीजी अन्यमनस्क होकर और ही कुछ विचार कर रहे थे। इसी समय गिरीश बाबू ने कहा, "हाँ जी नरेन्द्र, तुम्हें एक बात सुनाऊँ? वेद-वेदान्त को तुमने पढ़ लिया, परन्तु देश में जो घोर हाहाकार, अन्नाभाव, व्यभिचार, भ्रूणहत्या तथा अन्य महा-पातकादि आँखों के सामने रात-दिन हो रहे हैं उनके दूर करने का भी कोई उपाय क्या तुम्हारे वेद में बतलाया है? आज तीन दिन से उस मकान की स्वामिनी के पास, जिसके घर में पहले प्रति दिन पचास पत्तल पड़ती थीं, रसोई पकाने की भी कोई सामग्री नहीं है। उस मकान की कुलस्त्रियों को गुण्डों ने अत्याचार करके मार डाला, कहीं भ्रूणहत्या हुई, कहीं विधवाओं का सारा धन कपट से लूट लिया गया। इन सब अत्याचारों के रोकने का कोई उपाय क्या तुम्हारे वेद में है?" इस प्रकार जब गिरीश बाबू सामाजिक भीषण चित्रों को सामने लाने लगे तो

स्वामीजी निस्तब्ध होकर बैठ गये। जगत् के दुःख और कष्ट को सोचते सोचते स्वामीजी की आँखों से आँसू टपकने लगे और इसके बाद वे उठकर बाहर चले गये, मानो वे हमसे अपने मन की अवस्था छिपाना चाहते हों।

इस अवसर पर गिरीश बाबू ने शिष्य को लक्ष्य करके कहा, "देखो, स्वामीजी कैसे उदार हृदय के हैं। मैं तुम्हारे स्वामीजी का केवल इसी कारण आदर नहीं करता कि वे वेद-वेदान्त के जानने वाले एक बड़े पण्डित हैं; वरन् यह कि जीवों के दुःख से वे रो जो पड़े और रोते रोते बाहर चले गये, मैं उनके इसी सच्चे हृदय के कारण उनका सम्मान करता हूँ। तुमने तो सामने ही देखा कि मनुष्यों के दुःख और कष्ट की बातों को सुनकर उनका हृदय दया से पूर्ण हो गया और वेद-वेदान्त के सब विचार न जाने कहाँ भाग गये।"

शिष्य—महाशय, हम कितने प्रेम से वेद पढ़ रहे थे! आपने मायाधीन जगत् की क्या ऐसी-वैसी बातों को सुनाकर स्वामीजी का मन दुखा दिया।

गिरीश बाबू—क्या जगत् में ऐसे दुःख और कष्ट के रहते हुए भी स्वामीजी उधर न देखकर एकान्त में केवल वेद ही पढ़ते रहेंगे! उठाकर रख दो अपने वेद-वेदान्त को।

शिष्य—आप स्वयं हृदयवान हैं, इसी से केवल हृदय की भाषा को सुनने में आप की प्रीति है, परन्तु इन सब शास्त्रों में, जिनके अध्ययन से लोग जगत् को भूल जाते हैं, आपकी प्रीति नहीं है। नहीं तो आपने ऐसा रसभंग न किया होता।

गिरीश बाबू—अच्छा, ज्ञान और प्रेम में भेद कहाँ है, यह मुझे समझा तो दो। देखो तुम्हारे गुरु (स्वामीजी) जैसे पण्डित हैं,

वैसे ही प्रेमी भी हैं। तुम्हारा वेद भी तो कहता है कि 'सत्-चित्-आनन्द' ये तीनों एक ही वस्तु हैं। देखो, स्वामीजी अभी कितना पाण्डित्य प्रकाश कर रहे थे, परन्तु जगत् के दुःख को सुनते ही और उन क्लेशों का स्मरण आते ही वे जीवों के दुःख से रोने लगे। यदि वेद-वेदान्त में ज्ञान और प्रेम में भेद दिखलाया गया है, तो मैं ऐसे शास्त्रों को दूर से ही दण्डवत् करता हूँ।

शिष्य निर्वाक् होकर सोचने लगा, "बिलकुल ठीक, गिरीश बाबू के सब सिद्धान्त यथार्थ में वेदों के अनुकूल ही हैं।"

इतने में स्वामीजी फिर आये और शिष्य को सम्बोधित करके कहा, "कहो, क्या बातचीत हो रही थी?" शिष्य ने उत्तर दिया, "वेदों का ही प्रसंग हो रहा था। गिरीश बाबू ने इन ग्रन्थों को नहीं पढ़ा है, परन्तु इनके सिद्धान्तों का ठीक ठीक अनुभव कर लिया है। यह बड़े ही विस्मय की बात है।"

स्वामीजी—गुरुभक्ति से सब सिद्धान्त प्रत्यक्ष हो जाते हैं, फिर पढ़ने या सुनने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, परन्तु ऐसी भक्ति और विश्वास जगत् में दुर्लभ हैं। जिनकी गिरीश बाबू के समान भक्ति और विश्वास है, उन्हें शास्त्रों को पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं; परन्तु गिरीश बाबू का अनुकरण करना औरों के लिए हानिकारक है। उनकी बातों को मानो, पर उनके आचरण देखकर कोई कार्य न करो।

शिष्य—जी महाराज।

स्वामीजी—केवल 'जी' कहने से काम नहीं चलता। मैं जो कहता हूँ उसको ठीक ठीक समझ लो; मूर्ख के समान सब बातों पर 'जी' न कहा करो। मेरे कहने पर भी किसी बात पर विश्वास न किया करो। जब ठीक समझ जाओ, तभी उसको ग्रहण करो।

श्रीगुरुदेव ने अपनी सब बातों को समझकर ग्रहण करने को मुझसे कहा था। सद्युक्ति, तर्क और शास्त्र जो कहते हैं, उन सब को सदा अपने पास रखो। सत् विचार से बुद्धि निर्मल होती है और फिर उसी बुद्धि में ब्रह्म का प्रकाश होता है। अब समझे न ?

शिष्य—जी हाँ; परन्तु भिन्न भिन्न लोगों की भिन्न भिन्न बातों से मस्तिष्क ठीक नहीं रहता। अब गिरीश बाबू ने कहा, 'क्या होगा यह सब वेद-वेदान्त को पढ़कर ?' फिर आप कहते हैं, 'विचार करो' अब मुझे क्या करना चाहिए ?

स्वामीजी—हमारी और उनकी दोनों की बातें सत्य हैं; परन्तु दोनों की उक्ति दो विभिन्न ओर से आयी हैं—बस। एक अवस्था ऐसी है, जहाँ युक्ति या तर्क का अन्त हो जाता है—'मूकास्वादनवत्' और एक अवस्था है, जहाँ वेदादि शास्त्रों की आलोचना या पठनपाठन करते करते सत्य वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तुम्हें इन सब को पढ़ना होगा, तभी तुमको यह बात प्रत्यक्ष होगी।

निर्बोध शिष्य ने स्वामीजी के ऐसे आदेश को सुनकर और यह समझकर कि गिरीश बाबू परास्त हुए, उनकी ओर देखकर कहा, "महाशय, आपने तो सुना कि स्वामीजी ने मुझे वेद-वेदान्त का पठनपाठन और विचार करने का ही आदेश दिया है।"

गिरीश बाबू—तुम ऐसा ही करते जाओ। स्वामीजी के आशीर्वाद से तुम्हारा सब काम इसीसे ठीक हो जायगा।

अब स्वामी सदानन्द वहाँ आ पहुँचे। उनको देखते ही स्वामीजी ने कहा, "अरे, जी० सी० से देश की दुर्दशाओं को सुनकर मेरे प्राण बड़े व्याकुल हो रहे हैं। देश के लिए क्या तुम कुछ कर सकते हो ?"

सदानन्द—महाराज, आदेश कीजिये, दास प्रस्तुत है।

स्वामीजी—पहले एक छोटा-सा सेवाश्रम स्थापित करो, जहाँ से सब दीन-दुखियों को सहायता मिला करे और जहाँ पर रोगियों तथा असहाय लोगों की बिना जाति-भेद के सेवा हुआ करे। समझे?

सदानन्द—जो महाराज की आज्ञा।

स्वामीजी—जीव-सेवा से बढ़कर और कोई दूसरा धर्म नहीं है। सेवाधर्म का यथार्थ अनुष्ठान करने से संसार का बन्धन सुगमता से छिन्न हो जाता है—'मुक्तिः करफलायते।'

अब गिरीश बाबू से स्वामीजी बोले, "देखो गिरीश बाबू, मन में ऐसे भाव उदय होते हैं कि यदि जगत् के दुःख दूर करने के लिए मुझे सहस्रों बार जन्म लेना पड़े तो भी मैं तैयार हूँ। इससे यदि किसी का तनिक भी दुःख दूर हो, तो वह मैं करूँगा। और ऐसा भी मन में आता है कि केवल अपनी ही मुक्ति से क्या होगा। सब को साथ लेकर उस मार्ग पर जाना होगा। क्या तुम कह सकते हो कि ऐसे भाव मन में क्यों उदय हो रहे हैं?"

गिरीश बाबू—यदि ऐसा न होता तो श्रीगुरुदेव तुम्हीं को सब से ऊँचा आधार क्यों कहा करते?

यह कहकर गिरीश बाबू अन्य कार्य के लिए चले गये।

परिच्छेद ११

स्थान—आलम बाज़ार मठ

वर्ष—१८९७ ईसवी

विषय—मठ में स्वामीजी से कुछ लोगों का संन्यास-दीक्षाग्रहण—संन्यासधर्म विषय पर स्वामीजी का उपदेश—त्याग ही मनुष्यजीवन का उद्देश्य—"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"—सर्वस्व-त्याग ही संन्यास—संन्यास ग्रहण करने का कोई कालाकाल नहीं—"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"—चार प्रकार के संन्यास—भगवान बुद्धदेव के पश्चात् ही विविदिषा संन्यास की वृद्धि—बुद्धदेव के पहले संन्यास आश्रम के रहने पर भी यह नहीं समझा जाता था कि त्याग या वैराग्य ही मनुष्यजीवन का लक्ष्य है—"निकम्मे संन्यासीगण से देश का कोई कार्य नहीं होता" इत्यादि सिद्धान्त का खण्डन—यथार्थ संन्यासी अपनी मुक्ति की भी उपेक्षा कर जगत् का कल्याण करते हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि जब स्वामीजी प्रथम बार विलायत से कलकत्ते को लौटे थे, तब उनके पास बहुतसे उत्साही युवकों का आना जाना लगा रहता था। इस समय स्वामीजी बहुधा अविवाहित युवकों को ब्रह्मचर्य और त्याग सम्बन्धी उपदेश दिया करते थे और संन्यास ग्रहण अर्थात् अपना मोक्ष और जगत् के कल्याण के लिए सर्वस्व त्याग करने को बहुधा उत्साहित किया करते थे। हमने अक्सर उनको कहते सुना कि संन्यास ग्रहण किये बिना किसी को यथार्थ आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। केवल यही नहीं, बिना संन्यास ग्रहण किये बहुजन-हितकारी तथा बहुजन-सुखकारी किसी कार्य का अनुष्ठान या उसका सिद्धिलाभ नहीं हो सकता।

स्वामीजी उत्साही युवकों के सामने सदैव त्याग के उच्च आदर्श रखते थे, और किसी के संन्यास लेने की इच्छा प्रकट करने पर उसको बहुत उत्साहित करते थे और उस पर कृपा भी करते थे। कई एक भाग्यवान युवकों ने उनके उत्साहपूर्ण वचन से उस समय गृहस्थाश्रम का त्याग कर दिया। इनमें से जिन चार को स्वामीजी ने पहले संन्यास दिया था उनके संन्यासव्रत ग्रहण करने के दिन शिष्य आलम बाज़ार मठ में उपस्थित था। वह दिन शिष्य को अभी तक स्मरण है।

आजकल श्रीरामकृष्ण संघ में स्वामी नित्यानन्द, विरजानन्द, प्रकाशानन्द और निर्भयानन्द नाम से जो लोग सुपरिचित हैं, उन्होंने ही उस दिन संन्यास ग्रहण किया था। मठ के संन्यासियों से शिष्य ने बहुधा सुना है कि स्वामीजी के गुरुभाइयों ने उनसे बहुत अनुरोध किया कि इनमें से एक को संन्यास दीक्षा न दी जाय। इसके प्रत्युत्तर में स्वामीजी ने कहा था, "यदि हम पापी, तापी, दीन दुखी और पतितों का उद्धारसाधन करने से हट जायँ, तो फिर इनको कौन देखेगा ? तुम इस विषय में किसी प्रकार की बाधा न डालो।" स्वामीजी की बलवती इच्छा ही पूर्ण हुई। अनाथशरण स्वामीजी अपने कृपा-गुण से उनको संन्यास देने में कृतसंकल्प हुए।

शिष्य आज दो दिन से मठ में ही रहता है। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "तुम तो ब्राह्मण-पुरोहितों में से हो। कल तुम्हीं इनकी श्राद्धादि क्रिया करा देना और अगले दिन मैं इनको संन्यासाश्रम में दीक्षित करूँगा। आज पोथीपाथी पढ़कर सब कुछ देख रखो।" शिष्य ने स्वामीजी की आज्ञा शिरोधार्य की।

संन्यासव्रत धारण करने का निश्चय कर उन चार ब्रह्मचारियों

ने एक दिन पहले अपना सिर मुण्डन कराया और गंगास्नान कर शुभ्र वस्त्र धारण कर स्वामीजी के चरणकमलों की वन्दना की और स्वामीजी के स्नेहाशीर्वाद को प्राप्त करके श्राद्धक्रिया के निमित्त तैयार हुए।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जो शास्त्रानुसार संन्यास ग्रहण करते हैं, उनको इस समय अपनी श्राद्धक्रिया स्वयं ही कर लेनी पड़ती है, क्योंकि संन्यास लेने से उनका फिर लौकिक या वैदिक किसी विषय पर कोई अधिकार नहीं रह जाता है। पुत्र-पौत्रादिकृत श्राद्ध या पिण्डदानादि क्रिया का फल उनको स्पर्श नहीं करता। इसलिए संन्यास लेने के पहले अपनी श्राद्ध-क्रिया अपने ही को करनी पड़ती है, अपने पैरों पर अपना पिण्ड धरकर संसार के, यहाँ तक कि अपने शरीर के पूर्व सम्बन्धों का भी संकल्प द्वारा निःशेष विलोप करना पड़ता है। इस क्रिया को संन्यास ग्रहण की अधिवास-क्रिया कह सकते हैं। शिष्य ने देखा है कि इन वैदिक कर्म-काण्डों पर स्वामीजी का पूर्ण विश्वास था। वे उन क्रिया-काण्डों के शास्त्रानुसार ठीकठीक न होने पर बड़े नाराज़ होते थे। आजकल बहुत से लोगों का यह विचार है कि गेरुए वस्त्र धारण करने से ही संन्यासदीक्षा हो जाती है, परन्तु स्वामीजी का ऐसा विचार कभी नहीं था। बहुत प्राचीन काल से प्रचलित ब्रह्मविद्यासाधनोपयोगी संन्यासव्रत ग्रहण करने के पहले अनुष्ठेय, गुरुपरम्परागत नैष्ठिक संस्कारों का वे ब्रह्मचारियों से ठीक ठीक साधन कराते थे। हमने यह भी सुना है कि परमहंस देव के अन्तर्धान होने पर स्वामीजी ने उपनिषदादि शास्त्रों में वर्णित संन्यास लेने की पद्धतियों को मँगवाकर उनके अनुसार श्रीगुरुदेव के चित्र को सम्मुख रखकर अपने गुरुभाइयों के साथ

वैदिक मत से संन्यास ग्रहण किया था।

आलम बाजार मठ के दुमंजिले पर जल रखने के स्थान में श्राद्धक्रिया के लिए उपयोगी सब सामग्री एकत्रित की गयी थी। स्वामी नित्यानन्दजी ने पितृपुरुषों की श्राद्धक्रिया अनेक बार की थी, इस कारण आवश्यक चीजों के एकत्रित करने में कोई त्रुटि नहीं हुई। स्वामीजी के आदेश से शिष्य स्नान करके पुरोहित का कार्य करने को तत्पर हुआ। मन्त्रादि का ठीक ठीक उच्चारण तथा पाठ होने लगा। स्वामीजी कभी कभी देख जाते थे। श्राद्ध-क्रिया के अन्त में जब चारों ब्रह्मचारियों ने अपने अपने पिण्डों को अपने अपने पाँव पर रखा, तब से सांसारिक दृष्टि से वे मृतवत् प्रतीत हुए। यह देख शिष्य का हृदय बड़ा व्याकुल हुआ और संन्यासाश्रम की कठोरता का स्मरण कर उसका हृदय काँप उठा। पिण्डों को उठाकर जब वे गंगाजी को चले गये तब स्वामीजी शिष्य को व्याकुल देखकर बोले, "यह सब देखकर तेरे मन में भय उपजा है न?" शिष्य के सिर झुका लेने पर स्वामीजी बोले, "आज से इन सब की सांसारिक विषयों से मृत्यु हो गयी। कल से इनकी नवीन देह, नवीन चिन्ता, नवीन वस्त्रादि होंगे। ये ब्रह्मवीर्य से दीप्त होकर प्रज्वलित अग्नि के समान अवस्थान करेंगे। 'न धनेन न चेज्यया त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।'"

स्वामीजी की बातों को सुनकर शिष्य निर्वाक् खड़ा रहा। संन्यास की कठोरता को स्मरण कर उसकी बुद्धि स्तम्भित हो गयी। शास्त्र-ज्ञान का अहंकार दूर हुआ। वह सोचने लगा कि कहने और करने में बड़ा अन्तर है।

इसी बीच वे चारों ब्रह्मचारी, जो श्राद्धक्रिया कर चुके थे, गंगाजी में पिण्डादि डालकर लौट आये और उन्होंने स्वामीजी के

चरणकमलों की वन्दना की। स्वामीजी आशीर्वाद देते हुए बोले, "तुम मनुष्यजीवन के सर्वश्रेष्ठ व्रत को ग्रहण करने के लिए उत्साहित हुए हो। धन्य है तुम्हारा वंश, और धन्य है तुम्हारी गर्भधारिणी माता। 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था।'"

उस दिन रात्रि को भोजन करने के पश्चात् स्वामीजी केवल संन्यासधर्म के विषय पर ही वार्तालाप करते रहे। संन्यास लेने के अभिलाषी ब्रह्मचारियों की ओर देखकर वे बोले "आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च" यही संन्यास का यथार्थ उद्देश्य है। इस बात की वेद-वेदान्त घोषणा कर रहे हैं कि संन्यास ग्रहण न करने से कोई कभी ब्रह्मज्ञ नहीं हो सकता। जो कहते हैं कि इस संसार का भोग करना है और साथ ब्रह्मज्ञ भी बनना है, उनकी बात कभी न मानो। प्रच्छन्न भोगियों के ऐसे भ्रमात्मक वाक्य होते हैं। जिनके मन में संसारभोग करने की तनिक भी इच्छा है या लेशमात्र भी कामना है, वे ही इस कठिन पथ से डरते हैं, इसलिए अपने मन को सान्त्वना देने को कहते फिरते हैं कि इन दोनों पथों पर साथ साथ भी चल सकते हैं। ये सब उन्मत्तों के प्रलाप हैं—अशास्त्रीय एवं अवैदिक मत हैं, विडम्बना है। बिना त्याग के मुक्ति नहीं। बिना त्याग के पराभक्ति नहीं। त्याग—त्याग —'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' गीता भी कहती है 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।' सांसारिक झगड़ों को बिना त्यागे किसी की मुक्ति नहीं होती। जो गृहस्थाश्रम में बँधे रहते हैं वे यह सिद्ध करते हैं कि वे किसी न किसी प्रकार की कामना के दास बनकर संसार में फँसे हैं। यदि ऐसा न होगा तो फिर संसार में रहेंगे ही क्यों? कोई कामिनी के दास हैं, कोई अर्थ के हैं, कोई मान, यश, विद्या या पाण्डित्य के हैं। इस दासत्व को

छोड़कर बाहर निकलने से ही वे मुक्ति के पथ पर चल सकते हैं। लोग कितना ही क्यों न कहें पर मैं भलीभाँति समझ गया हूँ कि जब तक मनुष्य इन सब को त्यागकर संन्यास ग्रहण नहीं करता तब तक किसी भी प्रकार से उसके लिए ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।

शिष्य—महाराज, क्या संन्यास ग्रहण करने से ही सिद्धिलाभ होता है?

स्वामीजी—सिद्धि प्राप्त होती है या नहीं, यह बाद की बात है। जब तक तुम भीषण संसार की सीमा से बाहर नहीं आते, जब तक वासना के दासत्व को नहीं छोड़ सकते तब तक भक्ति या मुक्ति की प्राप्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। ब्रह्मज्ञों के लिए ऋद्धि-सिद्धि बड़ी तुच्छ बात है।

शिष्य—महाराज, क्या संन्यास में कुछ कालाकाल या प्रकारभेद भी है?

स्वामीजी—संन्यासधर्म की साधना में किसी प्रकार कालाकाल नहीं है। श्रुति कहती है, 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।' जब वैराग्य का उदय हो तभी प्रव्रज्या करना उचित है। योग-वाशिष्ठ में भी है—

"युवैव धर्मशीलः स्यात् अनित्यं खलु जीवितम्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति॥"

अर्थात् 'जीवन की अनित्यता के कारण युवाकाल में ही धर्मशील बनो। कौन जानता है कब किसका शरीर छूट जायगा?' शास्त्रों में चार प्रकार के संन्यास का विधान पाया जाता है। (१) विद्वत् संन्यास (२) विविदिषा संन्यास (३) मर्कट संन्यास और (४) आतुर संन्यास। अचानक यथार्थ वैराग्य के उत्पन्न

होते ही संन्यास लेकर चले जाना (यह पूर्व जन्म के संस्कार से ही होता है) इसीको विद्वत् संन्यास कहते हैं। आत्मतत्त्व जानने की प्रबल इच्छा से शास्त्रपाठ या साधनादि द्वारा अपना स्वरूप जानने को किसी ब्रह्मज्ञपुरुष से संन्यास लेकर स्वाध्याय और साधनभजन करने लगना इसको विविदिषा संन्यास कहते हैं। संसार के कष्ट, स्वजन-वियोग अथवा अन्य किसी कारण से भी कोई कोई संन्यास ले लेते हैं, परन्तु यह वैराग्य दृढ़ नहीं होता। इसका नाम मर्कट-संन्यास है। जैसे श्रीरामकृष्ण कहा करते थे 'वैराग्य हुआ—कहीं दूर देश में जाकर फिर कोई नौकरी कर ली, फिर इच्छा होने पर स्त्री को बुला लिया या दूसरा विवाह कर लिया!' इनके अतिरिक्त चौथे प्रकार का आतुर संन्यास भी होता है,—मान लो किसी की मुमुर्षु अवस्था है, रोगशय्या पर पड़ा है, बचने की कोई आशा नहीं; ऐसे मनुष्य के लिए आतुर संन्यास की विधि है। यदि वह मर जाय तो पवित्र संन्यास व्रत ग्रहण करके मरेगा; दूसरे जन्म में इस पुण्य के कारण अच्छा जन्म प्राप्त होगा और यदि बच जाय तो फिर संसार में न जाकर ब्रह्मज्ञान के लिए संन्यासी बनकर दिन व्यतीत करेगा। स्वामी शिवानन्दजी ने तुम्हारे चाचा को यह आतुर संन्यास दिया था। तुम्हारे चाचा मर गये, परन्तु इस प्रकार से संन्यास लेने के कारण उनको उच्च जन्म मिलेगा। संन्यास के अतिरिक्त आत्मज्ञान लाभ करने का दूसरा उपाय नहीं है।'

शिष्य—महाराज, गृहस्थों के लिए फिर क्या उपाय है?

स्वामीजी—सुकृति से किसी न किसी जन्म में उन्हें वैराग्य अवश्य होगा। वैराग्य के आते ही कार्य बन जाता है अर्थात् जन्ममृत्यु-समस्या के पार पहुँचने में देर नहीं होती, परन्तु सब

नियमों के दो-एक व्यतिक्रम भी रहते हैं। गृहस्थधर्म ठीक ठीक पालन करते हुए भी दो-एक पुरुषों को मुक्त होते देखा गया है; ऐसे हमारे यहाँ नागमहाशय हैं।

शिष्य—महाराज, उपनिषदादि ग्रन्थों में भी वैराग्य और संन्यास सम्बन्धी विशद उपदेश नहीं पाया जाता।

स्वामीजी—पागल के समान क्या बकता है? वैराग्य ही तो उपनिषद् का प्राण है। विचारजनित प्रज्ञा को प्राप्त करना ही उपनिषद् ज्ञान का चरम लक्ष्य है। परन्तु मेरा विश्वास यह है कि भगवान बुद्धदेव के समय से ही भारतवर्ष में इस त्यागव्रत का विशेष प्रचार हुआ है और वैराग्य तथा संसारवितृष्णा ही धर्म का चरम लक्ष्य माना गया है। बौद्ध धर्म के इस त्याग तथा वैराग्य को हिन्दू धर्म ने अपने में लय कर लिया है। भगवान बुद्ध के समान त्यागी महापुरुष पृथ्वी पर और कोई नहीं जन्मा।

शिष्य—तो क्या महाराज, बुद्धदेव के जन्म के पहले इस देश में त्याग और वैराग्य कम था और क्या उस समय संन्यासी नहीं होते थे?

स्वामीजी—यह कौन कहता है? संन्यासाश्रम था, परन्तु जनसाधारण को विदित नहीं था कि यही जीवन का चरम लक्ष्य है। वैराग्य पर उनकी दृढ़ता नहीं थी, विवेक पर निष्ठा नहीं थी। इसी कारण बुद्धदेव को कितने योगियों और साधुओं के पास जाने पर भी कहीं शान्ति नहीं मिली; तब 'इहासने शुष्यतु मे शरीरम्' कहकर आत्मज्ञान लाभ करने को वे स्वयं ही बैठ गये और प्रबुद्ध होकर उठे। भारतवर्ष में संन्यासियों के जो मठ आदि देखते हो, वे सब बौद्ध धर्म के अधिकार में थे। अब हिन्दुओं ने उनको अपने रंग में रंगकर अपना कर लिया है। भगवान बुद्धदेव

से ही यथार्थ संन्यासाश्रम का सूत्रपात हुआ है। वे ही संन्यासाश्रम के मृत ढांचे में प्राण का संचार कर गये हैं।

इस पर स्वामीजी के गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्दजी ने कहा, "बुद्धदेव से पहले भी भारत में चारों आश्रमों के प्रचलित होने का प्रमाण संहिता-पुराणादि देते हैं।" उत्तर में स्वामीजी ने कहा, "मन्वादि संहिता, बहुत से पुराण और महाभारत के भी बहुत से अंश आधुनिक शास्त्र हैं। भगवान बुद्ध इनसे बहुत पहले हुए हैं।"

रामकृष्णानन्द—यदि ऐसा ही होता तो बौद्ध धर्म की समालोचना वेद, उपनिषद, संहिता और पुराणों में अवश्य होती। जब इन ग्रन्थों में बौद्ध धर्म की आलोचना नहीं पायी जाती, तब आप कैसे कहते हैं कि बुद्धदेव इन सभी से पूर्व थे? दो-चार प्राचीन-पुराणादि में बौद्धमत का वर्णन आंशिक रूप में है, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दुओं के संहिता और पुराणादि आधुनिक शास्त्र हैं।

स्वामीजी—इतिहास पढ़ो तो देखोगे कि हिन्दू धर्म बुद्धदेव के सब भावों को पचाकर इतना बड़ा हो गया है।

रामकृष्णानन्द—मेरा अनुमान यह है कि बुद्धदेव त्यागवैराग्य को अपने जीवन में ठीक ठीक अनुष्ठान करके हिन्दू धर्म के कुल भावों को केवल सजीव कर गये हैं।

स्वामीजी—परन्तु यह कथन प्रमाणित नहीं हो सकता क्योंकि बुद्धदेव से पहले का कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता। इतिहास का ही प्रमाण मानने से यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि प्राचीन काल के घोर अन्धकार में एकमात्र भगवान बुद्धदेव ने ही ज्ञानालोक से प्रदीप्त होकर अवस्थान किया है।

अब फिर संन्यासधर्म सम्बधी प्रसंग होने लगा। स्वामीजी

बोले, "संन्यास की उत्पत्ति कहीं से ही क्यों न हो, इस त्यागव्रत के आश्रय से ब्रह्मज्ञ होना ही मनुष्यजीवन का उद्देश्य है। इस संन्यासग्रहण में ही परमपुरुषार्थ है। वैराग्य उत्पन्न होने पर जिनका संसार से अनुराग हट गया है वे ही धन्य हैं।"

शिष्य—महाराज, आजकल लोग कहते हैं कि त्यागी संन्यासियों की संख्या बढ़ जाने से देश की व्यावहारिक उन्नति रुक रही है। साधुओं को गृहस्थों के मुखापेक्षी और निष्कर्मी होकर चारों ओर फिरते देखकर वे लोग कहते हैं, 'वे (संन्यासीगण) समाज और स्वदेश की उन्नति के लिए किसी प्रकार के सहायक नहीं होते।'

स्वामीजी—मुझे यह तो पहले समझा दो कि लौकिक या व्यावहारिक उन्नति का अर्थ क्या है।

शिष्य—पाश्चात्य देशों में जिस प्रकार विद्या की सहायता से देश में अन्नवस्त्र का प्रबन्ध करते हैं, विज्ञान की सहायता से वाणिज्य, शिल्प, वस्त्रादिक, रेल, टेलीग्राफ (तार) इत्यादि नाना विषयों की उन्नति कर रहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी करना।

स्वामीजी—क्या ये सब बातें मनुष्य में रजोगुण के अभ्युदय हुए बिना ही होती हैं? सारे भारतवर्ष में फिरकर देखा, पर कहीं भी रजोगुण का विकास नहीं पाया, केवल तमोगुण! घोर तमोगुण से सर्वसाधारण लोग भरे हुए हैं। संन्यासियों में ही रजोगुण एवं सतोगुण देखा है। वे ही भारत के मेरुदण्ड हैं। सच्चे संन्यासी ही गृहस्थों के उपदेशक हैं। उन्हींसे उपदेश और ज्ञानालोक प्राप्त कर प्राचीन काल में गृहस्थ लोग जीवनसंग्राम में सफल हुए हैं। संन्यासियों के अनमोल उपदेश के बदले में गृहस्थ उनको अन्नवस्त्र देते रहे हैं। यदि ऐसा आदान-प्रदान न होता, तो इतने दिनों में भारतवासियों का भी अमरीका के आदिवासियों

के समान लोप हो जाता। संन्यासियों को मुट्ठी भर अन्न देने के कारण ही गृहस्थ लोग अभी तक उन्नति के मार्ग पर चले जा रहे हैं। संन्यासी लोग कर्महीन नहीं हैं वरन् वे ही कर्म के स्रोत हैं। उनके जीवन या कार्य में ऊँचे आदर्शों को परिणत होते देख और उनसे उच्च भावों को ग्रहण कर गृहस्थ लोग इस संसार के जीवनसंग्राम में समर्थ हुए तथा हो रहे हैं। पवित्र संन्यासियों को देखकर गृहस्थ भी उन पवित्र भावों को अपने जीवन में परिणत करते हैं और ठीक ठीक कर्म करने को तत्पर होते हैं। संन्यासी अपने जीवन में ईश्वर तथा जगत् के कल्याण के निमित्त सर्वत्याग रूप तत्त्व को प्रतिफलित करके गृहस्थों को सब विषयों में उत्साहित करते हैं और इसके बदले में वे उनसे मुट्ठी भर अन्न लेते हैं। फिर उसी अन्न को उपजाने की प्रवृत्ति और शक्ति भी देश के लोगों में सर्वत्यागी संन्यासियों के स्नेहाशीर्वाद से ही बढ़ रही है। विना विचारे ही लोग संन्यास-संस्था की निन्दा करते हैं। अन्यांन्य देशों में चाहे जो कुछ क्यों न हो, पर यहाँ तो संन्यासियों के पतवार के कारण ही संसार-सागर में गृहस्थों की नौका नहीं डूबने पाती।

शिष्य––महाराज, लोककल्याण में तत्पर यथार्थ संन्यासी मिलता कहाँ है?

स्वामीजी––यदि हजार वर्ष में भी श्रीगुरुदेव के समान कोई संन्यासी महापुरुष जन्म ले लेते हैं, तो सब कमी पूरी हो जाती है। वे जो उच्च आदर्श और भावों को छोड़ जाते हैं, उनके जन्म से सहस्र वर्ष तक लोग उनको ही ग्रहण करते रहेंगे। इस संन्यास पद्धति के इस देश में होने के कारण ही यहाँ उनके समान महापुरुष जन्म ग्रहण करते हैं। दोष सभी आश्रमों में हैं पर किसी में

कम और किसी में अधिक। दोष रहने पर भी यह आश्रम अन्य आश्रमों के शीर्षस्थान के अधिकार को प्राप्त हुआ है, इसका कारण क्या है ? सच्चे संन्यासी तो अपनी मुक्ति की भी उपेक्षा करते हैं—जगत् के मंगल के लिए ही उनका जन्म होता है। यदि ऐसे संन्यासाश्रम के भी तुम कृतज्ञ न हो, तो तुम्हें धिक्कार, कोटि कोटि धिक्कार है।

इन बातों को कहते ही स्वामीजी का मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा। संन्यास-आश्रम के गौरव-प्रसंग से स्वामीजी मानो मूर्तिमान संन्यास रूप में शिष्य के सम्मुख प्रतिभासित होने लगे। इस आश्रम के गौरव को अपने मन में अनुभव कर मानो अन्तर्मुखी होकर अपने आप ही मधुर स्वर से आवृत्ति करने लगे—

"वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तः
भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः।
अशोकमन्तःकरणे चरन्तः
कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः॥"

फिर कहने लगे, "'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' ही संन्यासियों का जन्म होता है। संन्यास ग्रहण करके जो इस ऊँचे लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है उसका तो जीवन ही व्यर्थ है—'वृथैव तस्य जीवनम्।' जगत् में संन्यासी क्यों जन्म लेते हैं ? औरों के निमित्त अपना जीवन दान करने को, जीव के आकाशभेदी क्रन्दन को दूर करने को, विधवा के आँसू पोंछने को, पुत्रवियोग से पीड़ित अबलाओं के मन को शान्ति देने को, सर्वसाधारण को जीवनसंग्राम में सक्षम करने को, शास्त्र के उपदेशों को फैलाकर सब का ऐहिक और पारमार्थिक मंगल करने को और ज्ञानालोक से सब के भीतर जो ब्रह्मसिंह सुप्त है, उसे जागृत करने को।"

फिर अपने भाइयों को लक्ष्य करके कहने लगे, " 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' हम लोगों का जन्म हुआ है। बैठे बैठे क्या कर रहे हो? उठो, जाग जाओ, चौकन्ने होकर औरों को चेताओ। अपने नरजन्म को सफल करो, 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान् निबोधत।' "

परिच्छेद १२

स्थान—कलकत्ता, स्व० बलराम बसु का भवन

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—गुरु गोविन्दसिंहजी शिष्यों को किस प्रकार की दीक्षा देते थे—उस समय पंजाब के सर्वसाधारण के मन में उन्होंने एक ही प्रकार की प्रेरणा को जगाया था—सिद्धाई लाभ करने की अपकारिता—स्वामीजी के जीवन में परिदृष्ट दो अद्‌भुत घटनाएँ—शिष्य को उपदेश—भूत-प्रेत के ध्यान से भूत, और 'मैं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त आत्मा हूँ' ऐसा ध्यान सर्वदा करने से ब्रह्मज्ञ बनता है।

स्वामीजी आज दो दिन से बागबाजार में स्वं० वलराम बसु के भवन में ठहरे हैं। इसलिए शिष्य को विशेष सुभीता होने से वह प्रतिदिन वहाँ आता जाता रहता है। आज सायंकाल से कुछ पहले स्वामीजी छत पर टहल रहे हैं। उनके साथ शिष्य और अन्य चार-पाँच लोग भी हैं। आज बड़ी गरमी है; स्वामीजी के शरीर पर कोई वस्त्र नहीं है। मन्द मन्द दक्षिणी वायु चल रही है। टहलते टहलते स्वामीजी ने गुरु गोविन्दसिंह का प्रसंग आरम्भ किया और ओजस्विनी भाषा में कुछ कुछ वर्णन करते हुए बतलाने लगे कि किस प्रकार उनके त्याग, तपस्या, तितिक्षा और प्राणनाशक परिश्रम के फल से ही सिक्खों का पुनरुत्थान हुआ था, उन्होंने किस प्रकार मुसलमान धर्म में दीक्षित लोगों को भी दीक्षा दी और हिन्दू बनाकर सिक्ख जाति में मिला लिया तथा किस प्रकार उन्होंने नर्मदा के तट पर अपनी मानवलीला समाप्त की। गुरु गोविन्दसिंह द्वारा दीक्षित जनों में उस समय

कैसी एक महान् शक्ति का संचार होता था, उसका उल्लेख कर स्वामीजी ने सिक्ख जातियों में प्रचलित एक दोहा सुनाया—

"सवा लाख से एक लड़ाऊँ।
तो गोविन्दसिंह नाम कहाऊँ॥"

अर्थात् गुरु गोविन्दसिंह से नाम (दीक्षा) सुनकर प्रत्येक मनुष्य में सवा लाख मनुष्य से अधिक शक्ति संचारित होती थी। अर्थात् उनसे दीक्षाग्रहण करने पर उनकी शक्ति से यथार्थ धर्मप्राणता उपस्थित होती थी और प्रत्येक शिष्य का हृदय ऐसे वीर-भाव से पूरित हो जाता था कि वह उस समय सवा लाख विधर्मियों को पराजित कर सकता था। धर्म की महिमा बखानने वाली बातों को कहते कहते उनके उत्साहपूर्ण नेत्रों से मानो तेज निकल रहा था। श्रोतागण निस्तब्ध होकर स्वामीजी के मुख की ओर टकटकी लगाकर देखने लगे। स्वामीजी में कैसा अद्भुत उत्साह और शक्ति थी। जब जिस विषय का प्रसंग करते थे, तब उसी में ऐसे तन्मय हो जाते थे कि यह अनुमान होता था मानो उन्होंने उसी विषय को अन्य सब विषयों से बड़ा निश्चित किया है और उसे लाभ करना ही मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।

कुछ देर बाद शिष्य ने कहा, "महाराज, गुरु गोविन्दसिंहजी ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को अपने धर्म में दीक्षित करके एक ही उद्देश्य पर चलाया था, वह बड़ी अद्भुत घटना है। भारत के इतिहास में ऐसा दूसरा दृष्टान्त नहीं पाया जाता।"

स्वामीजी—जब तक लोग अपने में एक ही प्रकार के ध्येय का अनुभव नहीं करेंगे, तब तक कभी एक सूत्र से आबद्ध नहीं हो सकते। जब तक उनका ध्येय एक न हो, तब तक सभा, समिति और वक्तृता से साधारण लोगों को एक नहीं किया जा सकता।

गुरु गोविन्दसिंहजी ने उस समय क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी को समझा दिया था कि वे सब लोग कैसे घोर अत्याचार तथा अविचार के राज्य में बस रहे हैं। गुरु गोविन्दसिंहजी ने किसी प्रकार के नये ध्येय की सृष्टि नहीं की। केवल सर्वसाधारण जनता में इसे समझा ही दिया था। इसीलिए हिन्दू-मुसलमान सब उनको मानते हैं। वे शक्ति के साधक थे। भारत-इतिहास में उनके समान बिरला ही दृष्टान्त मिलेगा।

इसके बाद रात्रि होने पर स्वामीजी सब के साथ नीचे की बैठक में उतर आये। उनके आसन ग्रहण करने पर सब उन्हें फिर घेरकर बैठ गये। अब सिद्धाई के विषय पर प्रसंग आरम्भ हुआ। स्वामीजी बोले, "सिद्धाई या विभूति मन के थोड़े ही संयम से प्राप्त हो जाती है।" शिष्य को लक्ष्य करके बोले, "क्या तू औरों के मन की बात जानने की विद्या सीखेगा? चार पाँच ही दिन में तुझे यह सिखला सकता हूँ।"

शिष्य—इससे क्या उपकार होगा?

स्वामीजी—क्यों? औरों के मन की बात जान सकेगा।

शिष्य—क्या इससे ब्रह्मविद्या लाभ करने में कोई सहायता मिलेगी?

स्वामीजी—कुछ भी नहीं।

शिष्य—तब वह विद्या सीखने से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। परन्तु अपने सिद्धाई के विषय में जो कुछ प्रत्यक्ष किया है या देखा है, उसको सुनने की इच्छा है।

स्वामीजी—एक बार मैं हिमालय में भ्रमण करते समय किसी पहाड़ी गाँव में एक रात्रि के लिए ठहर गया था। सायंकाल होने पर गाँव में ढोल का शब्द सुना तो घरवाले से पूछने पर मालूम

हुआ कि गाँव में किसी मनुष्य पर 'देवता चढ़ा' है। घरवाले के आग्रह से और अपना कौतुक निवारण करने के लिए मैं देखने को गया। जाकर देखा कि बड़ी भीड़ लगी है। उसने लम्बे घूंघर बाल वाले एक पहाड़ी को दिखाकर कहा कि इसी पर देवता चढ़ा है। मैंने देखा कि उसके पास ही एक कुल्हाड़ी को आग में लाल कर रहे थे; फिर देखा कि उस लाल कुल्हाड़ी से उस देवताविष्ट मनुष्य के शरीर को स्थान स्थान पर जला रहे हैं तथा बालों पर भी उसे छुआ रहे हैं। परन्तु आश्चर्य यह था कि न तो उसका कोई अंग या बाल जलता था, न उसके चेहरे से कोई कष्ट का चिह्न प्रकट होता था। मैं तो देखते ही निर्वाक् रह गया। इसी समय गाँव के मुखिया ने मेरे पास आकर हाथ जोड़कर कहा, 'महाराज, आप कृपया इसका भूत उतार दीजिये।' मैं तो यह बात सुनकर घबड़ा गया। पर क्या करता, सब के कहने पर मुझे उस देवताविष्ट मनुष्य के पास जाना पड़ा। परन्तु जाकर उस कुल्हाड़ी की परीक्षा करने की इच्छा हुई। उसमें हाथ लगाते ही मेरा हाथ झुलस गया। तब तो कुल्हाड़ी तनिक काली भी पड़ गयी थी तो भी मारे जलन के मैं बेचैन हो गया। जो कुछ मेरी तर्क युक्ति थी वह सब लोप हो गयी। क्या करूँ, जलन के मारे व्याकुल होकर भी उस मनुष्य के सिर पर अपना हाथ रखकर कुछ देर जप किया। परन्तु आश्चर्य यह कि ऐसा करने से दस-बारह मिनट में ही वह अच्छा हो गया। तब गाँव वालों की मेरे प्रति भक्ति का क्या ठिकाना था! वे तो मुझे भगवान् ही समझने लगे! परन्तु मैं इस घटना को कुछ भी नहीं समझ सका। बाद में भी कुछ नहीं जान सका। अन्त में और कुछ न कहकर घरवाले के साथ झोपड़ी में लौट आया। तब रात के कोई बारह

बजे होंगे। आते ही लेट गया, परन्तु जलन के मारे और इस घटना का कोई भेद न निकाल सकने के कारण नींद नहीं आयी। जलती हुई कुल्हाड़ी से मनुष्य का शरीर दग्ध नहीं हुआ यह सोचकर चिन्ता करने लगा, "There are more things in heaven and earth than dreamt of in your philosophy—" पृथ्वी और स्वर्ग में ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनका सन्धान दर्शनशास्त्रों ने स्वप्न में भी नहीं पाया।

शिष्य—बाद में क्या आप इस विषय का रहस्य जान सके थे ?

स्वामीजी—नहीं, आज ही बातों बातों में वह घटना स्मरण हो आयी, इसलिए तुझसे कह दिया।

फिर स्वामीजी कहने लगे, "श्रीरामकृष्ण सिद्धाइयों की बड़ी निन्दा किया करते थे। वे कहा करते थे कि इन शक्तियों के प्रकाश की ओर मन लगाये रखने से कोई परमार्थ-तत्त्वों को नहीं पहुँचता; परन्तु मनुष्य का मन ऐसा दुर्बल है कि गृहस्थों का तो कहना ही क्या है, साधुओं में भी चौदह आने लोग सिद्धाई के उपासक होते हैं। पाश्चात्य देशों में लोग इन जादुओं को देखकर निर्वाक् हो जाते हैं। सिद्धाई लाभ करना बुरा है और वह धर्म-पथ में विघ्न डालता है। यह बात श्रीरामकृष्ण के कृपा कर समझाने के कारण ही मैं समझ सका हूँ। इसी हेतु क्या तुमने देखा नहीं कि श्रीगुरुदेव की सन्तानों में से कोई उधर ध्यान नहीं देता ?"

इतने में स्वामी योगानन्दजी ने स्वामीजी से कहा, "मद्रास में एक ओझा से जो तुम्हारी भेंट हुई थी वह कहानी इस गँवार को सुनाओ।"

शिष्य ने इस विषय को पहले नहीं सुना था। इसलिए उसे कहने के लिए स्वामीजी से आग्रह करने लगा; तब स्वामीजी ने

उससे कहा, "मद्रास में मैं जब मन्मथ बाबू के भवन में था, तब एक दिन रात में स्वप्न में देखा कि हमारी माताजी का देहान्त हो गया है। मन में बड़ा दुःख हुआ। उस समय मठ को ही बहुत कम पत्र आदि भेजा करता था, तो घर की तो बात दूर रही। स्वप्न की बात मन्मथ बाबू से कहने पर उन्होंने उसकी जाँच करने के लिए कलकत्ते को तार भेजा; क्योंकि स्वप्न देखकर मन बहुत ही घबड़ा रहा था। इधर मद्रास के मित्रगण मेरे अमरीका जाने का सब प्रबन्ध करके जल्दी मचा रहे थे। परन्तु माताजी की कुशल क्षेम का संवाद न मिलने से मेरा मन जाने को नहीं चाहता था। मेरे मन की अवस्था देखकर मन्मथ बाबू मुझसे बोले, 'देखो, नगर से कुछ दूर पर एक पिशाच-सिद्ध मनुष्य है, वह जीव के भूत-भविष्यत्, शुभ-अशुभ सब संवाद बतला सकता है।' मन्मथ बाबू की प्रार्थना से और अपने मानसिक उद्वेग को दूर करने के निमित्त मैं उसके पास जाने को राजी हुआ। मन्मथ बाबू, मैं, आलासिंगा तथा एक और सज्जन कुछ दूर तक रेल से गये; फिर पैदल चलकर वहाँ पहुँचे। पहुँचकर क्या देखा कि श्मशान के पास विकट आकार का मृतक-सा, सूखा, बहुत काले रंग का एक मनुष्य बैठा है। उसके अनुचरगण ने 'किडीं-मिडीं' कर मद्रासी भाषा में समझा दिया कि वही पिशाच सिद्ध पुरुष है। प्रथम तो उसने हम लोगों पर कोई ध्यान नहीं दिया। फिर जब हम लौटने को हुए, तब हम लोगों से ठहरने के लिए विनय की। हमारे साथी आलासिंगा ने ही उसकी भाषा हमें, तथा हमारी भाषा उसे समझाने का कार्य किया। उसने ही हम लोगों से ठहरने को कहा। फिर एक पेंसिल लेकर वह पिशाच-सिद्ध मनुष्य कुछ समय तक न जाने क्या लिखता रहा। फिर देखा कि

वह मन को एकाग्र करके बिलकुल स्थिर हो गया, उसके बाद मेरा नाम, गोत्र इत्यादि चौदह पीढ़ी तक की बातें बतलायीं और कहा कि श्रीरामकृष्ण मेरे साथ सर्वदा फिर रहे हैं। माताजी का मंगल समाचार भी बतलाया। और यह भी कहा कि धर्मप्रचार के लिए मुझे शीघ्र ही बहुत दूर जाना पड़ेगा। इस प्रकार माताजी का कुशल मंगल मिल जाने पर मन्मथ बाबू के साथ शहर लौटा। यहाँ पहुँचकर कलकत्ते से तार के जवाब में भी माताजी का कुशल मंगल मिल गया।

स्वामी योगानन्द को लक्ष्य करके स्वामीजी बोले, "परन्तु उस पुरुष ने जो कुछ बतलाया था वह सब पूरा हुआ। यह 'काकतालीय' के समान ही हो या और किसी प्रकार से हो गया हो।"

इसके उत्तर में स्वामी योगानन्द बोले, "तुम पहले इन सब बातों पर विश्वास नहीं करते थे, इसीलिए तुम्हें यह सब दिखलाने की आवश्यकता उत्पन्न हुई थी।"

स्वामीजी—मैं क्या बिना देखे-भाले किसी पर विश्वास करता? मैं तो ऐसा मनुष्य ही नहीं हूँ। महामाया के राज्य में आकर जगत्‌रूपी जादू के साथ साथ और कितने ही जादू देखने में आये। माया! माया!! अब राम कहो, राम कहो! आज कैसी फजूल बातें हुईं। भूत प्रेत की चिन्ता करने से लोग भूत प्रेत ही बन जाते हैं, और जो रात-दिन जानकर या न जानकर भी कहते हैं, 'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ' वे ही ब्रह्मज्ञ होते हैं।

यह कहकर स्वामीजी शिष्य को स्नेह से लक्ष्य करके बोले, "इन सब व्यर्थ की बातों को मन में तिल मात्र भी स्थान न दो। सदैव सत् और असत् का ही विचार करो; आत्मा को प्रत्यक्ष

करने के निमित्त प्राणपण से यत्न करो। आत्मज्ञान से श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। और जो कुछ है वह सभी माया है—जादू है। एक प्रत्यगात्मा ही अबाधित सत्य है। इस बात की यथार्थता मैं ठीक ठीक समझ गया हूँ, इसीलिए तुम सब को समझाने की चेष्टा भी करता हूँ। 'एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।' "

बात करते करते रात के ग्यारह बज गये। इसके बाद स्वामीजी भोजन कर विश्राम करने चले। शिष्य भी स्वामीजी के चरण-कमलों में दण्डवत् कर विदा हुआ। स्वामीजी ने पूछा, "कल फिर आयगा न ?"

शिष्य—जी महाराज, अवश्य आऊँगा। प्रतिदिन आपके दर्शन न होने से चित्त व्याकुल हो जाता है।

स्वामीजी—अच्छा तो जाओ। रात अधिक हो गयी है।

शिष्य स्वामीजी की बातों पर विचार करता हुआ रात के बारह बजे घर लौटा।

परिच्छेद १३

स्थान—बेलुड़—किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—मठ में श्रीरामकृष्णदेव की जन्मतिथिपूजा—ब्राह्मणजाति के अतिरिक्त अन्यान्य जाति के भक्तों को स्वामीजी का यज्ञोपवीत धारण कराना—मठ में श्रीयुत गिरीशचन्द्र घोष का समादर—कर्मयोग या परार्थ में कर्मानुष्ठान करने से आत्मदर्शन निश्चित है, इस सिद्धान्त को युक्ति-विचार द्वारा स्वामीजी का समझाना।

जिस वर्ष स्वामीजी इंग्लैण्ड से लौटे थे उस वर्ष दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि के कालीमन्दिर में श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव हुआ था। परन्तु अनेक कारणों से अगले वर्ष यह उत्सव वहाँ नहीं होने पाया और मठ को भी आलम बाजार से बेलुड़ में गंगाजी के तट पर श्रीयुत नीलाम्बर मुखोपाध्याय की वाटिका को किराये पर लेकर, वहाँ हटाया गया। इसके कुछ ही दिन पश्चात् वर्तमान मठ के निमित्त जमीन मोल ली गयी, किन्तु इस वर्ष यहाँ जन्मोत्सव नहीं हो सका, क्योंकि यह स्थान समतल नहीं था और जंगल से भी भरा था। इसलिए इस वर्ष का जन्मोत्सव बेलुड़ में दाँ बाबुओं की ठाकुरबाड़ी में हुआ। परन्तु श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथिपूजा जो फाल्गुन की शुक्ल द्वितीया को होती है, वह नीलाम्बर बाबू की वाटिका में ही हुई और इसके दो-एक दिन बाद ही श्रीरामकृष्ण की मूर्ति इत्यादि का प्रबन्ध करके शुभमुहूर्त में नयी भूमि पर पूजा-हवन इत्यादि कर श्रीरामकृष्ण की प्रतिष्ठा की गयी। इस समय स्वामीजी नीलाम्बर बाबू की वाटिका में

ठहरे हुए थे। जन्मतिथिपूजा के निमित्त बड़ा आयोजन था। स्वामीजी के आदेशानुसार पूजागृह बड़ी उत्तम-उत्तम सामग्रियों से परिपूर्ण था। स्वामीजी उस दिन स्वयं ही सब चीजों की देखभाल कर रहे थे।

जन्मतिथि के दिन प्रातःकाल से ही सब लोग आनन्दित हो रहे थे। भक्तों के मुँह में श्रीरामकृष्ण-प्रसंग के अतिरिक्त और कोई भी प्रसंग नहीं था। अब स्वामीजी पूजाघर के सम्मुख खड़े होकर पूजा का आयोजन देखने लगे।

इन सब की देखभाल करने के पश्चात् स्वामीजी ने शिष्य से पूछा, "जनेऊ ले आये हो न ?"

शिष्य--जी हाँ, आपके आदेशानुसार सब सामग्री प्रस्तुत है। परन्तु इतने जनेऊ मँगवाने का कारण मेरी समझ में नहीं आया।

स्वामीजी---प्रत्येक द्विजाति का ही उपनयन-संस्कार में अधिकार है। स्वयं वेद इसका प्रमाण है। आज श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि में जो लोग यहाँ आयेंगे, मैं उन सब को जनेऊ पहिनाऊँगा। वे सब व्रात्य (संस्कार से पतित) हो गये हैं। शास्त्र कहता है कि प्रायश्चित्त करने से व्रात्यों का फिर उपनयन-संस्कार में अधिकार हो जाता है। आज श्रीगुरुदेव का शुभ जन्मतिथिपूजन है---उनके नाम से वे सब शुद्ध, पवित्र हो जायेंगे। इसलिए आज उन उपस्थित भक्तगणों को जनेऊ पहिनाना है। समझे ?

शिष्य---मैं आपके आदेश से बहुत से जनेऊ लाया भी हूँ। पूजा के अन्त में समागत भक्तों को आपकी आज्ञानुसार पहिना दूँगा।

स्वामीजी---ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य भक्तों को इस प्रकार गायत्री मन्त्र बतला देना। (यहाँ स्वामीजी ने शिष्य को क्षत्रिय आदि द्विजातियों का गायत्री मन्त्र बतला दिया।) क्रमशः देश के

सब लोगों को ब्राह्मण-पद पर आरूढ़ कराना होगा; श्रीगुरुदेव के भक्तों का तो कहना ही क्या है? हिन्दुमात्र एक दूसरे के भाई हैं। 'इसे नहीं छूते, उसे नहीं छूते' कहकर ही तो हमने इनको ऐसा बना दिया है। इसीलिए तो हमारा देश हीनता, भीरुता, मूर्खता तथा कापुरुषता की चरम अवस्था को प्राप्त हुआ है। इनको उठाना होगा, उन्हें अभय वाणी सुनानी होगी, बतलाना होगा कि तुम भी हमारे समान मनुष्य हो, तुम्हारा भी हमारे ही समान सब अधिकार है। समझे?

शिष्य—जी महाराज।

स्वामीजी—अब जो लोग जनेऊ पहिनेंगे, उनसे कह दो कि वे गंगाजी में स्नान कर आयें। फिर श्रीरामकृष्ण को प्रणाम कर वे जनेऊ पहिनेंगे।

स्वामीजी के आदेशानुसार समागत भक्तों में से कोई चालीस-पचास लोगों ने गंगास्नान कर शिष्य से गायत्री मन्त्र सीख कर जनेऊ पहिन लिये। मठ में बड़ी चहल-पहल मच गयी। भक्तगणों ने जनेऊ धारण कर श्रीरामकृष्ण को पुनः प्रणाम किया और स्वामीजी के चरणकमलों की भी वन्दना की। स्वामीजी का मुखारविन्द उनको देखकर मानो सौगुना प्रफुल्लित हो गया। इसके कुछ ही देर पश्चात् श्रीयुत गिरीशचन्द्र घोष मठ में आ पहुँचे।

अब स्वामीजी की आज्ञा से संगीत का आयोजन होने लगा और मठ के संन्यासी लोग स्वामीजी को अपनी इच्छानुसार सजाने लगे। उनके कानों में शंख का कुण्डल, सर्वांग में कर्पूर के समान श्वेत पवित्र विभूति, मस्तक पर आपादलम्बित जटाभार, वाम हस्त में त्रिशूल, दोनों बाँहों में रुद्राक्ष की माला और गले में आजानुलम्बित तीन लड़ की बड़े रुद्राक्ष की माला आदि पहिनायीं।

यह सब धारण करने पर स्वामीजी का रूप ऐसा शोभायमान हुआ कि उसका वर्णन करना सम्भव नहीं। उस दिन जिन लोगों ने उनकी इस मूर्ति का दर्शन किया था, उन्होंने एक स्वर से कहा था कि साक्षात् कालभैरव स्वामीजी के शरीर में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। स्वामीजी ने भी अन्य सब संन्यासियों के शरीर में विभूति लगा दी। उन्होंने स्वामीजी के चारों ओर सदेह भैरवगण के समान अवस्थान कर, मठभूमि पर कैलाश पर्वत की शोभा का विस्तार कर दिया! आज भी उस दृश्य का स्मरण हो आने से बड़ा आनन्द होता है।

अब स्वामीजी पश्चिम दिशा की ओर मुँह फेरे हुए मुक्त-पद्मासन में बैठ कर "कूजन्तं रामरामेति" स्तोत्र धीरे धीरे उच्चारण करने लगे और अन्त में "राम राम श्रीराम राम" बारम्बार कहने लगे। ऐसा अनुमान होता था कि मानो प्रत्येक अक्षर से अमृतधारा बह रही है। स्वामीजी के नेत्र अर्धनिमीलित थे और वे हाथ से तानपूरे में स्वर दे रहे थे। कुछ देर तक मठ में 'राम राम श्रीराम राम' ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ भी सुनने में नहीं आया। इस प्रकार से लगभग आध घन्टे से भी अधिक समय व्यतीत हो गया, तब भी किसी के मुँह से अन्य कोई शब्द नहीं निकला। स्वामीजी के कण्ठ-निःसृत रामनामसुधा को पान कर आज सब मतवाले हो गये हैं। शिष्य विचार करने लगा, क्या सचमुच ही स्वामीजी शिवजी के भाव से मतवाले होकर रामनाम ले रहे हैं? स्वामीजी के मुख का स्वाभाविक गाम्भीर्य मानो आज सौगुना हो गया है। अर्धनिमीलित नेत्रों से मानो बाल-सूर्य की प्रभा निकल रही है और गहरे नशे में मानो उनका सुन्दर शरीर झूम रहा है। इस रूप का वर्णन करना

अथवा किसी को समझाना सम्भव नहीं। इसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है। दर्शकगण चित्र के समान स्थिर बैठे रहे।

रामनाम कीर्तन के अन्त में स्वामीजी उसी प्रकार मतवाली अवस्था में ही गाने लगे—"सीतापति रामचन्द्र रघुपति रघुराई।" साथ देने वाला अच्छा न होने के कारण स्वामीजी का कुछ रस भंग होने लगा। अतः स्वामी सारदानन्दजी को गाने का आदेश कर स्वामीजी स्वयं पखावज बजाने लगे। स्वामी सारदानन्दजी ने पहले—"एक रूप अरूप नाम वरण" गीत गाया। पखावज के स्निग्ध गम्भीर घोष से गंगाजी मानो उथलने लगी और स्वामी सारदानन्दजी के सुन्दर कण्ठ और साथ ही मधुर आलाप से सारा गृह भर गया। तत्पश्चात् श्रीरामकृष्ण स्वयं जिन गीतों को गाते थे क्रमशः वे गीत भी होने लगे।

अब स्वामीजी एकाएक अपनी वेश-भूषा को उतार कर बड़े आदर से गिरीश बाबू को उससे सजाने लगे। गिरीश बाबू के विशाल शरीर में अपने हाथ से भस्म लगाकर, कानों में कुण्डल, मस्तक पर जटाभार, कण्ठ और बाँहों में रुद्राक्ष की माला पहनाने लगे। गिरीश बाबू इस वेश में मानो एक नवीन मूर्ति जैसे प्रकाशमान हुए। भक्तगण इसको देखकर अवाक् हो गये। फिर स्वामीजी बोले, "श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि गिरीश भैरव का अवतार है और हममें-उसमें कोई भेद नहीं है।" गिरीश बाबू चुप बैठे रहे। उनके संन्यासी गुरुभाई जैसे चाहें उनको सजायें, उन्हें सब स्वीकार है। अन्त में स्वामीजी के आदेशानुसार एक गेरुआ वस्त्र मँगवाकर गिरीश बाबू को पहिनाया गया। गिरीश बाबू ने कुछ भी मना नहीं किया। गुरुभाइयों की इच्छानुसार अपने शरीर को उन्हीं के हाथ में छोड़ दिया। अब स्वामीजी ने

कहा, "जी० सी०, तुमको आज श्रीगुरुदेव की कथा सुनानी होगी।" औरों को लक्ष्य करके कहा, "तुम लोग सब स्थिर होकर बैठो।" अभी तक गिरीश बाबू के मुँह से कोई शब्द नहीं निकला। जिनके जन्मोत्सव में आज हम सब लोग एकत्रित हुए हैं, उनकी लीला और सांगोपांगों का दर्शन कर वे आनन्द से जड़वत् हो गये हैं। अन्त में गिरीश बाबू बोले, "दयामय श्रीगुरुदेव की कथा में और क्या कहूँ? उन्होंने इस अधम को तुम्हारे समान कामकांचन-त्यागी बाल संन्यासियों के साथ एक ही आसन पर बैठने का जो अधिकार दिया है, इससे ही उनकी अपार करुणा का अनुभव कर रहा हूँ।" इन बातों को कहते कहते उनका गला भर आया और फिर उस दिन वे कुछ भी न कह सके। इसके बाद स्वामीजी ने कई एक हिन्दी गीत गाये, "बैयाँ न पकरो मोरी नरम कलैयाँ", "प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो" इत्यादि। शिष्य संगीत विद्या में ऐसा पूर्ण पण्डित था कि गीत का एक वर्ण भी उसकी समझ में नहीं आया! केवल स्वामीजी के मुँह की ओर टकटकी लगाकर देखता ही रहा! अब प्रथम-पूजा सम्पन्न होने पर जलपान के निमित्त भक्तगण बुलाये गये। जलपान के पश्चात् स्वामीजी नीचे की बैठक में जाकर बैठे। आये हुए भक्तगण भी उनको वहाँ घेरकर बैठ गये। उपवीतधारी किसी गृहस्थ को सम्बोधन कर स्वामीजी बोले, "तुम यथार्थ में द्विजाति हो, बहुत दिनों से व्रात्य हो गये थे। आज से फिर द्विजाति बने। अब प्रतिदिन कम से कम सौ बार गायत्री मन्त्र जपना। समझे?" गृहस्थ ने, "जैसी आज्ञा महाराज की" कहकर स्वामीजी की आज्ञा शिरोधार्य कर ली। इस अवसर पर श्रीयुत महेन्द्रनाथ गुप्त* आ पहुँचे।

* इन्होंने ही "श्रीरामकृष्णकथामृत" लिखी है। किसी स्कूल के अध्यापक

स्वामीजी मास्टर महाशय को देख बड़े स्नेह से उनका सत्कार करने लगे। महेन्द्र बाबू भी उनको प्रणाम कर एक कोने में जाकर खड़े रहे। स्वामीजी के बार बार कहने पर भी संकोच से वहीं बैठ गये।

स्वामीजी––मास्टर महाशय, आज श्रीरामकृष्ण का जन्मदिन है, आपको उनकी कथा हम लोगों को सुनानी होगी।

मास्टर महाशय मुसकराकर सिर झुकाये ही रहे। इस बीच में स्वामी अखण्डानन्दजी † मुर्शिदाबाद से लगभग डेढ़ मन के दो पन्तुआ (एक प्रकार की बंगाली मिठाई) बनवाकर साथ लेकर मठ में आ पहुँचे। इतने बड़े दो पन्तुओं को देखने सब दौड़े। अखण्डानन्दजी ने वह मिठाई सब को दिखलायी। फिर स्वामीजी ने कहा, 'जाओ, इसे श्रीरामकृष्ण के मन्दिर में रख आओ।'

स्वामी अखण्डानन्दजी को लक्ष्य करके स्वामीजी शिष्य से कहने लगे, "देखो कैसा कर्मवीर है। भय, मृत्यु आदि का कुछ ज्ञान ही नहीं। 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' अपना कार्य धीरज के साथ और एक-चित्त से कर रहा है।"

शिष्य––अधिक तपस्या के फल से ऐसी शक्ति उनमें आयी होगी।

स्वामीजी––तपस्या से शक्ति उत्पन्न होती है, यह सत्य है। किन्तु दूसरों के निमित्त कर्म करना ही तपस्या है। कर्मयोगी कर्म को तपस्या का एक अंग कहते हैं। जैसे तपस्या से परहित की

होने के कारण ये मास्टर महाशय के नाम से विख्यात हैं।

† श्रीरामकृष्ण के एक अन्तरंग लीलासहचर। इन्होंने मुर्शिदाबाद के अन्तर्गत सारगाछी में अनाथाश्रम, शिल्पविद्यालय और दातव्य चिकित्सालय स्थापित किये हैं। यहाँ बिना जात-पात के विचार से सब की सेवा की जाती है और उनका कुल व्यय उदार सज्जनों की सहायता पर निर्भर है।

इच्छा बलवान होकर साधकों से कर्म कराती है वैसे ही दूसरों के निमित्त कार्य करते करते तपस्या का फल चित्तशुद्धि या परमात्मा का दर्शन प्राप्त होता है।

शिष्य—परन्तु महाराज, दूसरों के निमित्त पहिले से ही प्राणपण से कार्य कितने मनुष्य कर सकते हैं? जिस उदारता से मनुष्य आत्मसुख की इच्छा को बलि देकर औरों के निमित्त जीवनदान करता है वह उदारता मन में पहले से ही कैसे आयेगी?

स्वामीजी—और तपस्या करने में ही कितने मनुष्यों का मन लगता है? कामिनीकांचन के आकर्षण के कारण कितने मनुष्य भगवान लाभ करने की इच्छा करते हैं? तपस्या जैसी कठिन है निष्काम कर्म भी वैसा ही कठिन है। अतएव औरों के मंगल के लिए जो लोग कार्य करते हैं उनके विरुद्ध तुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं है। यदि तुझे तपस्या अच्छी लगे तो किये जा। परन्तु यदि किसी को कर्म ही अच्छा लगे तो उसे रोकने का तुझे क्या अधिकार है? तू क्या यही अनुमान किये बैठा है कि कर्म तपस्या नहीं है?

शिष्य—जी महाराज। पहिले मैं तपस्या का अर्थ और कुछ समझता था।

स्वामीजी—जैसे साधन-भजन का अभ्यास करते करते उस पर दृढ़ता हो जाती है वैसे ही पहिले अनिच्छा के साथ करते करते क्रमशः हृदय उसी में मग्न हो जाता है और परार्थ कार्य करने की प्रवृत्ति होती है, समझे? तुम एक बार अनिच्छा के साथ ही औरों की सेवा करके देखो, और फिर देखो कि तुम तपस्या के फल को प्राप्त होते है या नहीं। परार्थ कर्म करने के फल से मन का टेढ़ापन सीधा हो जाता है और वह मनुष्य निष्कपटता से औरों के

मंगल के लिए प्राण देने को भी तैयार हो जाता है।

शिष्य—परन्तु महाराज, परहित का प्रयोजन क्या है ?

स्वामीजी—अपने ही हित के निमित्त। तुमने इस शरीर पर ही अपना 'अहं' का अभिमान रख छोड़ा है। यदि तुम यह सोचो कि तुमने इस शरीर को दूसरों के निमित्त उत्सर्ग कर दिया है तो तुम इस अहंभाव को भी भूल जाओगे और अन्त में विदेह बुद्धि आ पहुँचेगी। एकाग्र चित्त से औरों के लिए जितना सोचोगे उतना ही अपने अहंभाव को भूलोगे। इस प्रकार कर्म करने पर जब क्रमश: चित्तशुद्धि हो जायगी, तब इस तत्त्व की अनुभूति होगी कि अपनी ही आत्मा सब जीवों तथा घटों में विराजमान है। औरों का हित करना आत्मविकास का एक उपाय है—एक पथ है। इसे भी एक प्रकार की ईश्वर-साधना जानना। इसका भी उद्देश आत्मविकास है। ज्ञान, भक्ति आदि की साधना से जैसा आत्मविकास होता है, परार्थ कर्म करने से भी वैसा ही होता है।

शिष्य—किन्तु महाराज, यदि मैं रात दिन औरों की चिन्ता में लगा रहूँ तो आत्मचिन्तन कब करूँगा ? किसी एक विशेष भाव को पकड़े रहने से भावातीत अविषय आत्मा का साक्षात्कार कैसे होगा ?

स्वामीजी—आत्मज्ञान का लाभ करना ही समस्त साधनाओं का, सारे पथों का मुख्य उद्देश्य है। यदि तुम सेवापरायण बनो तो उस कर्मफल से तुम्हें चित्तशुद्धि प्राप्त होगी। यदि सब जीवों को आत्मवत् देखो तो आत्मदर्शन होने में क्या शेष रह गया ? आत्म-दर्शन का अर्थ जड़ के समान एक दीवाल या लकड़ी के समान पड़ा रहना तो नहीं है।

शिष्य—माना ऐसा नहीं है, परन्तु शास्त्र में सर्व वृत्ति और सर्व

कर्म के निरोध को ही तो आत्मा का स्व-स्वरूप अवस्थान कहा है।

स्वामीजी—शास्त्र में जिस अवस्था को समाधि कहा गया है, वह अवस्था तो सहज में हर एक को प्राप्त नहीं होती, और किसी को हुई भी तो अधिक समय तक टिकती नहीं है। तब बताओ वह किस प्रकार समय बितायेगा? इसलिए शास्त्रोक्त अवस्था लाभ करने के बाद साधक प्रत्येक भूत में आत्मदर्शन कर अभिन्न ज्ञान से सेवापरायण बनकर अपने प्रारब्ध को नष्ट कर देते हैं। इस अवस्था को शास्त्रकार जीवन्मुक्त अवस्था कह गये हैं।

शिष्य—महाराज, इससे तो यही सिद्ध होता है कि जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त न करने से कोई भी ठीक ठीक परार्थ कार्य नहीं कर सकता।

स्वामीजी—शास्त्र में यह बात है। फिर यह भी है कि परार्थ-सेवापरायण होते-होते साधक को जीवन्मुक्ति अवस्था प्राप्त होती है। नहीं तो शास्त्र में "कर्मयोग" के नाम से एक भिन्न पथ के उपदेश करने का कोई प्रयोजन नहीं था।

शिष्य यह सब बातें समझकर अब चुप हो गया। स्वामीजी ने भी इस प्रसंग को छोड़कर अपने सुन्दर कण्ठ से एक गीत गाना आरम्भ किया।

गिरीश बाबू तथा अन्य भक्तगण भी उनके साथ उसी गीत को गाने लगे। "जगत् को तापित लख कातर हो" इत्यादि पद को बार बार गाने लगे। इस प्रकार "मजलो आमार मनभ्रमरा, कालीपद नीलकमले" "अगणन भुवनभारधारी" इत्यादि कई एक गीत गाने के पश्चात् तिथिपूजन के नियमानुसार एक जीती हुई मछली को खूब गा बजाकर गंगाजी में छोड़ दिया गया; तत्पश्चात् प्रसाद पाने के लिए भक्तों में बड़ी धूम मच गयी।

परिच्छेद १४

स्थान—बेलुड़, किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—नये मठ की भूमि पर श्रीरामकृष्ण की प्रतिष्ठा—आचार्य शंकर की अनुदारता—बौद्ध धर्म का पतन, कारण-निर्देश—तीर्थमाहात्म्य—'रथे तु वामनं दृष्ट्वा' इत्यादि श्लोक का अर्थ—भावाभाव के अतीत ईश्वरस्वरूप की उपासना।

आज स्वामीजी नये मठ की भूमि पर यज्ञ करके श्रीरामकृष्ण की प्रतिष्ठा करेंगे। प्रतिष्ठा दर्शन करने की इच्छा से शिष्य पिछली रात से ही मठ में उपस्थित है।

प्रातःकाल गंगास्नान कर स्वामीजी ने पूजाघर में प्रवेश किया। फिर पूजन के आसन पर बैठकर पुष्पपात्र में जो कुछ फूल और बिल्वपत्र थे, दोनों हाथ में सब एक साथ उठा लिये और श्रीरामकृष्णदेव की पादुकाओं पर अर्पित कर ध्यानस्थ हो गये—कैसा अपूर्व दर्शन था! उनकी धर्मप्रभा-विभासित स्निग्धोज्ज्वल-कान्ति से पूजागृह मानो एक अद्भुत ज्योति से पूर्ण हो गया! स्वामी प्रेमानन्द तथा अन्य स्वामीगण पूजागृह के द्वार पर ही खड़े रहे।

ध्यान तथा पूजा समाप्त होने के बाद नये मठ की भूमि में जाने का आयोजन होने लगा। ताँबे के जिस डिब्बे में श्रीराम-कृष्णदेव की भस्मास्थि रक्षित थी, स्वामीजी स्वयं उसको अपने कन्धे पर रखकर आगे चलने लगे। शिष्य अन्य संन्यासियों के

साथ पीछे पीछे चला। शंख-घण्टों की ध्वनि चारों ओर गूंज उठी। भागीरथी गंगाजी अपनी लहरों से मानो हाव-भाव के साथ नृत्य करने लगीं। मार्ग से जाते समय स्वामीजी शिष्य से बोले, 'श्रीगुरुदेव ने मुझसे कहा था कि तू मुझे कन्धे पर चढ़ाकर जहाँ ले जायगा, मैं वहीं जाऊँगा और रहूँगा, चाहे वह स्थान वृक्ष के तले हो या कुटी हो।' इसीलिए मैं स्वयं उनको कन्धे पर उठाकर नयी मठभूमि पर ले जा रहा हूँ। निश्चय जान लेना कि श्रीगुरुदेव 'बहुजनहिताय' यहाँ दीर्घ काल रहेंगे।

शिष्य—श्रीरामकृष्ण ने आपसे यह बात कब कही थी ?

स्वामीजी—(मठ के साधुओं को दिखाकर) क्या इनसे कभी यह बात नहीं सुनी ? काशीपुर के बाग में उन्होंने यह कहा था।

शिष्य—जी हाँ, हाँ। उसी समय सेवाधिकार के बारे में श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ तथा संन्यासी भक्तों में कुछ फूट सी पड़ गयी थी।

स्वामीजी—हाँ, फूट तो नहीं कह सकते, पर मन में कुछ मैल सा जरूर आ गया था। स्मरण रखना कि जो श्रीरामकृष्ण के भक्त हैं, जिन्होंने उनकी कृपा यथार्थ पायी है, वे गृहस्थ हों या संन्यासी, उनमें कभी कोई फूट नहीं हो सकती और न रही है। फिर भी उस थोड़े से मनोमालिन्य का कारण क्या था, सुनेगा ? सुन, प्रत्येक भक्त अपने अपने रंग से श्रीरामकृष्ण को रंगता है और इसीलिए वह उन्हें भिन्न भिन्न भाव से देखता है तथा समझता है। मानो वे एक सूर्य हैं और हम लोग भिन्न भिन्न रंगों के कांच अपनी आँखों के सामने लगाकर उस एक ही सूर्य को भिन्न भिन्न रंगों का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार से भविष्य में भिन्न भिन्न मतों का सृजन होता है; परन्तु जो सौभाग्य से अवतारी

पुरुषों का साक्षात् सत्संग करते हैं, उनके जीवन-काल में ऐसे दलों का प्राय: सृजन नहीं होता। आत्माराम पुरुष की ज्योति से वे चकाचौंध हो जाते हैं; अहंकार, अभिमान, क्षुद्र बुद्धि आदि सब मिट जाते हैं। अतएव दल बनाने का कोई अवसर उनको नहीं मिलता। वे अपने अपने भावानुसार उनकी हृदय से पूजा करते हैं।

शिष्य—महाराज, तब क्या श्रीरामकृष्ण के सब भक्त उनको भगवान जानकर भी उसी एक भगवान के स्वरूप को भिन्न भिन्न भावों से देखते हैं और इसी कारण क्या उनके शिष्य एवं प्रशिष्य छोटी छोटी सीमाओं में बद्ध होकर छोटे छोटे दल या सम्प्रदायों का सृजन कर बैठते हैं?

स्वामीजी—हाँ, इसी कारण से कुछ समय में सम्प्रदाय बन ही जायेंगे। देखो न, चैतन्यदेव के वर्तमान समय के अनुयायिओं में दो तीन सौ सम्प्रदाय हैं, ईसा के भी हजारों मत निकले हैं, परन्तु बात यह है कि वे सब सम्प्रदाय चैतन्यदेव और ईसा को ही मानते हैं।

शिष्य—तो ऐसा अनुमान होता है कि श्रीरामकृष्ण के भक्तों में भी कुछ समय के पश्चात् अनेक सम्प्रदाय निकल पड़ेंगे।

स्वामीजी—अवश्य निकलेंगे; परन्तु जो मठ हम यहाँ बनाते हैं उसमें सभी मतों और भावों का सामंजस्य रहेगा। श्रीगुरुदेव का जो उदार मत था उसी का यह केन्द्र होगा। महासमन्वयरूपी किरण जो यहाँ से प्रकाशित होगी, उससे सारा जगत् प्रकाशित हो जायगा।

इसी प्रकार का वार्तालाप करते हुए वे सब मठभूमि पर पहुँचे। स्वामीजी ने कन्धे पर से डिब्बे को जमीन पर बिछे हुए आसन पर उतारा और भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया। अन्य सभी ने भी प्रणाम किया।

इसके बाद स्वामीजी पूजा के लिए बैठ गये। पूजा के अन्त में यज्ञाग्नि प्रज्वलित करके हवन किया और संन्यासी गुरुभाइयों की सहायता से स्वयं क्षीर पकाकर श्रीरामकृष्ण को भोग चढ़ाया। ऐसा स्मरण होता है कि उस दिन स्वामीजी ने कुछ गृहस्थों को दीक्षा भी दी थी। जो कुछ भी हो, फिर पूजा सम्पन्न होने पर स्वामीजी ने समागतों को आदर से बुलाकर कहा, "आज आप लोग तन-मन-वाक्य द्वारा श्रीगुरुदेव से ऐसी प्रार्थना कीजिये जिससे महायुगावतार श्रीरामकृष्ण 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' इस पुण्यक्षेत्र पर अधिष्ठित रहें और इसे सब धर्मों का अपूर्व समन्वय-केन्द्र बनाये रखें।" हाथ जोड़कर सभी ने प्रार्थना की। पूजा सम्पूर्ण होने पर स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "श्रीगुरुदेव के इस डिब्बे को लौटा ले जाने का अधिकार हम लोगों (संन्यासियों) में से किसी को नहीं है; क्योंकि हमने ही यहाँ श्रीगुरुदेव की स्थापना की है। अतएव तू इस डिब्बे को अपने मस्तक पर रखकर मठ (नीलाम्बर बाबू की वाटिका) को ले चल।" शिष्य को डिब्बे को स्पर्श करने में हिचकिचाते देख स्वामीजी बोले, "डरो मत, उठा लो, मेरी आज्ञा है।" तब शिष्य ने बड़े आनन्द से स्वामीजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर डिब्बे को अपने सिर पर उठा लिया। अपने गुरु की आज्ञा से उस डिब्बे को स्पर्श करने का अधिकार पाने पर उसने अपने को कृतार्थ माना। आगे आगे शिष्य, उसके पीछे स्वामीजी और उनके पीछे बाकी सब चलने लगे। रास्ते में स्वामीजी उससे बोले, "श्रीगुरुदेव तेरे सिर पर सवार होकर तुझे आशीर्वाद दे रहे हैं। आज से सावधान रहना, किसी अनित्य विषय में अपना मन न लगाना।" एक छोटा सा पुल पार करते समय स्वामीजी शिष्य से फिर बोले, "देखो, यहाँ

खूब सावधानी और सतर्कता से चलना।"

इस प्रकार सब लोग निर्विघ्न मठ में पहुँचकर हर्ष मनाने लगे। स्वामीजी अब शिष्य से कथा-प्रसंग करने लगे, "श्रीगुरुदेव की इच्छा से आज उनके धर्मक्षेत्र की प्रतिष्ठा हो गयी। बारह वर्ष की चिन्ता का बोझ आज सिर से उतर गया। अब मेरे मन में क्या क्या भाव उदय हो रहे हैं, सुनेगा? यह मठ विद्या एवं साधना का एक केन्द्र-स्थान होगा। तुम्हारे समान सब धार्मिक गृहस्थ इस भूमि के चारों ओर अपने घर-बार बनाकर बसेंगे और बीच में त्यागी संन्यासी लोग रहेंगे। मठ के दक्षिण की ओर इंग्लैंड तथा अमरीका के भक्तों के लिए गृह बनाये जायेंगे। यदि ऐसा बन जाय तो कैसा होगा?

शिष्य—आपकी यह कल्पना बड़ी अद्भुत है।

स्वामीजी—कल्पना क्यों? समय आने पर यह सब अवश्य हो जायगा। मैं तो इसकी नींव मात्र डाल रहा हूँ। बाद में और न जाने क्या क्या होगा? कुछ तो मैं कर जाऊँगा और कुछ विचार (ideas) तुम लोगों को दे जाऊँगा? भविष्य में तुम उन सब को कार्य रूप में परिणत करोगे। बड़ी बड़ी मीमांसा (principles) को सुनकर रखने से क्या होगा? प्रतिदिन उनको कार्यान्वित करना चाहिए। शास्त्रों की लम्बी लम्बी बातों को केवल पढ़ने से क्या होगा? पहले उन्हें समझना चाहिए। फिर अपने जीवन में उनको परिणत करना चाहिए। समझे? इसी को कहते हैं (practical religion) व्यावहारिक धर्म।

इस प्रकार अनेक प्रसंग होते-होते श्रीशंकराचार्य का प्रसंग आरम्भ हुआ। शिष्य आचार्य शंकर का बड़ा ही पक्षपाती था; यहाँ तक कि उसको उन पर दीवाना कहा जा सकता था। वह सब दर्शनों

में शंकरप्रतिष्ठित अद्वैत मत को मुकुटमणि समझता था। और यदि कोई श्रीशंकराचार्य के उपदेशों में कुछ दोष निकालता था तो उसके हृदय में सर्पदंश की सी पीड़ा होने लगती थी। स्वामीजी यह जानते थे और उनको यह पसन्द नहीं था कि कोई किसी मत का दीवाना बन जाय। वे जब भी किसी को किसी विषय का दीवाना देखते थे, तभी उस विषय के विरुद्ध पक्ष में सहस्रों अमोघ युक्तियों से उस दीवानेपनरूपी बांध को चूर्ण चूर्ण कर देते थे।

स्वामीजी—शंकर की बुद्धि क्षुर-धार के समान तीव्र थी। वे विचारक थे और पण्डित भी, परन्तु उनमें उदार भावों की गम्भीरता अधिक नहीं थी और ऐसा अनुमान होता है कि उनका हृदय भी उसी प्रकार का था। इसके अतिरिक्त उनमें ब्राह्मणत्व का अभिमान बहुत था। एक दक्षिणी ब्राह्मण थे, और क्या? अपने वेदान्त भाष्य में कैसी बहादुरी से समर्थन किया है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य जातियों को ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता! उनके विचार की क्या प्रशंसा करूँ! विदुरजी का उल्लेख कर उन्होंने कहा है कि पूर्व जन्म में ब्राह्मण शरीर होने के कारण वह (विदुर) ब्रह्मज्ञ हुए थे। अच्छा, यदि आजकल किसी शूद्र को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो तो क्या शंकर के मतानुसार कहना होगा कि वह पूर्वजन्म में ब्राह्मण था? क्यों, ब्राह्मणत्व को लेकर ऐसी खींचातानी करने का क्या प्रयोजन है। वेद ने तो प्रत्येक त्रैवर्णिक को ही वेदपाठ और ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बताया है। तो फिर इस विषय के निमित्त वेद के भाष्य में ऐसी अद्‌भुत विद्या का प्रकाश करने का कोई प्रयोजन न था। फिर उनके हृदय के भाव का विचार करो। उन्होंने कितने बौद्ध श्रमणकों को आग में झोंक कर मार डाला! इन बौद्ध लोगों को भी कैसी बुद्धि थी कि तर्क

में हारकर आग में जल मरे। शंकराचार्य के ये कार्य, संकीर्ण दीवानेपन से निकले हुए पागलपन के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं; दूसरी ओर बुद्धदेव के हृदय का विचार करो। 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' का तो कहना ही क्या वे एक बकरी के बच्चे की जीवनरक्षा के लिए अपना जीवन-दान देने को सदा प्रस्तुत रहते थे। कैसा उदार भाव, कैसी दया!—एक बार सोचो तो।

शिष्य—क्यों महाराज, क्या बुद्धदेव के इस भाव को भी और एक प्रकार का पागलपन नहीं कह सकते? एक पशु के निमित्त अपने प्राण देने को तैयार हो गये!

स्वामीजी—परन्तु उनके उस दीवानेपन से इस संसार के कितने जीवों का कल्याण हुआ यह भी तो देखो। कितने आश्रम बने, कितने विद्यालय खुले, कितनी पशुशालाएँ स्थापित हुईं, स्थापत्य विद्या का कितना विकास हुआ, यह सब भी तो सोचो! बुद्धदेव के जन्म होने के पूर्व इस देश में क्या था? तालपत्र की पोथियों में कुछ धर्मतत्त्व था, सो भी बिरले ही मनुष्य उसको जानते थे। लोग इसको कैसे नित्य कार्य में परिणत करें यह बुद्धदेव ने ही सिखलाया। वे ही वास्तव में वेदान्त के स्फूर्ति-देवता थे।

शिष्य—परन्तु महाराज, यह भी है कि वर्णाश्रमधर्म को तोड़कर भारत में हिन्दू धर्म के विप्लव की सृष्टि वे ही कर गये हैं और इसीलिए कुछ ही दिनों में उनका धर्म भारत से निकाल दिया गया। यह बात भी सत्य प्रतीत होती है।

स्वामीजी—बौद्ध धर्म की ऐसी दुर्दशा उनकी शिक्षा के कारण नहीं हुई, पर हुई उनके शिष्यों के दोष से। दर्शनशास्त्रों की अत्यधिक चर्चा से उनके हृदय की उदारता कम हो गयी। तत्पश्चात् क्रमशः वामाचारियों के व्यभिचार से बौद्ध धर्म मर गया। ऐसी

बीभत्स वामाचार-प्रथा का उल्लेख वर्तमान समय के किसी तन्त्र में भी नहीं है! बौद्ध धर्म का एक प्रधान केन्द्र 'जगन्नाथ क्षेत्र' था। वहाँ के मन्दिर पर जो बीभत्स मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, उनको देखने से ही इन बातों को जान जाओगे। श्रीरामानुजाचार्य तथा महाप्रभु चैतन्यदेव के समय से यह पुरुषोत्तम क्षेत्र वैष्णवों के अधिकार में आया है। वर्तमान समय में महापुरुषों की शक्ति से इस स्थान ने एक और नया रूप धारण किया है।

शिष्य—महाराज, शास्त्रों से तीर्थस्थानों की विशेष महिमा जान पड़ती है। यह कहाँ तक सत्य है?

स्वामीजी—समस्त ब्रह्माण्ड जब नित्य आत्मा ईश्वर का ही विराट शरीर है, तब विशेष विशेष स्थानों के माहात्म्य में आश्चर्य की क्या बात है? विशेष स्थानों पर उनका विशेष विकास है। कहीं पर आप ही से प्रकट होते हैं और कहीं कहीं शुद्धसत्त्व मनुष्य के व्याकुल आग्रह से प्रकट होते हैं। साधारण मनुष्य जिज्ञासु होकर वहाँ पहुँचने पर सहज में फल प्राप्त करते हैं। इसलिए तीर्थादि का आश्रय लेने से समय पर आत्मा का विकास होना सम्भव है।

फिर भी यह तुम निश्चय जानो कि इस मानव-शरीर की अपेक्षा और कोई बड़ा तीर्थ नहीं है। इस शरीर में जितना आत्मा का विकास हो सकता है उतना और कहीं नहीं। श्रीजगन्नाथजी का जो रथ है वह भी मानो इसी शरीररूपी रथ का एक स्थूल रूप है। इसी शरीररूपी रथ में हमें आत्मा का दर्शन करना होगा। तूने तो पढ़ा ही है कि 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु'। 'मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते' में जो वामनरूपी आत्मा के दर्शन का वर्णन किया है वही ठीक जगन्नाथ दर्शन है। इसी

प्रकार 'रथे च वामनं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते' का भी अर्थ यही है कि तेरे शरीर में जो आत्मा है उसका दर्शन यदि तू कर लेगा तो फिर तेरा पुनर्जन्म नहीं होगा। परन्तु अभी तो तू इस आत्मा की उपेक्षा करके अपने इस विचित्र जड़ शरीर को ही सर्वदा 'मैं' समझा करता है। यदि लकड़ी के रथ में भगवान को देखकर ही जीव की मुक्ति हो जाती तब तो प्रत्येक वर्ष करोड़ों मनुष्यों को ही मुक्तिलाभ हो जाता—और फिर आजकल तो जगन्नाथजी पहुँचने के लिए रेल की भी सुविधा हो गयी है! फिर भी जगन्नाथजी के सम्बन्ध में साधारण भक्तों का जो विश्वास है उसके बारे में मैं यह नहीं कहता हूँ कि वह कुछ भी नहीं अथवा मिथ्या है और सचमुच एक श्रेणी के लोग ऐसे हैं भी जो इसी मूर्ति का अवलम्बन लेकर धीरे धीरे उच्च तत्त्व को प्राप्त हो जाते हैं; अतएव इस मूर्ति का आश्रय लेकर भगवान की विशेष शक्ति जो प्रकाशित हो रही है इसमें भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

शिष्य—महाराज, फिर, क्या मूर्ख और बुद्धिमान का धर्म अलग अलग है?

स्वामीजी—हाँ, यदि ऐसा न होता तो शास्त्रों में अधिकार के बारे में जो इतनी चर्चा, इतना निर्देश तथा वर्णन आदि किया गया है वह फिर क्यों होता? सब कुछ सत्य ही है। फिर भी आपेक्षिक सत्य भिन्न भिन्न मात्राओं का होता है। मनुष्य जिसे सत्य कहता है वह सब इसी प्रकार का है—कोई अल्प मात्रा में सत्य होता है, कोई अधिक मात्रा में। नित्य सत्य तो केवल एकमात्र भगवान ही हैं। यही आत्मा जड़ वस्तुओं में भी व्याप्त है—यद्यपि नितान्त सुप्तावस्था में। यही जीवनामधारी मनुष्य में किसी अंश में जागृत (Conscious) हो जाती है। और फिर श्रीकृष्ण,

बुद्धदेव, भगवान शंकराचार्य आदि में वही पूर्ण भाव से जागृत (Superconscious) हो जाती है। इसके परे और एक अवस्था है जिसको भाव या भाषा द्वारा प्रकट नहीं कर सकते-- 'अवाङ्मनसगोचरम्'।

शिष्य--महाराज, किसी किसी भक्त-सम्प्रदाय का ऐसा मत है कि भगवान के साथ कोई एक भाव या सम्बन्ध स्थापित करके साधना करनी चाहिए। वे लोग आत्मा की महिमा आदि पर कोई ध्यान नहीं देते। और जब इस सम्बन्ध में कोई चर्चा होती है तो वे कहते हैं कि 'यह सब चर्चा छोड़कर सर्वदा भाव में ही रहो'।

स्वामीजी--हाँ, उनके लिए उनका यह कहना भी ठीक है। ऐसा ही करते करते एक दिन उनमें भी ब्रह्म जागृत हो उठेगा। हम संन्यासी भी जो कुछ करते हैं वह भी एक प्रकार का 'भाव' ही है। हमने संसार का त्याग किया है; अतएव माँ, बाप, स्त्री, पुत्र इत्यादि जो सांसारिक सम्बन्ध हैं उनमें से किसी एक का भाव ईश्वर पर आरोपित कर साधना करना हमारे लिए कैसे सम्भव हो सकता है? हमारी दृष्टि से ये सब संकीर्ण बातें हैं। सचमुच, सब भावों से अतीत भगवान की उपासना करना बड़ा कठिन है। परन्तु बताओ तो सही यदि हम अमृत नहीं पा सकते तो क्या विषपान करने लगें? इसी आत्मा के सम्बन्ध में तू सदैव चर्चा कर, श्रवण कर, मनन कर। इस प्रकार अभ्यास करते करते कुछ समय के बाद देखोगे कि तुझमें ब्रह्मरूपी सिंह जागृत हो उठेगा। तू इन सब भावकल्पनाओं के परे चला जा। सुन, कठोपनिषद् में यम ने क्या कहा है--

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'--उठो, जागो और श्रेष्ठ

पुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त कर लो।

इस प्रकार यह प्रकरण समाप्त हुआ। मठ में प्रसाद पाने की घण्टी हो गयी और स्वामीजी के साथ शिष्य भी प्रसाद ग्रहण करने के लिए चला गया।

परिच्छेद १५

स्थान—बेलुड़—किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी (फरवरी मास)

विषय—स्वामीजी की बाल्य व यौवन अवस्था की कुछ घटनाएँ तथा दर्शन—अमरीका में प्रकाशित विभूतियों का वर्णन—भीतर से मानो कोई वक्तृताराशि को बढ़ाता है ऐसी अनुभूति—अमरीका के स्त्री पुरुषों का गुणावगुण—ईर्ष्या के मारे पादरियों का अत्याचार—जगत् में कोई महत्कार्य कपट से नहीं बनता—ईश्वर पर निर्भरता—नाग महाशय के विषय में कुछ कथन।

स्वामीजी मठ को बेलुड़ में, श्रीयुत नीलाम्बर बाबू के बाग में ले आये। आलमबाजार में से यहाँ आने पर अभी तक सब वस्तुओं को ठीक से लगाया नहीं गया है। चारों ओर सब बिखरी पड़ी हैं। स्वामीजी नये भवन में आकर बड़े प्रसन्न हो रहे हैं। शिष्य के वहाँ उपस्थित होने पर बोले, "अहा! देखो कैसी गंगाजी हैं। कैसा भवन है! ऐसे स्थान पर मठ न बनने से क्या कभी चित्त प्रसन्न होता।" तब अपराह्न का समय था।

सन्ध्या के पश्चात् दुमंजिले पर स्वामीजी से शिष्य का साक्षात् होने से अनेक प्रकार की चर्चा होने लगी। उस गृह में उस समय और कोई भी नहीं था। शिष्य बीच बीच में बातचीत के सिल-सिले में अनेक प्रकार के प्रश्न करने लगा। अन्त में उसने उनकी बाल्यावस्था के विषय में सुनने की अभिलाषा प्रकट की। स्वामीजी कहने लगे, "छोटी अवस्था से ही मैं बड़ा साहसी था। यदि ऐसा न होता तो निःसम्बल संसार में फिरना क्या मेरे लिए कभी

सम्भव होता ?"

रामायण की कथा सुनने की इच्छा उन्हें बचपन से ही थी। पड़ोस में जहाँ भी रामायणगान होता था, वहीं स्वामीजी अपना खेलकूद छोड़कर पहुँच जाते थे। उन्होंने कहा कि कथा सुनते सुनते किसी दिन उसमें ऐसे लीन हो जाते थे कि अपना घरबार तक भूल जाते थे। 'रात बढ़ गयी है' या 'घर जाना है' इत्यादि विषयों का स्मरण भी नहीं रहता था। किसी दिन कथा में सुना कि हनुमानजी कदली बन में रहते हैं। सुनते ही उनके मन में इतना विश्वास हो गया कि वे कथा समाप्त होने पर उस दिन रात में घर नहीं लौटे और घर के निकट किसी एक उद्यान में केले के पेड़ के नीचे बहुत रात तक हनुमानजी के दर्शन पाने की इच्छा से बैठे रहे।

रामायण के नायक नायिकाओं में से हनुमानजी पर स्वामीजी की अगाध भक्ति थी। संन्यासी होने पर भी कभी कभी महावीरजी के प्रसंग में मतवाले हो जाते थे और अनेक बार मठ में महावीरजी की एक प्रस्तर मूर्ति रखने का संकल्प करते थे।

छात्रजीवन में दिन भर अपने साथियों के साथ आमोदप्रमोद में ही रहते थे। रात को घर के द्वार बन्द कर अपना अध्ययन करते थे। दूसरे किसी को यह नहीं जान पड़ता था कि वे कब अपना अध्ययन कर लेते हैं।

* * *

शिष्य ने पूछा, "महाराज, स्कूल में पढ़ते समय क्या कभी आपको किसी प्रकार का दिव्यदर्शन (Vision) हुआ था ?"

स्वामीजी—स्कूल में पढ़ते समय एक दिन रात में द्वार बन्द कर ध्यान करते करते मन भलीभाँति तन्मय हो गया। कितनी

देर ऐसे भाव से ध्यान किया था, यह कह नहीं सकता। ध्यान भंग हो गया। तब भी बैठा हूँ। इतने में ही देखता हूँ कि दक्षिण दीवाल को भेदकर एक ज्योतिर्मय मूर्ति निकल आयी और मेरे सामने खड़ी हो गयी। उसके मुख पर एक अद्भुत ज्योति थी पर भाव मानो कोई भी न था—प्रशान्त संन्यासी मूर्ति। मस्तक मुण्डित था और हाथों में दन्ड-कमण्डल था। मेरे ऊपर टकटकी लगाकर कुछ समय तक देखती रही। मानो मुझसे कुछ कहेगी। मैं भी अवाक् होकर उसकी ओर देखने लगा। तत्पश्चात् मन कुछ ऐसा भयभीत हो गया कि मैं शीघ्र ही द्वार खोलकर बाहर निकल आया। फिर मैं सोचने लगा क्यों मैं इस प्रकार मूर्ख के समान भाग आया, सम्भव था कि वह कुछ मुझसे कहती। परन्तु फिर कभी उस मूर्ति के दर्शन नहीं हुए। कितने ही दिन चिन्ता की कि यदि फिर उसके दर्शन मिलें तो उससे डरूँगा नहीं वरन् वार्तालाप करूँगा; किन्तु फिर दर्शन हुआ ही नहीं।

शिष्य—फिर इस विषय पर आपने कुछ चिन्ता भी की?

स्वामीजी—चिन्ता अवश्य की, किन्तु ओर-छोर नहीं मिला। अब ऐसा अनुमान होता है कि मैंने तब भगवान बुद्धदेव को देखा था।

कुछ देर बाद स्वामीजी बोले, "मन के शुद्ध होने पर अर्थात् मन से काम और कांचन की लालसा शान्त हो जाने पर, कितने ही दिव्य दर्शन होते हैं। वे दर्शन बड़े ही अद्भुत होते हैं, परन्तु उन पर ध्यान रखना उचित नहीं है। रात दिन उनमें ही मन रहने से साधक और आगे नहीं बढ़ सकते हैं। तुमने भी तो सुना है कि श्रीगुरुदेव कहा करते थे, 'मेरे चिन्तामणि की ड्योढ़ी पर कितने ही मणि पड़े हुए हैं'। आत्मा का साक्षात्कार करना ही उचित

है। उन सब पर ध्यान देने से क्या होगा ?"

इन कथाओं को कहते ही स्वामीजी तन्मय होकर किसी विषय की चिन्ता करते हुए कुछ समय तक मौन भाव से बैठे रहे। फिर कहने लगे, "देखो, जब मैं अमरीका में था, तब मुझमें अद्भुत शक्तियों का स्फुरण हुआ था। क्षण मात्र में मैं मनुष्य की आँखों से उसके मन के सब भावों को जान जाता था। किसी के मन में कोई कैसी ही बात क्यों न हो; वह सब मेरे सामने 'हस्तामलकवत्' प्रत्यक्ष हो जाती थी। कभी किसी किसी से कह भी दिया करता था। जिन जिन से मैं ऐसा कहा करता था उनमें से अनेक मेरे चेले बन जाते थे—और यदि कोई किसी बुरे अभिप्राय से मुझसे मिलने आता था, तो वह इस शक्ति का परिचय पाकर फिर कभी मेरे पास नहीं आता था।

"जब मैंने शिकागो आदि शहरों में वक्तृता देना आरम्भ किया तब सप्ताह में बारह बारह, तेरह तेरह और कभी इससे भी अधिक वक्तृताएँ देनी पड़ती थीं। शारीरिक और मानसिक परिश्रम बहुत अधिक होने के कारण मैं बहुत थक जाता था और अनुमान होता था कि मानो वक्तृताओं के सब विषय समाप्त होने वाले ही हैं। 'अब मैं क्या करूँगा, कल फिर नयी बातें क्या कहूँगा' बस ऐसी ही चिन्ता मन में आया करती थी। ऐसा अनुमान होता था कि कोई नया भाव नहीं उठेगा। एक दिन वक्तृता देने के बाद अन्त में लेटे हुए चिन्ता कर रहा था, 'बस, अब तो सब कह दिया, अब क्या उपाय करूँ ?' ऐसी चिन्ता करते करते कुछ तन्द्रा सी आ गयी। उसी अवस्था में सुनने में आया कि मानो कोई मेरे पास खड़े होकर वक्तृता दे रहे हैं, उसमें कितने ही नये भाव तथा नयी कथाओं के वर्णन हैं—मानो वे सब इस जन्म में कभी मेरे

सुनने में या ध्यान में आये ही नहीं। सोकर उठते ही उन सब बातों का स्मरण रखता था और वक्तृताओं में वही बातें कहा करता था। ऐसा कितनी ही बार हुआ है, कहाँ तक गिनाऊँ? सोते सोते ऐसी वक्तृताएँ कितनी ही बार सुनीं! कभी कभी तो वक्तृताएँ इतने ज़ोर से दी जाती थीं कि दूसरे कमरों में भी औरों को शब्द सुनायी पड़ता था। दूसरे दिन वे लोग मुझसे पूछते थे, 'स्वामीजी, कल रात में आप किससे इतनी जोर से वार्तालाप कर रहे थे?' उनके इस प्रश्न को किसी प्रकार टाल दिया करता था। वह बड़ी ही अद्भुत घटना थी।"

शिष्य स्वामीजी की बातों को सुन निर्वाक् होकर चिन्ता करते हुए बोला, "महाराज, ऐसा अनुमान होता है कि आप ही सूक्ष्म शरीर में वक्तृताएँ दिया करते थे और स्थूल शरीर से कभी कभी प्रतिध्वनि निकलती थी।"

यह सुनकर स्वामीजी बोले, "सम्भव है।"

इसके बाद अमरीका की बात फिर छिड़ी। स्वामीजी बोले, "उस देश में पुरुषों से स्त्रियाँ अधिक शिक्षिता होती हैं। विज्ञान और दर्शन में बड़ी पण्डिता हैं, इसीलिए वे मेरा इतना मान करती थीं। वहाँ पुरुष रात दिन परिश्रम करते हैं, तनिक भी विश्राम लेने का अवसर नहीं पाते। स्त्रियाँ स्कूलों में पढ़कर और पढ़ाकर बिदुषी बन गयी हैं। अमरीका में जिस ओर भी दृष्टि डालो, स्त्रियों का ही साम्राज्य दिखायी देता है।"

शिष्य——महाराज, ईसाइयों में से जो संकीर्ण हृदय के (कट्टर) थे, वे क्या आपके विरुद्ध नहीं हुए?

स्वामीजी——हाँ, हुए कैसे नहीं? फिर जब लोग मेरा बहुत मान करने लगे, तब वे पादरी लोग मेरे बड़े पीछे पड़े। मेरे नाम

पर कितनी ही निन्दा समाचार पत्रों में लिखने लगे। कितने ही लोग उनका प्रतिवाद करने को मुझसे कहते थे, परन्तु मैं उन पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया करता था। मेरा यह दृढ़ विश्वास था कि कपट से जगत् में कोई महान् कार्य नहीं होता, इसीलिए उन अश्लील निन्दाओं पर ध्यान न देकर मैं धीरे धीरे अपना कार्य किये जाता था। अनेक बार यह भी देखने में आता था कि जिसने मेरी व्यर्थ निन्दा की वही फिर अनुतप्त होकर मेरी शरण में आता था और स्वयं ही समाचार पत्रों में प्रतिवाद कर मुझसे क्षमा माँगता था। कभी कभी ऐसा भी हुआ कि यह सुनकर कि किसी घर में मेरा निमन्त्रण है, वहाँ कोई जा पहुँचा और मेरे बारे में घरवालों से मिथ्या निन्दा कर आया और घरवाले भी यह सुनकर द्वार बन्द करके कहीं चल दिये। मैं निमन्त्रण पालन कर वहाँ गया, देखा सब सुनसान, कोई भी वहाँ नहीं है। फिर कुछ दिन पीछे वे ही लोग सत्य समाचार को जानकर बड़े दुःखित हो मेरे पास शिष्य होने को आये। बच्चा, जानते तो हो कि इस संसार में निरी दुनियादारी है। जो यथार्थ साहसी और ज्ञानी है, वह क्या ऐसी दुनियादारी से कभी घबड़ाता है? 'जगत् चाहे जो कहे, क्या परवाह है, मैं अपना कर्तव्य पालन करता चला जाऊँगा' यही वीरों की बातें हैं। यदि 'वह क्या कहता है, क्या लिखता है,' ऐसी ही बातों पर रात दिन ध्यान रहे तो जगत् में कोई महान् कार्य हो ही नहीं सकता। क्या तुमने यह श्लोक नहीं सुना—

"निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥"

लोग तुम्हारी स्तुति करें या निन्दा, लक्ष्मी तुम्हारे ऊपर कृपावती हों या न हों, तुम्हारा देहान्त आज हो या युग भर बाद, तुम न्यायपथ से कभी भ्रष्ट न हो। कितने ही तूफान पार करने पर मनुष्य शान्ति के राज्य में पहुँचता है। जो जितना बड़ा हुआ है, उसके लिए उतनी ही कठिन परीक्षा रखी गयी है। परीक्षारूपी कसौटी पर उसके जीवन के घिसने के पश्चात् जगत् ने उसको बड़ा कहकर स्वीकार किया है। जो भीरु, कापुरुष होते हैं, वे ही समुद्र की लहरों को देखकर किनारे पर ही नाव रखते हैं। जो महावीर होते हैं वे क्या किसी बात पर ध्यान देते हैं? 'जो कुछ होना है सो हो, मैं अपना इष्टलाभ अवश्य करके रहूँगा' यही यथार्थ पुरुषकार है। इस पुरुषकार के हुए बिना सैकड़ों दैव भी तुम्हारे जड़त्व को दूर नहीं कर सकते।

शिष्य—तो दैव पर निर्भर होना क्या दुर्बलता का चिह्न है?

स्वामीजी—शास्त्र में निर्भरता को पंचम पुरुषार्थ कहकर निर्देश किया है; परन्तु हमारे देश में लोग जिस प्रकार दैव पर निर्भर रहते हैं, वह मृत्यु का चिह्न है, महाकापुरुषता की चरम अवस्था है। ईश्वर की एक अद्भुत कल्पना कर उसके माथे अपने दोषों को थापने की चेष्टा मात्र है। श्रीरामकृष्ण द्वारा कथित गोहत्या-पाप की कहानी * तो तुमने सुनी होगी; अन्त में वह पाप उद्यान-

---

* एक दिन किसी मनुष्य के बगीचे में एक गाय घुस गयी और उसने उसका एक बड़ा सुन्दर पौधा रौंदकर नष्ट कर डाला। इससे वह मनुष्य बहुत ही क्रुद्ध हुआ और उसने उस गाय को इतना मारा कि वह मर गयी। यह खबर सारे गाँव भर में फैल गयी। वह मनुष्य यह देखकर कि उस पर गोहत्या लग रही है कहने लगा, "अरे मैंने गाय को कब मारा है? इसका दोषी तो मेरा हाथ है और चूंकि हाथ इन्द्र के आधीन है इसलिए सारा दोष इन्द्र का है।" इन्द्र ने जब यह सुना तो उसने एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप

स्वामी को ही भोगना पड़ा। आजकल सभी 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' कहकर पाप तथा पुण्य दोनों को ईश्वर के माथे मढ़ते हैं। मानो आप जल के कमलपत्रों के समान निर्लिप्त हैं! यदि वे लोग ऐसे ही भाव पर सर्वदा जमे रह सकें तो वे मुक्त हैं; किन्तु अच्छे कार्य के समय 'मैं' और बुरे के समय 'तुम' इस प्रकार के दैव पर निर्भरता का क्या कहना है! जब तक पूर्ण प्रेम या ज्ञान नहीं होता, तब तक निर्भरता की अवस्था हो ही नहीं सकती। जो ठीक ठीक निर्भर हो गये हैं, उनमें भले-बुरे की भेदबुद्धि नहीं रहती। हममें (श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में) नाग महाशय ही ऐसी अवस्था के उज्ज्वल दृष्टान्त हैं।

अब बात बात में नाग महाशय का प्रसंग चल पड़ा। स्वामीजी बोले, "ऐसा अनुरागी भक्त और भी दूसरा कोई है? अहा! फिर कब उनसे मिल सकूँगा?"

शिष्य—माताजी (नाग महाशय की पत्नी) ने मुझे लिखा है कि आपके दर्शन-निमित्त वे शीघ्र ही कलकत्ता आयँगी।

स्वामीजी—श्रीरामकृष्ण राजा जनक से उनकी तुलना किया करते थे। ऐसे जितेन्द्रिय पुरुष का दर्शन होना तो बड़े भाग्य की बात है। ऐसे लोगों की कथा सुनने में भी नहीं आती। तुम उनका

धारण कर उस मनुष्य के पास जाकर पूछा, "क्यों भाई, यह सुन्दर बगीचा किसने बनाया है?" वह मनुष्य बोला, "मैंने"। इन्द्र ने फिर पूछा, "और भाई, ये सब बढ़िया बढ़िया पेड़, फल-फूल के पौधे आदि किसने लगाये हैं?" वह मनुष्य बोला, "मैंने ही।" फिर इन्द्र ने मरी हुई गाय की ओर दिखाकर पूछा, "और इस गाय को किसने मारा?" वह मनुष्य बोला, "इन्द्र ने!" यह सुनकर इन्द्र हँसे और बोले, "बगीचा तुमने लगाया, फल-फूल के पौधे तुमने लगाये और गाय मारी बेचारे इन्द्र ने!—क्यों यही बात है न?"

सत्संग सर्वदा करना। वे श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग भक्तों में से एक हैं।

शिष्य—उस देश में अनेक लोग उनको पागल समझते हैं, परन्तु मैंने तो पहले से ही उनको एक महापुरुष समझा है। वे मुझसे बहुत प्रेम करते हैं और मुझ पर उनकी कृपा भी बहुत है।

स्वामीजी—तुमने ऐसे महापुरुष का सत्संग किया है फिर तुम्हें क्या चिन्ता है? अनेक जन्मों की तपस्या से ऐसे महापुरुषों का सत्संग मिलता है। श्री नाग महाशय घर में किस प्रकार से रहते हैं?

शिष्य—महाराज, उन्हें तो मैंने कभी कोई काम-काज करते नहीं पाया। केवल अतिथि-सेवा में लगे रहते हैं। पाल बाबू आदि जो कुछ रुपया दे देते हैं उसके अतिरिक्त उनके खाने पीने का और कोई सहारा नहीं है। परन्तु धनिकों के भवन में जैसी धूम-धाम रहती है वैसी ही उनके घर भी देखी। परन्तु वे अपने भोग के निमित्त एक भी पैसा व्यय नहीं करते। जो कुछ व्यय करते हैं केवल परसेवार्थ। सेवा—सेवा—यही उनके जीवन का महाव्रत मालूम होता है। ऐसा अनुमान होता है कि प्रत्येक जीव में, प्रत्येक वस्तु में आत्मदर्शन करके वे अभिन्न ज्ञान से जगत् की सेवा करने को व्याकुल हैं। सेवा के लिए अपने शरीर को शरीर नहीं समझते। वास्तव में मुझे भी सन्देह होता था कि उन्हें शरीर-ज्ञान है या नहीं। आप जिस अवस्था को ज्ञानातीत अवस्था (superconscious state) कहते हैं, मेरा अनुमान है कि वे सर्वदा उसी अवस्था में रहते हैं।

स्वामीजी—ऐसा क्यों न हो? श्रीगुरुदेव उनसे कितना प्रेम करते थे। वे ही उनके एक साथी हैं जिन्होंने पूर्व वंग में जन्म लिया था। उन्हीं के प्रकाश से पूर्व वंग प्रकाशित हुआ है।

परिच्छेद १६

स्थान—बेलुड़, किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी (नवम्बर)

विषय—काश्मीर में अमरनाथजी का दर्शन—क्षीरभवानी के मन्दिर में देवीजी की वाणी का श्रवण और मन से सकल संकल्प का त्याग—प्रेतयोनि का अस्तित्व—भूत-प्रेत देखने की इच्छा मन में रखना अनुचित—स्वामीजी का प्रेतदर्शन और श्राद्ध व संकल्प से उसका उद्धार।

आज दो तीन दिन हुए कि स्वामीजी लौटकर काश्मीर से आये हैं। शरीर कुछ स्वस्थ नहीं है। शिष्य के मठ में आते ही स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज बोले, "जब से काश्मीर से लौटे हैं, स्वामीजी किसी से कुछ वार्तालाप नहीं करते, मौन होकर स्तब्ध बैठे रहते हैं, तुम स्वामीजी से कुछ वार्तालाप करके उनके मन को नीचे (अर्थात् जगत् के कार्यों पर) लाने का प्रयत्न करो।"

शिष्य ने ऊपर स्वामीजी के कमरे में जाकर देखा कि स्वामीजी मुक्तपद्मासन होकर पूर्व की ओर मुँह फेरे बैठे हैं, मानो गम्भीर ध्यान में मग्न हैं। मुँह पर हँसी नहीं, उज्जवल नेत्रों की दृष्टि बाहर की ओर नहीं, मानो अपने भीतर कुछ देख रहे हैं। शिष्य को देखते ही बोले, "बच्चा, आ गये; बैठो।" बस, इतनी ही बात की। स्वामीजी के बायें नेत्र को रक्तवर्ण देखकर शिष्य ने पूछा, "आपकी यह आँख लाल कैसे हो रही है?" "कुछ नहीं" कहकर स्वामीजी फिर स्तब्ध हो गये। बहुत समय तक बैठे रहने पर भी जब स्वामीजी ने कुछ भी वार्तालाप नहीं किया तब शिष्य व्याकुल होकर स्वामीजी के चरणकमलों को स्पर्श कर बोला,

"श्रीअमरनाथजी में आपने जो कुछ प्रत्यक्ष किया है क्या वह सब मुझे नहीं बतलाइयेगा ?" पादस्पर्श से स्वामीजी कुछ चौंक से उठे, दृष्टि भी बाहर की ओर खुली और बोले, "जब से अमर-नाथजी का दर्शन किया है, चौबीसों घण्टे मानो श्रीशिवजी मेरे मस्तक में बैठे रहते हैं; किसी प्रकार भी नहीं हटते।" शिष्य इन बातों को सुनकर अवाक् हो गया।

स्वामीजी—अमरनाथ पर और फिर क्षीरभवानी जी के मन्दिर में मैंने बहुत तपस्या की थी।

स्वामीजी फिर कहने लगे, "अमरनाथ को जाते समय पहाड़ की एक खड़ी चढ़ाई से होकर गया था। उस पगडण्डी से पहाड़ी लोग ही चढ़ाई-उतराई करते हैं, कोई यात्री उधर से नहीं जाता; परन्तु इसी मार्ग से होकर जाने की मुझे जिद सी हो गयी थी। उसी परिश्रम से शरीर कुछ थका हुआ है। वहाँ ऐसा कड़ा जाड़ा पड़ता है कि शरीर में सुई-सी चुभती है।"

शिष्य—मैंने सुना है कि लोग नग्न होकर अमरनाथजी का दर्शन करते हैं। क्या यह सत्य है ?

स्वामीजी—मैंने भी कौपीन मात्र धारण कर और भस्म लगाकर गुफा में प्रवेश किया था; तब ठण्डक या गरमी कुछ नहीं मालूम होती थी, परन्तु मन्दिर से निकलते ही ठण्ड से अकड़ गया।

शिष्य—क्या वहाँ कभी कबूतर भी देखने में आया था ? सुना है कि ठण्ड के मारे वहाँ कोई जीव-जन्तु नहीं बसता है, केवल सफेद कबूतरों की एक टुकड़ी कहीं से कभी कभी आ जाती है।

स्वामीजी—हाँ, तीन-चार सफेद कबूतरों को देखा था। वे उसी गुफा में या आसपास के किसी पहाड़ में रहते हैं, ठीक अनुमान नहीं कर सका।

शिष्य—महाराज, लोगों से सुना है कि यदि कोई गुफा से बाहर निकलर सफेद कबूतरों को देखे तो समझते हैं कि यथार्थ शिव के दर्शन हुए।

स्वामीजी बोले, "सुना है कि कबूतर देखने से जिसके मन में जैसी कामना रहती है, वही सिद्ध होती है।"

अब स्वामीजी फिर कहने लगे कि लौटते समय जिस मार्ग से सब यात्री आते हैं, उसी मार्ग से वे भी श्रीनगर को आये थे। श्रीनगर पहुँचने के कुछ दिन बाद क्षीरभवानीजी के दर्शन को गये और सात दिन वहाँ ठहरकर देवी को क्षीर चढ़ाई और पूजा तथा हवन किया था। प्रतिदिन वहाँ एक मन दूध की क्षीर का भोग चढ़ाते थे और हवन करते थे। एक दिन पूजा करते समय मन में यह विचार उदित हुआ, "माता भवानीजी यहाँ सचमुच कितने समय से प्रकाशित हैं? प्राचीन काल में यवनों ने यहाँ आकर उनके मन्दिर को विध्वंस कर दिया था और यहाँ के लोग कुछ कर नहीं सके। हाय! यदि मैं उस समय होता, तो चुपचाप यह कभी नहीं देखता।" इस विचार से जब उनका मन दुःख और क्षोभ से अत्यन्त व्याकुल हो गया था, तब उनके सुनने में यह स्पष्ट आया था कि माताजी कह रही हैं—"मेरी इच्छा से ही यवनों ने मन्दिर का विध्वंस किया है, जीर्ण मन्दिर में रहने की मेरी इच्छा है। क्या मेरी इच्छा से अभी यहाँ सातमंजिला सोने का मन्दिर नहीं बन सकता है? तू क्या कर सकता है, मैं तेरी रक्षा करूँगी या तू मेरी रक्षा करेगा?" स्वामीजी बोले, "उस देववाणी को सुनने के समय से मेरे मन में और कोई संकल्प नहीं है। मठ-वठ बनाने का संकल्प छोड़ दिया है। माताजी की जो इच्छा है वही होगा।" शिष्य अवाक् होकर सोचने लगा कि

इन्होंने ही तो एक दिन कहा था, "जो कुछ देखता है या सुनता है वह केवल तेरे भीतर अवस्थित आत्मा की प्रतिध्वनि मात्र है ! बाहर कुछ भी नहीं है।" अब स्वामीजी से उसने स्पष्ट पूछा, "महाराज, आपने तो कहा था कि यह सब देववाणी हमारे भीतर के भावों की बाह्य प्रतिध्वनि मात्र है।" स्वामीजी ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया, "भीतर हो या बाहर, इससे क्या ? यदि तुम अपने कानों से मेरे समान ऐसी अशरीरी वाणी को सुनो, तो क्या उसे मिथ्या कह सकते हो ? देववाणी सचमुच सुनायी देती है, हम लोग जैसे वार्तालाप कर रहे हैं, ठीक इसी प्रकार से।"

शिष्य ने बिना कोई द्विरुक्ति किये स्वामीजी के वाक्यों को शिरोधार्य कर लिया; क्योंकि स्वामीजी की बातों में एक ऐसी अद्भुत शक्ति थी कि उन्हें बिना माने नहीं रहा जाता था-- युक्ति तर्क सब धरे रह जाते थे !

शिष्य ने अब प्रेतात्माओं की बात छेड़ी। "महाराज, जो सब भूत-प्रेतादि योनियों की बात सुनी जाती है, शास्त्रों ने भी जिसका बार बार समर्थन किया है, क्या वह सब सत्य है ?"

स्वामीजी---अवश्य सत्य है। क्या जिसको तुम नहीं देखते, वह सत्य नहीं हो सकता ? तेरी दृष्टि से बाहर दूर दूर पर कितने ही सहस्रों ब्रह्माण्ड घूम रहे हैं, तुझे नहीं दीख पड़ते तो क्या उनका अस्तित्व भी नहीं है ? भूत-प्रेत हैं तो होने दे, परन्तु इनके झगड़े में अपना मन न लगा। इस शरीर में जो आत्मा है, उसको प्रत्यक्ष करना ही तेरा कार्य है। उसको प्रत्यक्ष करने से भूत-प्रेत सब तेरे दासों के दास हो जायेंगे।

शिष्य---परन्तु महाराज, ऐसा अनुमान होता है कि उनको देखने से पुनर्जन्म पर विश्वास बहुत दृढ़ होता है और परलोक

पर कुछ अविश्वास नहीं रहता।

स्वामीजी—तुम सब तो महावीर हो, क्या तुम्हें भी परलोक पर विश्वास करने के लिए भूत-प्रेतों का दर्शन आवश्यक है? कितने शास्त्र पढ़े, कितने विज्ञान पढ़े, इस विराट विश्व के कितने गूढ़ तत्त्व जाने, इतने पर भी आत्मज्ञान लाभ करने के लिए क्या भूत-प्रेतों का दर्शन करना ही पड़ेगा? छिः! छिः!!

शिष्य—अच्छा, महाराज, आपने स्वयं कभी भूत-प्रेतों को देखा है?

स्वामीजी—स्वजनों में से कोई व्यक्ति प्रेत होकर कभी कभी मुझको दर्शन देता था। कभी दूर दूर के समाचार भी लाता था। परन्तु परीक्षा करके देखा कि उसकी सब बातें सदा ठीक नहीं होती थीं। पर किसी एक विशेष तीर्थ पर जाकर 'वह मुक्त हो जाय' ऐसी प्रार्थना करने पर उसका दर्शन फिर मुझे नहीं हुआ।

'श्राद्धादिकों से प्रेतात्माओं की तृप्ति होती है या नहीं?'—अब शिष्य के इस प्रश्न को पूछने पर स्वामीजी बोले, "यह कुछ असम्भव नहीं है।" शिष्य के इस विषय की युक्ति या प्रमाण माँगने पर स्वामीजी ने कहा, "और किसी दिन इस प्रसंग को भलीभाँति समझा दूंगा। श्राद्धादि से प्रेतात्माओं की तृप्ति होती है, इस विषय की अखण्डनीय युक्तियाँ हैं। आज मेरा शरीर कुछ अस्वस्थ है, फिर किसी और दिन इसको समझाऊँगा।" परन्तु फिर शिष्य को स्वामीजी से यह प्रश्न करने का अवसर उसके जीवन भर में नहीं मिला।

परिच्छेद १७

स्थान—बेलुड़—किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी (नवम्बर)

विषय—स्वामीजी की संस्कृत रचना—श्रीरामकृष्णदेव के आगमन से भाव व भाषा में प्राण का संचार—भाषा में किस प्रकार से ओजस्विता लानी होगी—भय को त्याग देना होगा—भय से ही दुर्बलता व पाप की वृद्धि—सब अवस्थाओं में अविचल रहना—शास्त्रपाठ करने की उपकारिता—स्वामीजी का अष्टाध्यायी पाणिनी का पठन—ज्ञान के उदय से किसी विषय का अद्भुत प्रतीत न होना।

मठ अभी तक बेलुड़ में नीलाम्बर बाबू के बगीचे में ही है! अब अगहन महीने का अन्त है। इस समय स्वामीजी बहुधा संस्कृत शास्त्रादि की आलोचना में तत्पर हैं। उन्होंने 'आचण्डालाप्रतिहतरयः'* इत्यादि श्लोकों की रचना इसी समय की थी। आज स्वामीजी ने "ॐ ह्रीं ऋतम्" इत्यादि स्तोत्र की रचना की और शिष्य को देकर कहा, "देखना इसमें छन्दोभंगादि कोई दोष तो नहीं है?" शिष्य ने उसे ले लिया और उसकी एक नकल उतार ली।

जिस दिन स्वामीजी ने इस स्तोत्र की रचना की थी उस दिन मानो स्वामीजी की जिह्वा पर सरस्वती विराजमान थीं। लगभग दो घण्टे तक स्वामीजी ने शिष्य से सुन्दर और सुललित संस्कृत भाषा में वार्तालाप किया। ऐसा सुन्दर वाक्यविन्यास, शिष्य ने बड़े बड़े पण्डितों के मुँह से भी कभी नहीं सुना था।

---

* स्वामीजी कृत 'कवितावली' देखिये।

जो हो, शिष्य के स्तोत्र की नकल उतार लेने पर स्वामीजी उससे बोले, "देखो, किसी भाव में तन्मय होकर लिखते लिखते कभी कभी मेरी व्याकरण की भूल होती है, इसलिए तुम लोगों से देख लेने को कहता हूँ।"

शिष्य--वे भाषादोष नहीं हैं, वे आर्ष प्रयोग हैं।

स्वामीजी--तुमने तो ऐसा कह दिया, परन्तु साधारण लोग ऐसा क्यों समझेंगे ? उस दिन मैंने 'हिन्दू धर्म क्या है' इस विषय पर बंगला भाषा में एक लेख लिखा, तो तुम्हीं में से किसी किसी ने कहा कि इसकी भाषा तो टूटी-फूटी है। मेरा अनुमान है कि सब वस्तुओं की तरह कुछ समय के बाद भाषा और भाव भी फीके पड़ जाते हैं। आजकल इस देश में यही हुआ है, ऐसा जान पड़ता है। श्रीगुरुदेव के आगमन से भाव और भाषा में फिर नवीन प्रवाह आया है। अब सब को नवीन साँचे में ढालना है, नवीन प्रतिभा की मुहर लगाकर सब विषयों का प्रचार करना पड़ेगा। देखो न, प्राचीन समय के संन्यासियों की चाल ढाल टूटकर अब कैसी एक नवीन परिपाटी बन रही है। इसके विरुद्ध समाज में भी बहुत कुछ प्रतिवाद हो रहा है; परन्तु इससे क्या हुआ और क्या हम ही उससे डरें ? आजकल इन संन्यासियों को प्रचार कार्य के निमित्त दूर दूर जाना है। यदि प्राचीन संन्यासियों का वेश धारण कर अर्थात् भस्म लगाकर और अर्धनग्न होकर वे कहीं विदेश को जाना चाहें, तो पहले तो जहाज पर ही उनको सवार नहीं होने देंगे। और यदि किसी प्रकार विदेश पहुँच भी जायँ, तो उनको कारागृह में अवस्थान करना होगा। देश, सभ्यता और समयोपयोगी कुछ कुछ परिवर्तन सभी विषयों में कर लेना पड़ेगा। अब मैं बंगला भाषा में लेख लिखने की सोच रहा हूँ।

सम्भव है कि साहित्यसेवक उसको पढ़कर निन्दा करें। करने दो—मैं बंगला भाषा को नवीन साँचे में ढालने का प्रयत्न अवश्य करूँगा। आजकल के लेखक जब लिखने बैठते हैं, तब क्रियापद का बहुत प्रयोग करते हैं। इससे भाषा में शक्ति नहीं आती। विशेषण द्वारा क्रियापदों का भाव प्रकट करने से भाषा की ओजस्विता अधिक बढ़ती है। अब से इस प्रकार लिखने की चेष्टा करो तो। 'उद्‌बोधन' में ऐसी ही भाषा में लेख लिखने का प्रयत्न करना। भाषा में क्रियापद प्रयोग करने का क्या तात्पर्य है जानते हो? इस प्रकार से भावों को बिराम मिलता है। इसलिए अधिक क्रियापदों का प्रयोग करना शीघ्र शीघ्र श्वास लेने के समान दुर्बलता का चिह्न मात्र है। यही कारण है कि बंगला भाषा में अच्छी वक्तृताएँ नहीं दी जा सकतीं। जिनका किसी भाषा पर अच्छा अधिकार है, वे शीघ्रता से भावों को रोक नहीं देते। दाल भात का भोजन करके तेरा शरीर जैसे दुर्बल हो गया है, भाषा भी ठीक वैसी ही हो गयी है। खान-पान, चाल-चलन, भाव-भाषा सब में तेजस्विता लानी होगी। चारों ओर प्राण का संचार करना होगा। नस नस में रक्त का प्रवाह प्रेरित करना होगा, जिससे सब विषयों में एक प्राण का स्पन्दन अनुभव हो; तभी इस घोर जीवन-संग्राम में देश के लोग बच सकेंगे। नहीं तो शीघ्र ही यह देश और जाति मृत्यु की छाया में लग्न हो जायँगे।

शिष्य—महाराज, बहुत दिनों से इस देश के लोगों का स्वभाव एक विशेष प्रकार का हो गया है। क्या उसके शीघ्र परिवर्तन की सम्भावना है?

स्वामीजी—यदि तुम प्राचीन चाल को बुरी समझते हो, तो मैंने जैसा बतलाया उस नवीन भाव को सीख क्यों नहीं लेते?

तुम्हें देखकर और भी दस-पाँच लोग वैसा ही करेंगे। फिर उनसे और पचास लोग सीखेंगे। इस प्रकार आगे चलकर जाति में वह नवीन भाव जाग उठेगा। यदि तुम जान बूझ कर भी ऐसा कार्य न करो तो मैं समझूँगा कि तुम केवल बातों में ही पण्डित हो और कार्य में मूर्ख।

शिष्य—आपके वचन से तो बड़े साहस का संचार होता है। उत्साह, बल और तेज से हृदय पूर्ण होता है।

स्वामीजी—हृदय में धीरे धीरे बल को लाना होगा। यदि एक भी यथार्थ 'मनुष्य' वन जाय तो लाख वक्तृताओं का फल होगा। मन और मुँह को एक करके भावों को जीवन में कार्यान्वित करना होगा। इसीको श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'भाव के घर में किसी प्रकार की चोरी न होने पाये।' सब विषयों में व्यावहारिक बनना होगा अर्थात् अपने अपने कार्य द्वारा मत या भाव का विकास करना होगा। केवल मतों के प्रादुर्भाव से ही देश दबा पड़ा है। श्रीरामकृष्ण के जो यथार्थ सन्तान होंगे, वे सब धर्मभावों को कार्यरूप में परिणत करने का उपाय दिखायेंगे। लोग या समाज की बातों पर ध्यान न देकर वे एकाग्र मन से अपना कार्य करते रहेंगे। तुलसीदासजी के दोहे में जो है, सो क्या तूने नहीं सुना?

"हाथी चले बजार में कुत्ता भौंकें हजार।
साधुन को दुर्भाव नहीं, निन्दे चाहे संसार॥"

इसी भाव से चलना है। जनसाधारण को सामान्य कीड़ा-मकोड़ा समझना होगा। उसकी भली बुरी बातों को सुनने से जीवन भर में कोई किसी प्रकार का महत्-कार्य नहीं कर सकता। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' अर्थात् शरीर और मन में दृढ़ता न रहने से कोई भी इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रथम

पुष्टिकर उत्तम भोजन से शरीर को बलिष्ठ करना होगा तभी तो मन का बल बढ़ेगा। मन तो शरीर का ही सूक्ष्म अंश है। मन और मुख में खूब दृढ़ता होनी चाहिए। 'मैं हीन हूँ' 'मैं दीन हूँ' ऐसा कहते कहते मनुष्य वैसा ही हो जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—

"मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किम्वदन्तीति सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्॥"*

जिसके हृदय में मुक्ताभिमान सर्वदा जागृत है वह मुक्त हो जाता है और जो 'मैं बद्ध हूँ' ऐसी भावना रखता है, समझ लो कि उसकी जन्म-जन्मान्तर तक बद्ध दशा ही रहेगी। ऐहिक और पारमार्थिक दोनों पक्षों में ही इस बात को सत्य जानना। इस जीवन में जो सर्वदा हताशचित्त रहते हैं, उनसे कोई भी कार्य नहीं हो सकता। वे जन्म जन्म 'हाय, हाय' करते हुए चले आते हैं और चले जाते हैं। 'वीरभोग्या वसुन्धरा,' अर्थात् वीर लोग ही वसुन्धरा का भोग करते हैं—यह वचन नितान्त सत्य है। वीर बनो, सर्वदा कहो 'अभीः' 'अभीः'—मैं भयशून्य हूँ, मैं भयशून्य हूँ। सब को सुनाओ, 'माभैः' 'माभैः' भय न करो, भय न करो। भय ही मृत्यु है, भय ही पाप, भय ही नरक, भय ही अधर्म तथा भय ही व्यभिचार है। जगत् में जो कुछ असत् या मिथ्याभाव (negative thoughts) है, वह सब इस भयरूप शैतान से उत्पन्न हुआ है। इस भय ने ही सूर्य के सूर्यत्व को, वायु के वायुत्व को, यम के यमत्व को अपने अपने स्थान पर रख छोड़ा है, अपनी अपनी सीमा से किसी को बाहर नहीं जाने देता। इसलिए श्रुति कहती है—

---

* अष्टावक्र-संहिता

"भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥"*

जिस दिन इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण भयशून्य होंगे, उसी दिन सब ब्रह्म में लीन हो जायेंगे—सृष्टिरूप अध्यास का लय साधित होगा। इसीलिए कहता हूँ, 'अभीः' 'अभीः'।

बोलते बोलते स्वामीजी के वे नीलोत्पल नेत्र मानो अरुण रंग से रंजित हो गये। मानो "अभीः" मूर्तिमान होकर स्वामीरूप से शिष्य के सामने सदेह अवस्थान कर रहा था। शिष्य उस अभय-मूर्ति का दर्शन कर मन में सोचने लगा, "आश्चर्य! इन महापुरुष के पास रहने से और इनकी बातें सुनने से मानो मृत्यु-भय भी कहीं भाग जाता है।"

स्वामीजी फिर कहने लगे, "यह शरीर धारण कर तुम कितने ही सुख-दुःख तथा सम्पद-विपद की तरंगों में हिलाये जाओ, परन्तु ध्यान रखना वे सब केवल मुहूर्तस्थायी हैं। इन सब को अपने ध्यान में भी नहीं लाना। मैं अजर, अमर, चिन्मय आत्मा हूँ, इस भाव को दृढ़ता के साथ धारण कर जीवन बिताना होगा। 'मेरा जन्म नहीं है, मेरी मृत्यु नहीं है, मैं निर्लेप आत्मा हूँ' ऐसी धारणा में एकदम तन्मय हो जाओ। एक बार लीन हो जाने से दुःख या कष्ट के समय यह भाव अपने आप ही मन में उदय होगा, इसके लिए फिर चेष्टा करने की कुछ आवश्यकता नहीं रहेगी। कुछ ही दिन हुए मैं बैद्यनाथ देवघर में प्रियनाथ मुकर्जी के घर गया था। वहाँ ऐसी साँस उठी कि दम निकलने ही लगा परन्तु प्रत्येक श्वास के साथ भीतर से "सोऽहं सोऽहं" गम्भीर ध्वनि उठने लगी। तकिये का सहारा लेकर प्राणवायु निकलने की

* कठोपनिषद्

अपेक्षा कर रहा था और सुन रहा था कि भीतर केवल "सोऽहं सोऽहं" ध्वनि हो रही है; केवल यह सुनने लगा, "एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।"

शिष्य स्तम्भित होकर बोला, "आपके साथ वार्तालाप करने से और आपकी सब अनुभूतियों को सुनने से शास्त्र पढ़ने की फिर आवश्यकता नहीं रहती।"

स्वामीजी—अरे नहीं, शास्त्रों को पढ़ना बहुत ही आवश्यक है। ज्ञान लाभ करने के लिए शास्त्र पढ़ने की बहुत जरूरत है। मैं मठ में शीघ्र ही शास्त्रादि पढ़ाने का आयोजन करूँगा। वेद, उपनिषद, गीता, भागवत पढ़ायी जायगी। अष्टाध्यायी पढ़ाऊँगा।

शिष्य—क्या आपने पाणिनि की अष्टाध्यायी पढ़ी है ?

स्वामीजी—जब जयपुर में था, तब एक बड़े भारी वैयाकरण के साथ साक्षात्कार हुआ। फिर उनसे व्याकरण पढ़ने की इच्छा हुई। व्याकरण के बड़े विद्वान होने पर भी, उनमें पढ़ाने की शक्ति बहुत नहीं थी। उन्होंने मुझे तीन दिन तक प्रथम सूत्र का भाष्य समझाया, फिर भी मैं उसकी धारणा नहीं कर सका। चौथे दिन अध्यापकजी विरक्त होकर बोले, 'स्वामीजी, जब तीन दिन में भी मैं प्रथम सूत्र का मर्म आपको नहीं समझा सका, तो अनुमान होता है कि मेरे पढ़ाने से आपको कोई लाभ नहीं होगा।' यह सुनकर मेरे मन में बड़ी भर्त्सना उठी। भोजन और निद्रा को त्यागकर प्रथम सूत्र का भाष्य अपने आप ही पढ़ने लगा। तीन घण्टे में उस सूत्रभाष्य का अर्थ मानो 'करामलकवत्' प्रत्यक्ष हो गया। तत्पश्चात् अध्यापकजी के पास जाकर सब व्याख्याओं का तात्पर्य बातों में समझा दिया। अध्यापकजी सुनकर बोले, 'मैं तीन दिन से समझाकर जो न कर सका उसको आपने

तीन घण्टे में ऐसी चमत्कारपूर्ण व्याख्या कैसे सीख ली ?' उस दिन से प्रतिदिन शीघ्र गति से अध्याय पर अध्याय पढ़ता चला गया। मन की एकाग्रता होने से सब सिद्ध हो जाता है—सुमेरु पर्वत को भी चूर्ण करना सम्भव है।

शिष्य—आपकी सभी बातें अद्भुत हैं।

स्वामीजी—'अद्भुत' स्वयं कोई विशेष बात नहीं है, अज्ञता ही अन्धकार है। इसमें सब कुछ ढके रहने के कारण अद्भुत जान पड़ता है। ज्ञानालोक से प्रकाशित होने पर फिर किसी में अद्भुतता नहीं रहती। अघटन-घटन-पटीयसी जो माया है, वह भी छिप जाती है। जिसको जानने से सब कुछ जाना जाता है, उसको जानो; उसके विषय पर चिन्तन करो। उस आत्मा के प्रत्यक्ष होने से शास्त्रों के अर्थ 'करामलकवत्' प्रत्यक्ष होंगे। जब प्राचीन ऋषियों को ऐसा हुआ था, तब हम लोगों को क्यों न होगा ? हम भी तो मनुष्य हैं। एक व्यक्ति के जीवन में जो एक बार हुआ है, चेष्टा करने से वह अवश्य ही औरों के जीवन में फिर सिद्ध होगा। History repeats itself अर्थात् जो एक बार हुआ है, वही बार बार होता है। यह आत्मा सर्व भूत में समान है, केवल प्रत्येक भूत में उसके विकास का तारतम्य मात्र है। इस आत्मा का विकास करने की चेष्टा करो। देखोगे कि बुद्धि सब विषयों में प्रवेश करेगी। अनात्मज्ञ पुरुषों की बुद्धि एकदेश-दर्शिनी होती है। आत्मज्ञ पुरुषों की बुद्धि सर्वग्रासिनी होती है। आत्म-प्रकाश होने से, देखोगे कि दर्शन, विज्ञान सब तुम्हारे आधीन हो जायेंगे। सिंहगर्जन से आत्मा की महिमा की घोषणा करो। जीव को अभय देकर कहो, 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।' 'Arise, awake and stop not till the goal is reached'.

परिच्छेद १८

स्थान—बेलुड़—किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—निर्विकल्प समाधि पर स्वामीजी का व्याख्यान—इस समाधि से कौन लोग फिर संसार में लौटकर आ सकते हैं—अवतारी पुरुषों की अद्भुत शक्ति पर व्याख्यान और उस विषय पर युक्ति व प्रमाण—शिष्य द्वारा स्वामीजी की पूजा।

आज दो दिन से शिष्य बेलुड़ में नीलाम्बर बाबू के भवन में स्वामीजी के पास है। कलकत्ते से अनेक युवकों का इस समय स्वामीजी के पास आना जाना रहने के कारण आजकल मानो मठ में बड़ा उत्सव हो रहा है। कितनी धर्म-चर्चा, कितना साधन-भजन का उद्यम तथा दीनदुखियों का कष्ट दूर करने के कितने ही उपायों की आलोचना हो रही है! कितने ही उत्साही संन्यासी महादेवजी के गणों के समान स्वामीजी की आज्ञा का पालन करने को उत्सुकता के साथ खड़े हैं। स्वामी [illegible]जी ने श्रीरामकृष्ण की सेवा का भार ग्रहण किया है। मठ में पूजा और प्रसाद के लिए बड़ा आयोजन है। समागत सज्जनों के लिए प्रसाद सर्वदा तैयार है।

आज स्वामीजी ने शिष्य को अपने कमरे में रात को रहने की आज्ञा दी है। स्वामीजी की सेवा करने का अधिकार पाकर शिष्य का हृदय आज आनन्द से परिपूर्ण है। प्रसाद पाकर वह स्वामीजी की चरणसेवा कर रहा है। इतने में स्वामीजी बोले, "ऐसे स्थान को छोड़कर तुम कलकत्ता जाना चाहते हो? यहाँ कैसा पवित्र

भाव, कैसी गंगाजी की वायु, कैसा सब साधुओं का समागम है ! ऐसा स्थान क्या और कहीं ढूँढ़ने से मिलेगा ?"

शिष्य—महाराज, बहुत जन्मों की तपस्या से आपका सत्संग मुझे मिला है। अब कृपया ऐसा उपाय कीजिये जिससे मैं फिर मायामोह में न फँसूँ। अब प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए मन कभी कभी बड़ा व्याकुल हो उठता है।

स्वामीजी—मेरी भी अवस्था ऐसी ही हुई थी। काशीपुर के उद्यान में एक दिन श्रीगुरुदेव से बड़ी व्याकुलता से अपनी प्रार्थना प्रकट की थी। उस दिन सन्ध्या के समय ध्यान करते करते अपने शरीर को खोजा, तो नहीं पाया। ऐसा प्रतीत हुआ कि शरीर बिलकुल है ही नहीं। चन्द्र, सूर्य, देश, काल, आकाश सब मानो एकाकार होकर कहीं लय हो गये हैं। देहादि बुद्धि का प्राय: अभाव हो गया था और 'मैं' भी बस लय-सा ही हो रहा था ! परन्तु कुछ 'अहं' था, इसीलिए उस समाधि-अवस्था से लौट आया था। इस प्रकार समाधिकाल में ही 'मैं' और 'ब्रह्म' में भेद नहीं रहता, सब एक हो जाता है; मानो महासमुद्र—जल ही जल और कुछ नहीं हैं; भाव और भाषा का अन्त हो जाता है। 'अवाङ्मनसोगोचरम्' जो शास्त्र-वाक्य है, उसकी उपलब्धि इसी समय होती है। नहीं तो जब साधक 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा विचार करता है या कहता है तब भी 'मैं' और 'ब्रह्म' ये दो पदार्थ पृथक् रहते हैं अर्थात् द्वैतबोध रहता है। उसी अवस्था को फिर प्राप्त करने की मैंने बारम्बार चेष्टा की, परन्तु पा न सका। श्रीगुरुदेव से कहने पर वे बोले, 'उस अवस्था में दिनरात रहने से माता भगवती का कार्य तुमसे नहीं होगा। इसलिए उस अवस्था को फिर प्राप्त न कर सकोगे; कार्य का अन्त होने पर वह अवस्था

फिर आ जायगी।'

शिष्य—तो क्या नि:शेष समाधि या ठीक ठीक निर्विकल्प समाधि होने पर, कोई फिर अहंज्ञान का आश्रय लेकर द्वैतभाव के राज्य में—इस संसार में—नहीं लौट सकता ?

स्वामीजी—श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि एकमात्र अवतारी पुरुष ही जीव की मंगल कामना कर ऐसी समाधि से लौट सकते हैं। साधारण जीवों का फिर व्युत्थान नहीं होता; केवल इक्कीस दिन तक जीवित अवस्था में रहने के बाद उनके शरीर सूखे पत्ते के समान संसाररूपी वृक्ष से झड़कर गिर पड़ते हैं।

शिष्य—मन के विलुप्त होने पर जब समाधि होती है, मन की जब कोई लहर नहीं रह जाती, तब फिर विक्षेप अर्थात् अहंज्ञान का आश्रय लेकर संसार में लौटने की क्या सम्भावना है ? जब मन ही नहीं रहा तब कौन या किसलिए समाधि अवस्था को छोड़कर द्वैतराज्य में उतरकर आयगा ?

स्वामीजी—वेदान्तशास्त्रों का अभिप्राय यह है कि नि:शेष निरोधसमाधि से पुनरावृत्ति नहीं होती; यथा—'अनावृत्ति: शब्दात्।' परन्तु अवतारी लोग जीवों के मंगल के निमित्त एकआध सामान्य वासना रख लेते हैं। उसी आश्रय से ज्ञानातीत अद्वैतभूमि (superconscious state) से 'मैं-तुम' की ज्ञानमूलक द्वैतभूमि (conscious state) में आते हैं।

शिष्य—किन्तु महाराज, यदि एकआध वासना भी रह जाय, तो उसे नि:शेष निरोध समाधि अवस्था कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि शास्त्र में कहा है कि नि:शेष निर्विकल्प समाधि में मन की सब वृत्तियाँ, सब वासनाएँ निरुद्ध या ध्वंस हो जाती हैं।

स्वामीजी—महाप्रलय के पश्चात् तो फिर सृष्टि ही कैसे होती

है ? महाप्रलय में भी तो सब कुछ ब्रह्म में लय हो जाता है। परन्तु लय होने पर भी शास्त्र में सृष्टिप्रसंग सुनने में आता है—सृष्टि और लय प्रवाहाकार से पुनः चलते रहते हैं। महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि और लय के पुनरावर्तन के समान अवतारी पुरुषों का निरोध और व्युत्थान भी अप्रासंगिक क्यों होगा ?

शिष्य—क्या यह नहीं हो सकता है कि लयकाल में पुनः सृष्टि का बीज ब्रह्म में लीनप्राय रहता है और वह महाप्रलय या निरोध समाधि नहीं है, वरन् वह केवल सृष्टि का बीज तथा शक्ति का (आप जैसा कहते हैं) एक अव्यक्त (potential) आकार मात्र धारण करना है।

स्वामीजी—इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि जिस ब्रह्म में किसी गुण का अस्तित्व नहीं है, जो निर्लेप और निर्गुण है, उसके द्वारा इस सृष्टि का बहिर्गत (projected) होना कैसे सम्भव है।

शिष्य—यह बहिर्गमन (projection) तो यथार्थ नहीं। आपके वचन के उत्तर में शास्त्र ने कहा है कि ब्रह्म से सृष्टि का विकास मरुस्थल में मृगजल के समान दिखायी देता है, परन्तु वास्तव में सृष्टि आदि कुछ भी नहीं है। भाव-वस्तु ब्रह्म में अभाव-मिथ्या-रूप माया के कारण ऐसा भ्रम दिखायी देता है।

स्वामीजी—यदि सृष्टि ही मिथ्या है, तो तुम जीव की निर्विकल्प समाधि और समाधि से व्युत्थान को भी मिथ्या कहकर मान सकते हो। जीव स्वतः ही ब्रह्मस्वरूप है। उसके फिर बन्धन की अनुभूति कैसी ? 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा जो तुम अनुभव करना चाहते हो, वह भी तो भ्रम ही हुआ, क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि तुम तो पहले से ही ब्रह्म हो। अतएव 'अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि'—समाधिलाभ करना जो तुम चाहते हो, वही

तुम्हारा बन्धन है।

शिष्य——यह तो बड़ी कठिन बात है। यदि मैं ब्रह्म ही हूँ, तो सर्वदा इस विषय की अनुभूति क्यों नहीं होती?

स्वामीजी——यदि 'मैं-तुम' के राज्य द्वैत-भूमि (conscious plane) में इस बात का अनुभव करना हो, तो एक करण या जिससे अनुभव हो सके, ऐसे एक पदार्थ (some instrumentality) की आवश्यकता है। मन ही हमारा वह करण है, परन्तु मन पदार्थ तो जड़ है। उसके पीछे जो आत्मा है उसकी प्रभा से मन चैतन्यवत् केवल प्रतीत होता है। इसलिए पंचदशीकार ने कहा है, 'चिच्छायावेशत: शक्तिश्चेतनेव विभाति सा' अर्थात् चित्स्वरूप आत्मा की परछाईं या प्रतिबिम्ब के आवेश से शक्ति को चैतन्यमयी कहकर अनुमान करते हैं और इसीलिए मन को भी चेतन पदार्थ कहकर मानते हैं। अतएव यह निश्चित है कि मन के द्वारा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं जान सकते। मन के परे पहुँचना है। मन के परे तो कोई करण नहीं है——एक आत्मा ही है। अतएव जिसको जानना चाहते हो, वही फिर करणस्थानीय हो जाता है। कर्ता, कर्म, करण सब एक हो जाता है। इसीलिए श्रुति कहती है, 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'। इसका निचोड़ यह है कि द्वैतभूमि (conscious plane) के ऊपर ऐसी एक अवस्था है जहाँ कर्ता, कर्म, करणादि में कोई द्वैतभाव नहीं है। मन के निरोध होने से वह प्रत्यक्ष होती है। और कोई उचित भाषा न होने के कारण इस अवस्था को 'प्रत्यक्ष करना' कह रहा हूँ; नहीं तो इस अनुभव को प्रकाशित करने के लिए कोई भाषा नहीं है। श्रीशंकराचार्य इसको 'अपरोक्षानुभूति' कह गये हैं। ऐसी प्रत्यक्षानुभूति या अपरोक्षानुभूति होने पर भी अवतारी लोग नीचे

द्वैतभूमि पर उतरकर उसकी कुछ कुछ झलक दिखा देते हैं। इसीलिए कहते हैं कि आप्तपुरुषों के अनुभव से ही वेदादि शास्त्रों की उत्पत्ति हुई है। साधारण जीवों की अवस्था उस नमक के पुतले के समान है, जो समुद्र को नापने गया था और स्वयं ही उसमें घुल गया, समझे न? तात्पर्य यह है कि तुम्हें इतना ही जानना होगा कि तुम वही नित्य ब्रह्म हो। तुम तो पहले से ही वह हो, केवल एक जड़ मन (जिसको शास्त्र ने माया कहा है) बीच में पड़कर तुम्हें इसको समझने नहीं देता। सूक्ष्म जड़रूप उपादानों द्वारा निर्मित मन नामक पदार्थ के प्रशमित होने पर आत्मा अपनी प्रभा से आप ही उद्भासित होती है। यह माया और मन मिथ्या है, इसका एक प्रमाण यह है कि मन स्वयं जड़ और अन्धकारस्वरूप है जो इसके पीछे विद्यमान आत्मा की प्रभा से चैतन्यवत् प्रतीत होता है। जब इसको समझ जाओगे तो एक अखण्ड चैतन्य में मन लय हो जायगा; तभी 'अयआत्मा ब्रह्म' की अनुभूति होगी।

यहाँ पर स्वामीजी बोले, "क्या तुझे नींद आ रही है? तो जा सो जा।" शिष्य स्वामीजी के पास के ही बिछौने पर सो गया। रात में स्वामीजी नींद अच्छी न आने के कारण बीच बीच में उठकर बैठने लगे। शिष्य भी उठकर उनकी आवश्यक सेवा करने लगा। इस प्रकार रात बीत गयी, पर रात्रि के अन्तिम प्रहर में एक अद्भुत-सा स्वप्न देखकर निद्रा भंग होने पर वह बड़े आनन्द से उठा। प्रातःकाल गंगास्नान करके जब शिष्य आया, तो देखा कि स्वामीजी मठ के निचले मंजिल में एक बेंच पर पूर्व की ओर मुँह किये बैठे हैं। रात्रि के स्वप्न को स्मरण कर स्वामीजी के चरणकमलों के पूजन के लिए उसका मन व्याकुल हुआ और उसने

अपना अभिप्राय प्रकट कर उनकी अनुमति के लिए प्रार्थना की। उसकी व्याकुलता को देख स्वामीजी सम्मत हो गये; फिर शिष्य ने कुछ धतूरे के फूल संग्रह किये और स्वामीजी के शरीर में महाशिव के अधिष्ठान का ध्यान करके विधिपूर्वक उनकी पूजा की।

पूजा के अन्त में स्वामीजी शिष्य से बोले, "तूने तो पूजा कर ली, परन्तु बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्दजी) आकर तुझे खा जायगा! तूने कैसे श्रीरामकृष्ण के पूजापात्र में मेरे पाँव को रखकर पूजा?" ये बातें हो ही रही थीं कि स्वामी प्रेमानन्दजी वहाँ आ पहुँचे और स्वामीजी उनसे बोले, "देखो, आज इसने कैसा एक काण्ड रचा है! श्रीरामकृष्ण के पूजापात्र में फूलचन्दन लेकर इसने मेरी पूजा की।" स्वामी प्रेमानन्दजी हँसने लगे और बोले, "बहुत अच्छा किया, तुम और श्रीरामकृष्ण क्या अलग अलग हो?" यह बात सुनकर शिष्य निर्भय हो गया।

शिष्य एक कट्टर हिन्दू था। अखाद्य का तो कहना ही क्या, किसी का छुआ हुआ द्रव्य तक भी ग्रहण नहीं करता था, इसलिए स्वामीजी उसको कभी कभी 'पण्डितजी' कहकर पुकारते थे। प्रात:कालीन जलपान के समय विलायती बिस्कुट इत्यादि खाते खाते स्वामीजी स्वामी सदानन्द से बोले, "जाओ, 'पण्डितजी' को तो पकड़ लाओ।" आदेश पाकर शिष्य के वहाँ पहुँचते ही स्वामीजी ने शिष्य को इन द्रव्यों में से थोड़ा थोड़ा प्रसादरूप से खाने को दिया। बिना दुविधा में पड़े शिष्य को वह सब ग्रहण करते देखकर स्वामीजी हँसते हुए बोले, "आज तुमने क्या खाया जानते हो? ये सब मुर्गी के अण्डे से बनी हुई हैं।" इसके उत्तर में उसने कहा, "जो भी हो मुझे जानने की कोई आवश्यकता नहीं, आपके प्रसाद-रूप अमृत को खाकर मैं तो अमर हो गया।" यह सुनकर स्वामीजी

बोले, "मैं आशीर्वाद देता हूँ कि आज से तुम्हारी जाति, वर्ण, आभिजात्य, पाप, पुण्यादि अभिमान सदा के लिए दूर हो जायें।"

स्वामीजी की उस दिन की अयाचित अपार दया को स्मरण कर शिष्य समझता है कि उसका मानवजन्म सार्थक हो गया।

तीसरे पहर अकाउन्टन्ट जनरल बाबू मन्मथनाथ भट्टाचार्य स्वामीजी के पास आये। अमरीका जाने से पहले स्वामीजी मद्रास में इन्हीं के भवन में अतिथि होकर बहुत दिन रहे थे और तभी से वे स्वामीजी के प्रति बहुत श्रद्धा-भक्ति रखते थे। भट्टाचार्य महाशय पाश्चात्य देश और भारतवर्ष के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न करने लगे। स्वामीजी ने उन सब प्रश्नों के उत्तर देकर और अनेक प्रकार से सत्कार करके कहा, "एक दिन तो यहाँ ठहर ही जाइये" मन्मथ बाबू यह कहकर कि "और किसी दिन आकर ठहरूँगा।" बिदा हुए और सीढ़ियों से नीचे उतरते समय किसी एक मित्र से कहने लगे, "हम यह मद्रास में पहले ही जान गये थे कि वे पृथ्वी पर एक महान् कार्य किये बिना न रहेंगे। ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा मनुष्य में तो पायी नहीं जाती।"

स्वामीजी ने मन्मथ बाबू के साथ गंगा के किनारे तक जाकर उनको अभिवादन करके बिदा किया और कुछ देर तक मैदान में टहलकर अपने कमरे में विश्राम करने के लिए चले गये।

परिच्छेद १९

स्थल—बेलुड़; किराये का मठ-भवन

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—स्वामीजी द्वारा शिष्य को व्यापार वाणिज्य करने के लिए प्रोत्साहित करना—श्रद्धा व आत्मविश्वास न होने के कारण ही इस देश के मध्यम श्रेणी के लोगों की दुर्दशा—इंग्लैण्ड में नौकरीपेशा लोगों को छोटा मानकर उनके प्रति जनता की घृणा—भारत में शिक्षा के अभिमानी व्यक्तियों की निष्क्रियता—वास्तविक शिक्षा किसे कहते हैं—दूसरे देशों के निवासियों की क्रियाशीलता और आत्मविश्वास—भारत के उच्च जातीय लोगों की तुलना में निम्नजातीय लोगों की जागृति तथा उनका उच्च जाति के लोगों से अपने अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न—उच्च जाति के लोग इस विषय में यदि उनकी सहायता करें तो भविष्य में दोनों जातियों का लाभ—निम्नजातियों के व्यक्तियों को यदि गीता के उपदेश के अनुसार शिक्षा दी जाय तो वे अपने अपने जातीय कर्मों का त्याग न करके उन्हें और भी गौरव के साथ करते रहेंगे—यदि उच्चवर्गीय व्यक्ति इस समय इस प्रकार निम्नजातियों की सहायता न करेंगे तो उनके भविष्य के निश्चय ही अन्धकारपूर्ण होने की सम्भावना।

शिष्य आज प्रातःकाल मठ में आया है। स्वामीजी के चरण-कमलों की वन्दना करके खड़े होते ही स्वामीजी बोले, "नौकरी ही करते रहने से क्या होगा। कोई व्यापार क्यों नहीं करते?" शिष्य उस समय एक स्थान पर एक गृहशिक्षक का कार्य करता था। उस समय तक उसके सिर पर परिवार का भार न था। आनन्द से दिन बीतते थे। शिक्षक के कार्य के सम्बन्ध में शिष्य ने पूछा तब स्वामीजी ने कहा, "बहुत दिनों तक मास्टरी करने से

बुद्धि बिगड़ जाती है। ज्ञान का विकास नहीं होता। दिनरात लड़कों के बीच रहने से धीरे धीरे जड़ता आ जाती है; इसलिए आगे अब अधिक मास्टरी न कर।"

शिष्य—तो क्या करूँ ?

स्वामीजी—क्यों ? यदि तुझे गृहस्थी ही करनी है और यदि धन कमाने की आकांक्षा है, तो जा अमरीका में चला जा। मैं व्यापार का उपाय बता दूँगा। देखना पाँच वर्षों में कितना धन कमा लेगा।

शिष्य—कौनसा व्यापार करूँगा ? और उसके लिए धन कहाँ से आयगा ?

स्वामीजी—पागल की तरह क्या बकता है ? तेरे भीतर अदम्य शक्ति है। तू तो 'मैं कुछ नहीं' सोच सोच कर वीर्यविहीन बना जा रहा है। तू ही क्यों ?—सारी जाति ही ऐसी वन गयी है। जा एक बार घूम आ; देखेगा भारतवर्ष के वाहर लोगों का 'जीवन-प्रवाह' कैसे आनन्द से, सरलता से, प्रबल वेग के साथ बहता जा रहा है। और तुम लोग क्या कर रहे हो ? इतनी विद्या सीख कर दूसरों के दरवाजे पर भिखारी की तरह 'नौकरी दो, नौकरी दो' कहकर चिल्ला रहे हो। दूसरों की ठोकरें खाते हुए—गुलामी करके भी तुम लोग क्या अभी मनुष्य रह गये हो ? तुम लोगों का मूल्य एक फूटी कौड़ी भी नहीं है। ऐसी सुजला सुफला भूमि, जहाँ पर प्रकृति अन्य सभी देशों से करोड़ों गुना अधिक धनधान्य पैदा कर रही है, वहाँ पर जन्म लेकर भी तुम लोगों के पेट में अन्न नहीं, तन पर वस्त्र नहीं ! जिस देश के धनधान्य ने पृथ्वी के अन्य सभी देशों में सभ्यता का विस्तार किया है, उसी अन्नपूर्णा के देश में तुम लोगों की ऐसी दुर्दशा ! तुम लोग घृणित कुत्तों से

भी बदतर हो गये हो ! और फिर भी अपने वेद-वेदान्त की डींग हाँकते हो ! जो राष्ट्र आवश्यक अन्न-वस्त्र का भी प्रबन्ध नहीं कर सकता और दूसरों के मुँह की ओर ताक कर ही जीवन व्यतीत कर रहा है उस राष्ट्र का यह गर्व ! धर्म-कर्मों को तिलांजलि देकर पहले जीवनसंग्राम में कूद पड़ो। भारत में कितनी चीजें पैदा होती हैं। विदेशी लोग उसी कच्चे माल के द्वारा 'सोना' पैदा कर रहे हैं। और तुम लोग बोझ ढोनेवाले गधों की तरह उनके सामानों को उठाते उठाते मरे जा रहे हो। भारत में जो चीजें उत्पन्न होती हैं, विदेशी उन्हीं को ले जाकर अपनी बुद्धि से अनेक प्रकार की चीजें बनाकर सम्पत्तिशाली बन गये; और तुम लोग ! अपनी बुद्धि सन्दूक में बन्द करके घर का धन दूसरों को देकर 'हा अन्न' 'हा अन्न' करके भटक रहे हो !

शिष्य—अन्न-समस्या कैसे हल हो सकती है, महाराज ?

स्वामीजी—उपाय तुम्हारे ही हाथों में है। आँखों पर पट्टी बाँधकर कह रहे हो, 'मैं अन्धा हूँ, कुछ देख नहीं सकता !' आँख पर की पट्टी अलग कर दो, देखोगे—दोपहर के सूर्य की किरणों से जगत् आलोकित हो रहा है। रुपया इकट्ठा नहीं कर सकता, तो जहाज का मजदूर बनकर विदेश में चला जा। देशी वस्त्र, गमछा, सूप, झाड़ू सिर पर रखकर अमरीका और यूरोप की सड़कों और गलियों में घूम घूम कर बेच। देखेगा भारत में उत्पन्न चीजों का आज भी वहाँ कितना मूल्य है। हुगली जिले के कुछ मुसलमान अमरीका में ऐसा ही व्यापार कर धनवान बन गये हैं। क्या तुम लोगों की विद्या बुद्धि उनसे भी कम है ? देखना इस देश में जो बनारसी साड़ी बनती है, उसके समान बढ़िया कपड़ा पृथ्वी भर में और कहीं नहीं बनता। इस कपड़े को लेकर अमरीका

में चला जा। उस देश में इस कपड़े से स्त्रियों के गाउन तैयार करने लग जा, फिर देख कितने रुपये आते हैं।

शिष्य—महाराज, वे लोग क्या बनारसी साड़ी का गाउन पहनेंगी ? सुना है, रंग बिरंगे कपड़े उनके देश की औरतें पसन्द नहीं करतीं।

स्वामीजी—लेंगे या नहीं, यह मैं देखूँगा। हिम्मत करके चला तो जा ! उस देश में मेरे अनेक मित्र हैं। मैं उनसे तेरा परिचय करा दूँगा। आरम्भ में कह सुनकर उनमें उन चीजों का प्रचार करा दूँगा। उसके बाद देखेगा, कितने लोग उनकी नकल करते हैं। तब तो तू उनकी माँग की पूर्ति करने में भी अपने को असमर्थ पायगा।

शिष्य—पर व्यापार करने के लिए मूलधन कहाँ से आयगा ?

स्वामीजी—मैं किसी न किसी तरह तेरा काम शुरू करा दूंगा। परन्तु उसके बाद तुझे अपने ही प्रयत्न पर निर्भर रहना होगा। 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'— इस प्रयत्न में यदि तू मर भी जायगा तो भी बुरा नहीं। तुझे देखकर और दूसरे दस व्यक्ति आगे बढ़ेंगे। और यदि सफलता प्राप्त हो गयी, तो फिर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करेगा।

शिष्य—परन्तु महाराज, साहस नहीं होता।

स्वामीजी—इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि भाई, तुममें श्रद्धा नहीं है—आत्मविश्वास भी नहीं। क्या होगा तुम लोगों का ? न तो तुमसे गृहस्थी होगी और न धर्म ही। या तो इस प्रकार के उद्योगधन्धे करके संसार में यशस्वी, सम्पत्तिशाली बन, या सब कुछ छोड़-छाड़ कर हमारे पथ का अनुसरण करके लोगों को धर्म का उपदेश देकर उनका उपकार कर; तभी तू हमारी तरह भिक्षा

पा सकेगा। लेन-देन न रहने पर कोई किसी की ओर नहीं ताकता। देख तो रहा है; हम धर्म की दो बातें सुनाते हैं, इसीलिए गृहस्थ लोग हमें अन्न के दो दाने दे रहे हैं। तुम लोग कुछ भी न करोगे, तो लोग तुम्हें अन्न भी क्यों देंगे? नौकरी में, गुलामी में इतना दुःख देखकर भी तुम लोग सचेत नहीं हो रहे हो! इसीलिए दुःख भी दूर नहीं हो रहा है। यह अवश्य ही दैवी माया का छल है। उस देश में मैंने देखा, जो लोग नौकरी करते हैं उनका स्थान पार्लमेंट (राष्ट्रीय सभा) में बहुत पीछे होता है। पर जो लोग प्रयत्न करके विद्या-बुद्धि द्वारा स्वनामधन्य हो गये हैं उनके बैठने के लिए सामने की सीटें रहती हैं। उन सब देशों में जाति-भेद का झंझट नहीं है। उद्यम व परिश्रम द्वारा जिन पर भाग्य-लक्ष्मी प्रसन्न है, वे ही देश के नेता और नियन्ता माने जाते हैं। और तुम्हारे देश में जातिपाँति का मिथ्याभिमान है, इसीलिए तुम्हें अन्न तक नसीब नहीं। तुममें एक सुई तक तैयार करने की योग्यता नहीं है और फिर तुम लोग अंग्रेजों के गुणदोषों की आलोचना करने को उद्यत होते हो! मूर्ख! जा उनके पैरों पड़; जीवनसंग्राम के उपयुक्त विद्या, शिल्पविज्ञान और क्रियाशीलता सीख, तभी तू योग्य बनेगा और तभी तुम लोगों का सम्मान होगा। वे भी उस समय तुम्हारी बात मानेंगे। केवल काँग्रेस बनाकर चिल्लाने से क्या होगा?

शिष्य—परन्तु महाराज, देश के सभी शिक्षित लोग उसमें सम्मिलित हो रहे हैं।

स्वामीजी—कुछ उपाधियाँ प्राप्त करने या अच्छा भाषण दे सकने से ही क्या तुम्हारी दृष्टि में वे शिक्षित हो गये! जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवनसंग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो

मनुष्य में चरित्र-बल, परहित-भावना तथा सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, वह भी कोई शिक्षा है ? जिस शिक्षा के द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है, वही है शिक्षा। आजकल के इन सब स्कूल-कालेजों में पढ़कर तुम लोग न जाने कैसी एक प्रकार के अजीर्ण के रोगियों की जमात तैयार कर रहे हो। केवल मशीन की तरह परिश्रम कर रहे हो और 'जायस्व म्रियस्व' इस वाक्य के साक्षी रूप में खड़े हो ! ये जो किसान, मजदूर, मोची, मेहतर आदि हैं इनकी कर्मशीलता और आत्म-निष्ठा तुममें से कई लोगों से काफी अधिक है। ये लोग चिरकाल से चुपचाप काम किये जा रहे हैं, देश का धन-धान्य उत्पन्न कर रहे हैं, पर अपने मुँह से कभी आवाज नहीं निकालते। ये लोग शीघ्र ही तुम लोगों से ऊपर उठ जायेंगे। धन उनके हाथ में चला जा रहा है —तुम्हारी तरह उनमें कमी नहीं है। वर्तमान शिक्षा से तुम्हारा सिर्फ बाहरी परिवर्तन होता जा रहा है—परन्तु नयी नयी उद्भावनी शक्ति के अभाव के कारण तुम लोगों को धन कमाने का उपाय उपलब्ध नहीं हो रहा है। तुम लोगों ने इतने दिन इन सब सहनशील निम्नजातियों पर अत्याचार किया है। अब ये लोग उसका बदला लेंगे और तुम लोग 'हा ! नौकरी' 'हा ! नौकरी' करके लुप्त हो जाओगे।

शिष्य—महाराज, दूसरे देशों की तुलना में हमारी उद्भावनी शक्ति कम होने पर भी भारत की अन्य सभी जातियाँ तो हमारी बुद्धि द्वारा ही संचालित हो रही हैं। अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च जातियों को जीवनसंग्राम में पराजित कर सकने की शक्ति और शिक्षा अन्य जातियाँ कहाँ से पायेंगी ?

स्वामीजी—माना कि उन्होंने तुम लोगों की तरह पुस्तकें नहीं

पढ़ी हैं, तुम्हारी तरह कोट कमीज पहनकर सभ्य बनना उन्होंने नहीं सीखा, पर इससे क्या होता है? वास्तव में वे ही राष्ट्र की रीढ़ हैं। यदि ये निम्नश्रेणियों के लोग अपना अपना काम करना बन्द कर दें तो तुम लोगों को अन्न-वस्त्र मिलना कठिन हो जाय! कलकत्ते में यदि मेहतर लोग एक दिन के लिए काम बन्द कर देते हैं तो 'हाय तोबा' मच जाती है। यदि तीन दिन वे काम बन्द कर दें तो सांक्रमिक रोग से शहर बर्बाद हो जाय! श्रमिकों के काम बन्द करने पर तुम्हें अन्न-वस्त्र नहीं मिल सकते। इन्हें ही तुम लोग नीच समझ रहे हो और अपने को शिक्षित मानकर अभिमान कर रहे हो।

जीवनसंग्राम में सदा लगे रहने के कारण निम्न श्रेणी के लोगों में अभी तक ज्ञान का विकास नहीं हुआ। ये लोग अभी तक मानव बुद्धि द्वारा परिचालित यन्त्र की तरह एक ही भाव से काम करते आये हैं, और बुद्धिमान चतुर व्यक्ति इनके परिश्रम तथा कार्य का सार तथा निचोड़ लेते रहे हैं। सभी देशों में इसी प्रकार हुआ है। परन्तु अब वे दिन नहीं रहे। निम्न श्रेणी के लोग धीरे धीरे यह बात समझ रहे हैं और इसके विरुद्ध सब सम्मिलित रूप से खड़े होकर अपने समुचित अधिकार प्राप्त करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ हो गये हैं। यूरोप और अमरीका में निम्न जातीय लोगों ने जागृत होकर इस दिशा में प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया है, और आज भारत में भी इसके लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। निम्न श्रेणी के व्यक्तियों द्वारा आजकल जो इतनी हड़तालें हो रही हैं, वह इनकी इसी जागृति का प्रमाण है। अब हजार प्रयत्न करके भी उच्च जाति के लोग निम्न श्रेणियों को अधिक दबाकर नहीं रख सकेंगे। अब निम्न श्रेणियों के न्यायसंगत अधिकार की प्राप्ति

में सहायता करने में ही उच्च श्रेणियों का भला है।

इसीलिए कहता हूँ कि तुम लोग ऐसे काम में लग जाओ, जिससे साधारण श्रेणी के लोगों में विद्या का विकास हो। इन्हें जाकर समझा कर कहो—'तुम हमारे भाई हो—हमारे शरीर के अंग हो—हम तुमसे प्रेम करते हैं—घृणा नहीं।' तुम लोगों की यह सहानुभूति पाने पर ये लोग सौ गुने उत्साह के साथ काम करने लगेंगे। आधुनिक विज्ञान की सहायता से इनमें ज्ञान का विकास कर दो। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य और साथ ही साथ धर्म के गम्भीर तत्त्व इन्हें सिखा दो। उससे शिक्षकों की भी दरिद्रता मिट जायगी और लेन-देन से दोनों आपस में मित्र जैसे बन जायेंगे।

शिष्य—परन्तु महाराज, इनमें शिक्षा का प्रचार होने पर ये लोग भी तो फिर समय आने पर हमारी ही तरह बुद्धिमान किन्तु निश्चेष्ट तथा आलसी बनकर अपने से निम्न श्रेणी के लोगों के परिश्रम से लाभ उठाने लग जायेंगे।

स्वामीजी—ऐसा क्यों होगा? ज्ञान का विकास होने पर भी कुम्हार कुम्हार ही रहेगा—मछुआ मछुआ ही बना रहेगा—किसान खेती का ही काम करेगा। कोई अपना जातीय धन्धा क्यों छोड़ेगा? 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्'—इस भाव से शिक्षा पाने पर वे लोग अपने अपने व्यवसाय क्यों छोड़ेंगे? विद्या के बल से अपनी जाति के कर्म को और भी अच्छी तरह से करने का प्रयत्न करेंगे। समय पर उनमें से दस-पाँच प्रतिभाशाली व्यक्ति अवश्य उठ खड़े होंगे। उन्हें तुम अपनी उच्च श्रेणी में सम्मिलित कर लोगे। तेजस्वी विश्वामित्र को जो ब्राह्मणों ने ब्राह्मण मान लिया था इससे क्षत्रिय जाति ब्राह्मणों के प्रति

कितनी कृतज्ञ हुई थी—कहो तो ? उसी प्रकार सहानुभूति और सहायता प्राप्त करने पर मनुष्य तो दूर रहा, पशु पक्षी भी अपने बन जाते हैं।

शिष्य—महाराज, आप जो कुछ कह रहे हैं वह सत्य तो है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अभी भी उच्च तथा निम्न श्रेणी के लोगों में बड़ा अन्तर है। भारतवर्ष की निम्न जातियों के प्रति उच्च श्रेणी के लोगों में सहानुभूति की भावना लाना बड़ा ही कठिन काम ज्ञात होता है।

स्वामीजी—परन्तु ऐसा न होने से तुम्हारा (उच्च जातियों का) भला नहीं है। तुम लोग हमेशा से जो कुछ करते आ रहे हो, वह तुम्हारा पृथकता का प्रयत्न रहा है। आपस की मारकाट ही करते हुए मर मिटोगे ! ये निम्न श्रेणी के लोग जब जाग उठेंगे और अपने ऊपर होने वाले तुम लोगों के अत्याचारों को समझ लेंगे, तब उनकी फूक से ही तुम लोग उड़ जाओगे ! उन्हींने तुम्हें सभ्य बनाया है, उस समय वे ही सब कुछ मिटा देंगे सोचकर देखो न—रोमन सभ्यता गॉल जाति के पंजे में पड़कर कहाँ चली गयी। इसीलिए कहता हूँ, इन सब निम्नजाति के लोगों को विद्यादान, ज्ञानदान देकर इन्हें नींद से जगाने के लिए सचेष्ट हो जाओ ! जब वे लोग जागेंगे—और एक दिन वे अवश्य जागेंगे—तब वे भी तुम लोगों के किये उपकारों को नहीं भूलेंगे और तुम लोगों के प्रति कृतज्ञ रहेंगे।

इस प्रकार वार्तालाप के बाद स्वामीजी ने शिष्य से कहा—ये सब बातें अब रहने दे, तूने अब क्या निश्चय किया, कह। मैं तो कहता हूँ, जो कुछ भी हो, तू कुछ कर अवश्य। या तो किसी व्यापार के लिए चेष्टा कर, नहीं तो हम लोगों की तरह

'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'—यथार्थ संन्यास के पथ का अनुसरण कर। यह अन्तिम पथ ही निस्सन्देह श्रेष्ठ पथ है, व्यर्थ ही गृहस्थ बनने से क्या होगा? समझा न, सभी क्षणिक है—'नलिनीदलगतजलमतितरलं, तद्वज्जीवनमतिशयचपलम्।' अतः यदि इसी आत्मविश्वास को प्राप्त करने को उत्कण्ठित है, तो फिर समय न गँवा! आगे बढ़। 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।' दूसरों के लिए अपने जीवन का बलिदान देकर लोगों के द्वार द्वार पर जाकर यह अभय वाणी सुना—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत'

परिच्छेद २०

स्थान—बेलुड़, किराये का मठभवन

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—"उद्बोधन" पत्र की स्थापना—इस पत्र के लिए स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी का अमित कष्ट तथा त्याग—स्वामीजी का इस पत्र को प्रकाशित करने का उद्देश—श्रीरामकृष्ण की संन्यासी सन्तानों का त्याग तथा अध्यवसाय—गृहस्थों के कल्याण के लिए ही पत्र का प्रचार आदि—"उद्बोधन" पत्र का संचालन—जीवन को उच्च भाव से गढ़ने के लिए उपायों का निर्देश—किसी से घृणा करना या किसी को डराना निन्दनीय—भारत में अवसन्नता का कारण—शरीर को सबल बनाना।

जिस समय मठ आलम बाजार से लाकर बेलुड़ में नीलाम्बर बाबू के बगीचे में स्थापित किया गया, उसके थोड़े दिन बाद स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों के सामने जनसाधारण में श्रीरामकृष्ण के भावों के प्रचार के लिए बंगला भाषा में एक समाचार-पत्र निकालने का प्रस्ताव रखा। स्वामीजी ने पहले एक दैनिक समाचार-पत्र निकालने का प्रस्ताव किया था। परन्तु उसमें काफी धन की आवश्यकता होने के कारण एक पाक्षिक पत्र प्रकाशित करने का प्रस्ताव ही सर्वसम्मति से निश्चित हुआ और स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी को उसके संचालन का भार सौंपा गया। स्वामीजी के पास एक हजार रुपये थे; श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ भक्त * ने और एक हजार रुपये ऋण के रूप में दिये, उसी धन से

---

* स्वर्गीय हरमोहन मित्र।

काम शुरू हुआ। एक छापाखाना * खरीदा गया और श्याम बाजार के 'रामचन्द्र मैत्र लेन' में श्रीगिरीन्द्रनाथ बसक के घर पर वह प्रेस रखा गया। स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी ने इस प्रकार कार्यभार ग्रहण करके बंगला सन १३०५, माघ के प्रथम दिन उक्त 'पत्र' का प्रथम अंक प्रकाशित किया। स्वामीजी ने उस पत्र का नाम 'उद्बोधन' रखा और उसकी उन्नति के लिए स्वामी त्रिगुणा-तीतानन्दजी को अनेकानेक आशीर्वाद दिये। अथक परिश्रमी स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी ने स्वामीजी के निर्देश पर उसके मुद्रण तथा प्रचार के लिए जो परिश्रम किया था वह अवर्णनीय है। कभी भक्त-गृहस्थ के भिक्षान्न पर निर्वाह कर, कभी अभुक्त रहकर, कभी प्रेस तथा पत्र सम्बन्धी कार्य के लिए दस दस मील तक पैदल चलकर स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी उक्त पत्र की उन्नति तथा प्रचार के लिए प्राणपण से प्रयत्न में लग गये। उस समय पैसा देकर कर्मचारी रखना सम्भव न था और स्वामीजी का आदेश था कि पत्र के लिए एकत्रित धन में से एक पैसा भी पत्र के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में खर्च न किया जाय; इसीलिए स्वामी त्रिगुणा-तीतानन्दजी ने भक्तों के घर भिक्षा माँगकर जैसे तैसे अपने भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध करते हुए उक्त निर्देश का अक्षरश: पालन किया था।

पत्र की प्रस्तावना स्वामीजी ने स्वयं लिख दी थी और निश्चय हुआ कि श्रीरामकृष्ण के संन्यासी तथा गृहस्थ भक्तगण ही इस पत्र में लेख आदि लिखेंगे तथा किसी भी प्रकार के अश्लील विज्ञापन आदि इस पत्र में प्रकाशित न होंगे। श्रीरामकृष्ण मिशन

* यह छापाखाना स्वामीजी के जीवनकाल में ही कई कारणों से बेच दिया गया था।

एक संघ का रूप धारण कर चुका था। स्वामीजी ने मिशन के सदस्यों से इस पत्र में लेख आदि लिखने तथा श्रीरामकृष्ण के धर्म सम्बन्धी मतों का पत्र की सहायता से जनसाधारण में प्रचार करने के लिए अनुरोध किया। पत्र का प्रथम अंक प्रकाशित होने पर एक दिन शिष्य मठ में उपस्थित हुआ। प्रणाम करके बैठ जाने पर उससे स्वामीजी ने उद्बोधन पत्र के सम्बन्ध में वार्तालाप प्रारम्भ किया—

स्वामीजी—(पत्र के नाम को हँसी हँसी में विकृत करके)—'उद्बन्धन' * देखा है ?

शिष्य—जी, हाँ ! सुन्दर है !

स्वामीजी—इस पत्र के भाव भाषा सभी कुछ नये ढाँचे में गढ़ने होंगे !

शिष्य—कैसे ?

स्वामीजी—श्रीरामकृष्ण का भाव तो सब को देना होगा ही; साथ ही बंगला भाषा में नया जोश लाना होगा। उदाहरणार्थ, बार बार केवल क्रियापद का प्रयोग करने से भाषा की शक्ति घट जाती है; विशेषण देकर क्रियापदों का प्रयोग घटा देना होगा। तू ऐसी भाषा में निबन्ध लिखना शुरू कर दे। पहले मुझे दिखाकर फिर उद्बोधन में प्रकाशित होने के लिए भेजते जाना।

शिष्य—महाराज, स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी इस पत्र के लिए जितना परिश्रम कर रहे हैं, वह दूसरों के लिए असम्भव है।

स्वामीजी—तो क्या तू समझता है कि श्रीरामकृष्ण की ये सब संन्यासी सन्तान केवल पेड़ के नीचे धूनी जलाकर बैठे रहने के लिए ही पैदा हुई हैं ? इसमें से जो जिस समय जिस कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होगा, उस समय उसका उद्यम देखकर लोग दंग रह

* इस शब्द का अर्थ है—गले में फाँसी लगवाकर आत्मघात कर लेना।

जायेंगे। इससे सीख, काम कैसे करना चाहिए। यह देख, मेरे आदेश का पालन करने के लिए त्रिगुणातीत साधन-भजन, ध्यान-धारणा तक छोड़कर कर्तव्यक्षेत्र में उतर पड़ा है। क्या यह कम त्याग की बात है? मेरे प्रति कितने प्रेम से कर्म की यह प्रेरणा उसमें आयी है देख तो, काम पूर्ण होने पर ही वह उसे छोड़ेगा! क्या तुम लोगों में है ऐसी दृढ़ता?

शिष्य—परन्तु महाराज, गेरुआ वस्त्र पहने संन्यासी का गृहस्थों के द्वार द्वार पर इस प्रकार घूमना फिरना हमारी दृष्टि में उचित नहीं है।

स्वामीजी—क्यों! पत्र का प्रचार तो गृहस्थों के ही कल्याण के लिए है। देश में नवीन भाव के प्रचार से जनसाधारण का कल्याण होगा। क्या तू इस फलाकांक्षारहित कर्म को साधन-भजन से कम महत्त्वपूर्ण समझता है? हमारा उद्देश्य है जीवों का कल्याण करना। इस पत्र की आमदनी से हमारा इरादा पैसा कमाने का नहीं है। हम सर्वत्यागी संन्यासी हैं—हमारे स्त्री-पुत्र नहीं हैं जो उनके लिए कुछ छोड़ जायेंगे। यदि काम सफल हो तथा आमदनी बढ़े, तो इसकी सारी आमदनी जीवसेवा के उद्देश्य से खर्च होगी। स्थान स्थान पर संघ और सेवाश्रम स्थापित करने तथा अन्यान्य कल्याणकारी कार्यों में इससे बचे हुए धन का सदुपयोग हो सकेगा। हम लोग गृहस्थों की तरह धन संग्रह के उद्देश्य से यह काम नहीं कर रहे हैं। केवल परहित के लिए ही हमारे सभी काम हैं, यह जान लेना।

शिष्य—फिर भी सभी लोग इस भाव को समझ नहीं सकते।

स्वामीजी—न सही! इसमें हमारा क्या बनेगा या बिगड़ेगा? हम निन्दा या प्रशंसा की परवाह करके कार्य में अग्रसर नहीं हुए हैं।

शिष्य---महाराज, यह पत्र हर पन्द्रह दिनों के बाद प्रकाशित होगा; हमारी इच्छा है कि वह साप्ताहिक हो।

स्वामीजी---यह तो ठीक है, परन्तु उतना धन कहाँ है? श्रीरामकृष्ण की इच्छा से यदि रुपये की व्यवस्था हो जायगी तो कुछ समय के पश्चात् इसे दैनिक भी किया जा सकता है और प्रतिदिन इसकी लाखों प्रतियाँ छपकर कलकत्ते की गली गली में बिना मूल्य बाँटी जा सकती हैं।

शिष्य---आपका यह संकल्प बहुत ही उत्तम है।

स्वामीजी---मेरी इच्छा है कि इस पत्र को स्वावलम्बी बनाकर तुझे सम्पादक बना दूँ। किसी चीज को पहलेपहल खड़ा करने की शक्ति तो तुम लोगों में अभी नहीं आयी है। इसमें तो ये सब सर्वत्यागी साधु ही समर्थ हैं। ये लोग काम करते करते मर जायेंगे, फिर भी हटनेवाले नहीं हैं। तुम लोग थोड़ी बाधा आते ही, थोड़ी निन्दा सुनते ही चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार देखने लगते हो।

शिष्य---हाँ, उस दिन हमने देखा भी था कि स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी ने पहले श्रीरामकृष्ण के चित्र की प्रेस में पूजा कर ली और तब काम प्रारम्भ किया। साथ ही काम की सफलता के लिए आपकी कृपा की प्रार्थना की।

स्वामीजी---हमारा केन्द्र तो श्रीरामकृष्ण ही हैं। हम एक एक व्यक्ति उसी प्रकाश-केन्द्र की एक एक किरण मात्र हैं। श्रीरामकृष्ण की पूजा करके काम का आरम्भ किया, यह अच्छा किया। परन्तु उसने पूजा की बात तो मुझसे कुछ भी नहीं कही?

शिष्य---महाराज, वे आपसे डरते हैं। उन्होंने मुझसे कल कहा, "तू पहले स्वामीजी के पास जाकर जान आ कि पत्र के प्रथम

अंक के बारे में उनकी क्या राय है, फिर मैं उनसे मिलूँगा।"

स्वामीजी—तू जाकर कह दे, मैं उसके काम से बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। उसे मेरा आशीर्वाद भी कहना और तुम लोग सब जहाँ तक हो सके उसकी सहायता करना। यह तो श्रीरामकृष्ण का ही काम है।

इतनी बातें कहकर स्वामीजी ने ब्रह्मानन्द स्वामीजी को पास बुलाया और आवश्यकतानुसार भविष्य में उद्बोधन के लिए त्रिगुणातीतानन्दजी को और अधिक धन देने का आदेश दिया। उस दिन रात को भोजन के पश्चात् स्वामीजी ने फिर शिष्य के साथ उद्बोधन पत्र के सम्बन्ध में चर्चा की।

स्वामीजी—उद्बोधन द्वारा जनसाधारण के सामने विधायक आदर्श रखना होगा। 'नहीं, नहीं' की भावना मनुष्य को दुर्बल बना डालती है। देखता नहीं, जो माता पिता दिनरात बच्चों के लिखने पढ़ने पर जोर देते रहते हैं, कहते हैं, 'इसका कुछ सुधार नहीं होगा,' 'यह मूर्ख है, गधा है' आदि आदि—उनके बच्चे अधिकांश वैसे ही बन जाते हैं। बच्चों को अच्छा कहने से और प्रोत्साहन देने से, समय आने पर वे स्वयं ही अच्छे बन जाते हैं। जो नियम बच्चों के लिए हैं वे ही उन लोगों के लिए भी हैं जो भावराज्य के उच्च अधिकार की तुलना में उन शिशुओं की तरह हैं। यदि जीवन को संगठित करने वाले भाव उत्पन्न किये जा सकें तो साधारण व्यक्ति भी मनुष्य बन जायगा और अपने पैरों पर खड़ा होना सीख सकेगा। मनुष्य भाषा, साहित्य, दर्शन, कविता, शिल्प आदि अनेकानेक क्षेत्रों में जो प्रयत्न कर रहा है उसमें वह अनेकों गलतियाँ करता है। आवश्यक यह है कि हम उसे उन गलतियों को न बतलाकर उसे प्रगति के मार्ग पर धीरे धीरे

अग्रसर होने के लिए सहायता दें। गलतियाँ दिखा देने से लोगों के मन में दुःख होता है तथा वे हतोत्साह हो जाते हैं। श्रीरामकृष्ण को हमने देखा है——जिन्हें हम त्याज्य मानते थे उन्हें भी वे प्रोत्साहित करके उनके जीवन की गति को लौटा देते थे। शिक्षा देने का उनका ढंग ही बड़ा अद्भुत था।

इसके पश्चात् स्वामीजी थोड़ा चुप हो गये। थोड़ी देर बाद फिर कहने लगे, "धर्मप्रचार के काम को बात बात में किसी पर भी नाक-भौं सिकोड़ने का काम न समझ लेना। शरीर, मन और आत्मा से सम्बद्ध सभी बातों में मनुष्य को विधायक भाव देना होगा, परन्तु घृणा के साथ नहीं। आपस में एक दूसरे से घृणा करते करते ही तुम लोगों का अधःपतन हो गया है। अब केवल सबल होने तथा जीवन को संगठित करने का भाव फैलाकर लोगों को उठाना होगा——उसके बाद दुनिया को उठाना होगा। असल में श्रीरामकृष्ण के अवतीर्ण होने का उद्देश्य यही था। उन्होंने जगत् में किसी के भाव को नष्ट नहीं किया। उन्होंने महापतित मनुष्य को भी अभय और उत्साह देकर उठा लिया है। हमें भी उनके चरणचिह्नों का अनुसरण कर सभी को उठाना होगा——जगाना होगा——समझा ?

"तुम्हारे इतिहास, साहित्य, पुराण आदि सभी शास्त्र मनुष्य को केवल डराने का ही कार्य करते हैं। मनुष्य से केवल कह रहे हैं——'तू नरक में जायगा, तेरी रक्षा का कोई उपाय नहीं है।' इसलिए भारत की नस नस में इतनी अवसन्नता प्रविष्ट हो गयी है। अतः वेद-वेदान्त के उच्च भावों को सरल भाषा में लोगों को समझा देना होगा। सदाचार, सद्व्यवहार और शिक्षा का प्रचार कर ब्राह्मण और चाण्डाल को एक ही भूमि पर खड़ा करना होगा।

उद्बोधन पत्र में इन्हीं विषयों को लिखकर बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी को उठा दे तो देखूँ। तब जानूँगा तेरा वेद-वेदान्त पढ़ना सफल हुआ है। क्या कहता है बोल—कर सकेगा ?"

शिष्य—मन कहता है, आपका आशीर्वाद और आदेश होने पर सभी विषयों में सफल हो सकूँगा।

स्वामीजी—एक बात और, तुम्हें शरीर को दृढ़ बनाना सीखना होगा और यही दूसरों को भी सिखाना होगा। देखता नहीं मैं अभी भी प्रतिदिन डम्बेल करता हूँ। रोज सबेरे शाम घूमना, शारीरिक परिश्रम करना—शरीर और मन साथ ही साथ उन्नत होने चाहिए। सभी बातों में दूसरों पर निर्भर रहने से कैसे काम चलेगा। शरीर को सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता समझने पर तू स्वयं ही उस विषय में चेष्टा करेगा। इस आवश्यकता को समझने के ही लिए तो शिक्षा की जरूरत है।

; २१

स्थान—कलकत्ता

विषय—भगिनी निवेदिता आदि के साथ स्वामीजी का अलीपुर पशुशाला देखने जाना—पशुशाला देखते समय वार्तालाप तथा हँसी—दर्शन के बाद पशुशाला के सुपरिण्टेण्डेण्ट रायबहादुर बाबू रामब्रह्म सन्याल के मकान पर चाय पीना तथा क्रमविकास के सम्बन्ध में वार्तालाप—क्रमविकास का कारण बताकर पाश्चात्य विद्वानों ने जो कुछ कहा है वह अन्तिम निर्णय नहीं है—उस विषय के कारण के सम्बन्ध में महामुनि पतंजलि का मत—बागबाजार में लौट कर स्वामीजी का फिर से क्रमविकास के बारे में वार्तालाप—पाश्चात्य विद्वानों द्वारा बताये हुए क्रमविकास के कारण मानवेतर अन्य प्राणियों में सत्य होने पर भी मानवजाति में संयम तथा त्याग ही सर्वोच्च परिणति के कारण हैं—स्वामीजी ने सर्वसाधारण को सब से पहले शरीर को सुदृढ़ बनाने के लिए क्यों कहा।

आज तीन दिन से स्वामीजी बागबाजार के स्व० बलराम बसु के मकान पर निवास कर रहे हैं। प्रतिदिन अगणित लोगों की भीड़ है। स्वामी योगानन्दजी भी स्वामीजी के साथ ही निवास कर रहे हैं। आज भगिनी निवेदिता को साथ लेकर स्वामीजी अलीपुर का 'जू' (पशुशाला) देखने जायँगे। शिष्य के उपस्थित होने पर उससे तथा स्वामी योगानन्दजी से कहा, "तुम लोग पहले चले जाओ—मैं निवेदिता को लेकर गाड़ी पर थोड़ी देर में आ रहा हूँ।"

स्वामी योगानन्दजी शिष्य को साथ लेकर ट्राम द्वारा करीब ढाई बजे रवाना हो गये। उस समय घोड़े की ट्राम चलती थी। दिन के करीब चार बजे पशुशाला में पहुँचकर उन्होंने बगीचे के

सुपरिण्टेण्डेण्ट रायबहादुर बाबू रामब्रह्म सन्याल से भेंट की। स्वामीजी आ रहे हैं यह जानकर रामब्रह्म बाबू बहुत ही प्रसन्न हुए और स्वामीजी का स्वागत करने के लिए स्वयं बगीचे के फाटक पर खड़े रहे। करीब साढ़े चार बजे स्वामीजी भगिनी निवेदिता को साथ लेकर वहाँ पहुँचे। रामब्रह्म बाबू भी बड़े आदर सत्कार के साथ स्वामीजी तथा निवेदिता का स्वागत कर उन्हें पशुशाला के भीतर ले गये और करीब डेढ़ घण्टे तक उनके साथ साथ घूमते हुए बगीचे के विभिन्न स्थानों को दिखाते रहे। स्वामी योगानन्दजी भी शिष्य के साथ उनके पीछे पीछे चले।

रामब्रह्म बाबू वनस्पति शास्त्र के अच्छे पण्डित थे। बगीचे के नाना प्रकार के वृक्षों को दिखाते हुए वनस्पति शास्त्र के मतानुसार कालक्रम में वृक्षादि की किस प्रकार क्रम-परिणति हुई है, यह बतलाते हुए आगे बढ़ने लगे। तरह तरह के जानवरों को देखते हुए स्वामीजी भी बीच बीच में जीव की क्रम-परिणति के सम्बन्ध में डारविन के मत की आलोचना करने लगे। शिष्य को स्मरण है, साँपों के घर में जाकर उन्होंने बदन पर चक्र जैसे दाग वाले एक बृहत् साँप को दिखाकर कहा, "देखो, इसीसे कालक्रम में कछुआ पैदा हुआ है। उसी साँप के बहुत दिनों तक एक स्थान पर बैठे रहने के कारण धीरे धीरे उसकी पीठ कड़ी हो गयी है।" इतना कहकर स्वामीजी ने शिष्य से हँसी हँसी में पूछा, "तुम लोग कछुआ खाते हो न? डारविन के मत में यह साँप ही कालक्रम के अनुसार कछुआ बन गया है;—तो बात यह हुई कि तुम लोग साँप भी खाते हो!" शिष्य ने सुनकर मुँह फेरकर कहा—"महाराज, कोई चीज क्रमविकास के द्वारा दूसरी चीज बन जाने पर जब उसका पहले का आकार और प्रकृति नहीं रहती

तो फिर कछुआ खाने से साँप खाना कैसे हुआ ? यह आप कैसे कह रहे हैं ?"

शिष्य की बात सुनकर स्वामीजी तथा रामब्रह्म बाबू हँस पड़े और भगिनी निवेदिता को यह बात समझा देने पर वे भी हँसने लगीं। धीरे धीरे सभी लोग उस कटघरे की ओर बढ़ने लगे जिसमें शेर, बाघ आदि रहते थे।

रामब्रह्म बाबू की आज्ञानुसार वहाँ के चपरासी लोग शेरों तथा बाघों के लिए अधिक परिमाण में मांस लाकर हमारे सामने ही उन्हें खिलाने लगे। उनकी सानन्द गर्जना सुनकर तथा आग्रह-पूर्वक भोजन माँगना देखकर हम लोग बड़े प्रसन्न हुए। इसके थोड़ी देर बाद हम सभी बगीचे में स्थित रामब्रह्म बाबू के मकान में आये। वहाँ पर चाय तथा जलपान आदि की व्यवस्था हुई। स्वामीजी ने थोड़ी सी चाय पी। निवेदिता ने भी चाय पी। एक ही मेज पर बैठकर भगिनी निवेदिता की छुई हुई मिठाई तथा चाय लेने में संकोच होते देख स्वामीजी ने शिष्य से कई बार अनुरोध करके उसे वह खिलायी और स्वयं जल पीकर उसका बाकी बचा हुआ जल शिष्य को पीने के लिए दे दिया। इसके बाद डारविन के क्रमविकासवाद के सम्बन्ध में थोड़ी देर तक चर्चा होती रही।

रामब्रह्म बाबू—डारविन ने क्रमविकासवाद तथा उसके कारण को जिस भाव से समझाया है, उसके बारे में आपकी क्या राय है ?

स्वामीजी—डारविन का कहना ठीक होने पर भी मैं ऐसा नहीं मान सकता कि क्रमविकास के कारण के सम्बन्ध में वही अन्तिम निर्णय है।

रामब्रह्म बाबू—क्या इस विषय पर हमारे देश के प्राचीन

विद्वानों ने किसी प्रकार का विचार नहीं किया ?

स्वामीजी—सांख्य दर्शन में इस विषय पर पर्याप्त विचार किया गया है। मेरी सम्मति में क्रमविकास के कारण के बारे में भारतवर्ष के प्राचीन दार्शनिकों का सिद्धान्त ही अन्तिम निर्णय है।

रामब्रह्म बाबू—यदि संक्षेप में उस सिद्धान्त को समझाना सम्भव हो तो सुनने की इच्छा है।

स्वामीजी—निम्नजाति को उच्चजाति में परिणत करने में पाश्चात्यों की राय में 'जीवनसंग्राम' (struggle for existence), 'योग्यतम का उद्वर्तन' (survival of the fittest), 'प्राकृतिक निर्वाचन' (natural selection) आदि जिन सब नियमों को कारण माना गया है, आप उन्हें अवश्य ही जानते होंगे। परन्तु पातंजल-दर्शन में उनमें से एक को भी उसका कारण नहीं माना गया है। पतंजलि की राय है कि, 'प्रकृत्यापूरात्'—अर्थात् प्रकृति की पूर्ति-क्रिया द्वारा एक जाति दूसरी जाति में परिणत हो जाती है। विघ्नों के साथ दिनरात संघर्ष करके वैसा नहीं होता है। मैं समझता हूँ कि संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता तो बहुधा जीव की पूर्णता-प्राप्ति में रुकावटें बन जाती हैं। यदि हजार जीवों का विनाश करके एक जीव की क्रमोन्नति होती है (जिसका पाश्चात्य दर्शन समर्थन करता है) तो फिर कहना होगा कि क्रमविकास द्वारा जगत् की कोई विशेष उन्नति की बात यदि मान भी ली जाय तो भी यह बात माननी ही पड़ेगी कि आध्यात्मिक विकास के लिए वह विशेष विघ्नकारक है। हमारे दार्शनिकों का कहना है कि सभी जीव पूर्ण आत्मा हैं। इस आत्मा के प्रकाश के कम-ज्यादा होने के कारण ही प्रकृति की अभिव्यक्ति तथा विकास में विभिन्नता दिखायी देती हैं। प्रकृति की अभिव्यक्ति एवं विकास में जो विघ्न

हैं, वे जब सम्पूर्ण रूप से दूर हो जाते हैं तब पूर्ण भाव से आत्म-प्रकाश होता है। प्रकृति की अभिव्यक्ति के निम्नस्तरों में चाहे जो हो परन्तु उच्चस्तरों में उन्हें दूर करने के लिए इन विघ्नों के साथ दिनरात संघर्ष करना आवश्यक नहीं है। देखा जाता है, वहाँ पर शिक्षा-दीक्षा, ध्यान-धारणा एवं प्रधानतया त्याग के ही द्वारा विघ्न दूर हो जाते हैं अथवा अधिकतर आत्मप्रकाश प्रकट होता है। अत: विघ्नों को आत्मप्रकाश का कार्य न कहकर कारण कहना तथा प्रकृति की इस विचित्र अभिव्यक्ति के सहायक कहना ठीक नहीं है। हजार पापियों के प्राणों का नाश करके जगत् से पाप को दूर करने की चेष्टा करने से जगत् में पाप की वृद्धि ही होती है। परन्तु यदि उपदेश देकर जीव को पाप से निवृत्त किया जा सके तो जगत् में फिर पाप नहीं रहेगा। अब देखिये, पाश्चात्यों के संघर्ष-मतवाद (Struggle Theory) अर्थात् जीवों का आपस में संघर्ष व प्रतिद्वन्द्विता द्वारा उन्नति करने का मतवाद कितना भयानक मालूम होता है।

रामब्रह्म बाबू स्वामीजी की बातों को सुनकर दंग रह गये। अन्त में बोले, "इस समय भारतवर्ष में आप जैसे प्राच्य तथा पाश्चात्य दर्शनों में पारंगत विद्वानों की ही आवश्यकता है। ऐसे ही विद्वान् व्यक्ति एकदेशदर्शी शिक्षित जनसमुदाय की भूलों को साफ साफ दिखा दे सकते हैं। आपकी क्रमविकासवाद की नवीन व्याख्या सुनकर मैं विशेष आनन्दित हुआ हूँ।"

चलते समय रामब्रह्म बाबू ने बगीचे के फाटक तक आकर स्वामीजी को बिदा किया और वचन दिया कि किसी अन्य दिन उपयुक्त अवसर देखकर फिर एकान्त में स्वामीजी से भेंट करेंगे। मैं कह नहीं सकता कि रामब्रह्म बाबू ने उसके बाद फिर स्वामीजी

के पास जाने का अवसर प्राप्त किया या नहीं, क्योंकि इस घटना के थोड़े ही दिन बाद उनकी मृत्यु हो गयी।

शिष्य स्वामी योगानन्दजी के साथ ट्राम पर सवार होकर रात के करीब आठ बजे बागबाजार लौटा। स्वामीजी उससे करीब पन्द्रह मिनट पहले लौटकर आराम कर रहे थे। लगभग आध घण्टा विश्राम करने के बाद वे बैठकघर में हमारे पास उपस्थित हुए। उस समम वहाँ पर स्वामी योगानन्दजी, स्व० शरच्चन्द्र सरकार, शशिभूषण घोष (डाक्टर), बिपिन बिहारी घोष (डाक्टर), शान्तिराम घोष आदि परिचित मित्रगण तथा स्वामीजी के दर्शन की इच्छा से आये हुए पाँच छः अन्य सज्जन भी उपस्थित थे। यह जानकर कि आज स्वामीजी ने पशुशाला देखने के लिए जाकर रामब्रह्म बाबू के पास क्रमविकासवाद की अपूर्व व्याख्या की है, सभी लोग उक्त प्रसंग को विशेष रूप से सुनने के लिए पहले से ही उत्सुक थे, अतः उनके आते ही सभी की इच्छा को देखकर शिष्य ने उसी प्रसंग को उठाया।

शिष्य—महाराज, पशुशाला में आपने क्रमविकास के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, उसे मैं अच्छी तरह समझ न सका। कृपया उसे सरल भाषा में फिर कहिये।

स्वामीजी—क्यों, क्या नहीं समझा?

शिष्य—यही कि आपने पहले अनेक बार हमसे कहा है कि बाहरी शक्तियों के साथ संघर्ष करने की क्षमता ही जीवन का चिह्न है और वही उन्नति की सीढ़ी है। इसलिए आपने आज जो बतलाया है वह कुछ उलटा सा लगा।

स्वामीजी—उलटा क्यों बताऊँगा? तू ही समझ न सका। निम्न-प्राणी-जगत् में हम वास्तव में जीवित रहने के लिए संघर्ष,

सब से अधिक सामर्थ्यवान् का उद्वर्तन आदि नियम प्रत्यक्ष देखते हैं। इसीलिए डारविन का मतवाद कुछ कुछ सत्य ज्ञात होता है। परन्तु मनुष्य-जगत् में जहाँ ज्ञान-बुद्धि का विकास है वहाँ हम उक्त नियम के विपरीत ही देखते हैं। उदाहरणार्थ, जिन्हें हम वास्तव में महान् पुरुष या आदर्श पुरुष समझते हैं उनका बाह्य जगत् से संघर्ष बिलकुल नहीं दिखायी देता। पशुजगत् में संस्कार अथवा स्वाभाविक ज्ञान की प्रबलता है। परन्तु मनुष्य ज्यों ज्यों उन्नत होता जाता है त्यों त्यों उसमें बुद्धि का विकास होता जाता है। इसीलिए मनुष्येतर प्राणी-जगत् की तरह बुद्धियुक्त मनुष्य-जगत् में दूसरों का नाश करके उन्नति नहीं हो सकती। मानव का सर्वश्रेष्ठ पूर्ण विकास एकमात्र त्याग के ही द्वारा सम्पन्न होता है। जो दूसरे के लिए जितना त्याग कर सके, मनुष्य में वह उतना बड़ा है। और निम्नस्तर के पशुओं में जो जितना ध्वंस कर सकता है, वह उतना ही बलवान समझा जाता है। अतः जीवन-संघर्ष-तत्त्व इन दोनों क्षेत्रों में एक-सा उपयोगी नहीं हो सकता। मनुष्य का संघर्ष है मन में। मन को जो जितना वशीभूत कर सका, वह उतना बड़ा बना है। मन के सम्पूर्ण रूप से वृत्तिविहीन बनने से आत्मा का विकास होता है। मनुष्य से भिन्न प्राणी-जगत् में स्थूल देह के संरक्षण के लिए जो संघर्ष होते देखे जाते हैं, वे ही मानवजीवन में मन पर प्रभुता स्थापित करने के लिए अथवा सत्त्ववृत्ति-सम्पन्न बनने के लिए होते रहते हैं। जीवित वृक्ष तथा तालाब के जल में पड़ी हुई वृक्ष-छाया की तरह मनुष्येतर प्राणियों का संघर्ष मनुष्य-जगत् के संघर्ष से विपरीत देखा जाता है।

शिष्य——तो फिर आप हमें शारीरिक उन्नति करने के लिए इतना क्यों कहा करते हैं ?

स्वामीजी—क्या तुम लोग मनुष्य हो? हाँ, इतना ही कि तुममें थोड़ी बुद्धि है। यदि शरीर स्वस्थ न हो तो मन के साथ संग्राम कैसे कर सकोगे? तुम लोग क्या जगत् के परिपूर्ण विकासरूपी मनुष्य कहलाने योग्य रह गये हो? आहार, निद्रा, मैथुन के अतिरिक्त तुम लोगों में और है ही क्या? गनीमत यही है कि अब तक चतुष्पाद नहीं बन गये। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—'वही मनुष्य है, जिसे अपने सम्मान का ध्यान है।' तुम लोग तो 'जायस्व म्रियस्व' वाक्य के साक्षी बनकर स्वदेश-वासियों के द्वेष के और विदेशियों की घृणा के पात्र बने हुए हो। इस तरह तुम लोग मानवेतर प्राणियों की श्रेणी में आ गये हो, इसीलिए मैं तुम्हें संघर्ष करने को कहता हूँ। मतवाद का झमेला छोड़ो। अपने प्रतिदिन के कार्य एवं व्यवहार का स्थिर चित्त से विचार करके देख लो कि तुम लोग मनुष्य और मनुष्येतर स्तर के बीच के जीवविशेष हो या नहीं। शरीर को पहले सुसंगठित कर लो। फिर मन पर धीरे धीरे अधिकार प्राप्त होगा—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'—समझा?

शिष्य—महाराज, 'बलहीनेन' शब्द के अर्थ में भाष्यकार ने तो 'ब्रह्मचर्यहीनेन' कहा है!

स्वामीजी—सो कहें, मैं कहता हूँ—The physically weak are unfit for the realisation of the Self. (जो लोग शरीर से दुर्बल हैं, वे आत्म-साक्षात्कार के अयोग्य हैं।)

शिष्य—परन्तु सबल शरीर में कई जड़-बुद्धि भी तो देखने में आते हैं।

स्वामीजी—यदि तुम कोशिश करके उन्हें सद्विचार एक बार दे सको, तो वे जितना शीघ्र उसे कार्यरूप में परिणत कर सकेंगे,

उतना शीघ्र दुर्बल व्यक्ति नहीं कर सकते। देखता नहीं, क्षीण व्यक्ति कामक्रोधादि के वेग को सम्भाल नहीं सकता। कमजोर व्यक्ति थोड़े ही में क्रोध में आ जाते हैं--काम द्वारा भी शीघ्र मोहित हो जाते हैं।

शिष्य---परन्तु इस नियम का व्यतिक्रम भी देखा जाता है।

स्वामीजी---कौन कहता है कि व्यतिक्रम नहीं है। मन पर एक बार अधिकार प्राप्त हो जाने पर देह सबल रहे या सूख जाय, इससे कुछ नहीं होता। वास्तविक यह है कि शरीर के स्वस्थ न रहने पर कोई आत्मज्ञान का अधिकारी ही नहीं बन सकता; श्रीरामकृष्ण कहा करते थे---'शरीर में जरा भी त्रुटि रहने पर जीव सिद्ध नहीं बन सकता।'

इन बातों को कहते कहते स्वामीजी को उत्तेजित होते देखकर शिष्य साहस करके और कोई बात न कर सका। वह स्वामीजी के सिद्धान्त को ग्रहण कर चुप हो गया। कुछ समय के पश्चात् स्वामीजी हँसी हँसी में उपस्थित व्यक्तियों से कहने लगे-"और एक बात सुनी है आप लोगों ने? आज एक भट्टाचार्य ब्राह्मण निवेदिता का जूठा खा आया है। उसकी छुई हुई मिठाई खायी तो खैर, उससे उतनी हानि नहीं!---परन्तु उसका छुआ हुआ जल कैसे पी गया?"

शिष्य---सो आप ही ने तो आदेश दिया था। गुरु के आदेश पर मैं सब कुछ कर सकता हूँ। जल पीने को तो मैं सहमत न था---आपने पीकर दिया, इसीलिए प्रसाद मानकर पी गया।

स्वामीजी---तेरी जाति की जड़ कट गयी है---अब फिर तुझे कोई भट्टाचार्य ब्राह्मण नहीं कहेगा।

शिष्य---न कहे, मैं आपकी आज्ञा पर चाण्डाल का भात भी

खा सकता हूँ ।

यह बात सुनकर स्वामीजी तथा उपस्थित सभी लोग जोर से हँस पड़े ।

बातचीत में रात्रि के करीब साढ़े बारह बज गये । शिष्य ने निवासगृह में लौटकर देखा, फाटक बन्द हो गया है । पुकारकर किसी को जगाने में असमर्थ होकर वह विवश हो बाहर के बरामदे में ही सो गया ।

कालचक्र के निर्मम परिवर्तन के अनुसार आज स्वामीजी, स्वामी योगानन्दजी व भगिनी निवेदिता इस संसार में नहीं हैं— रह गयी है उनके जीवन की केवल पवित्र स्मृति । उनके वार्तालाप को थोड़ा बहुत लिखने में समर्थ होकर शिष्य अपने को धन्य मान रहा है ।

परिच्छेद २२

स्थान—बेलुड़—किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—श्रीरामकृष्ण मठ को अद्वितीय धर्मक्षेत्र बना लेने की स्वामीजी की इच्छा—मठ में ब्रह्मचारियों को किस प्रकार शिक्षा देने का संकल्प था—ब्रह्मचर्याश्रम, अन्नक्षेत्र व सेवाश्रम की स्थापना करके ब्रह्मचारियों को संन्यास व ब्रह्मविद्या प्राप्त करनें के योग्य बनाने की इच्छा—उससे जन· साधारण का क्या भला होगा—परार्थ-कर्म बन्धन का कारण नहीं होता—माया का आवरण हट जाने पर ही सभी जीवों का विकास होता है—उस प्रकार के विकास द्वारा सत्यसंकल्पत्व प्राप्त होता है—मठ को सर्व-धर्म-समन्वय-क्षेत्र बनाने की योजना—शुद्धाद्वैत का आचरण संसार की प्रायः सभी प्रकार की स्थितियों में किया जा सकता है; इस संसार में स्वामीजी का आगमन यही दिखाने के लिए है—एक श्रेणी के वेदान्तवादियों का मत कि संसार में जब तक सब मुक्त न होंगे, तब तक तुम्हारी मुक्ति असम्भव है—ब्रह्मज्ञान के उपरान्त इस बात की अनुभूति कि स्थावरजंगम समग्र जगत् तथा सभी जीव अपनी ही सत्ता हैं—अज्ञान के सहारे ही संसार में सब प्रकार के कामकाज चल रहे हैं—अज्ञान का आदि व अन्त—इस विषय में शास्त्रोक्ति—'अज्ञान प्रवाह के रूप में नित्य जैसा लगता है, परन्तु उसका अन्त होता है'—समस्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म में अध्यस्त हो रहा है—जिसे पहले कभी नहीं देखा, उसके सम्बन्ध में अध्यास होता है या नहीं—ब्रह्मतत्त्व का स्वाद गूंगे के स्वाद जैसा होता है (मूकास्वादनवत्)।

आज दिन के करीब दो बजे के समय शिष्य पैदल चलकर मठ में आया है। अब मठ को स्थानान्तरित कर नीलाम्बर बाबू के बगीचे-वाले मकान में लाया गया है। और इस मठ की जमीन भी थोड़े

दिन हुए खरीदी गयी है। स्वामीजी शिष्य को साथ लेकर दिन के करीब चार बजे मठ की नयी जमीन में घूमने निकले हैं। मठ की जमीन उस समय भी जंगलों से पूर्ण थी। उस समय उस जमीन के उत्तर भाग में एकमंजिले का एक पक्का मकान था। उसी की मरम्मत करके वर्तमान मठ-भवन निर्मित हुआ है। जिन सज्जन ने मठ की जमीन खरीद दी थी, उन्होंने भी स्वामीजी के साथ थोड़ी दूर तक आकर बिदा ली। स्वामीजी शिष्य के साथ मठ की भूमि पर भ्रमण करने लगे और वार्तालाप के सिलसिले में भावी मठ की रूपरेखा तथा नियम आदि की चर्चा करने लगे।

धीरे धीरे एकमंजिले मकान के पूर्व दिशा वाले बरामदे में पहुँचकर घूमते घूमते स्वामीजी बोले, "यहीं पर साधुओं के रहने का स्थान होगा। यह मठ साधनभजन एवं ज्ञानचर्चा का प्रधान केन्द्र होगा—यही मेरी इच्छा है। यहाँ से जिस शक्ति की उत्पत्ति होगी वह पृथ्वी भर में फैल जायगी और वह मनुष्य के जीवन की गति को परिवर्तित कर देगी। ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म के समन्वय स्वरूप मानव-हितकर उच्च आदर्श यहाँ से प्रसृत होंगे। इस मठ के पुरुषों के इशारे पर एक समय दिग-दिगन्त में प्राण का संचार होगा। समय पर यथार्थ धर्म के सब प्रेमी यहाँ आकर एकत्रित होंगे—मन में इसी प्रकार की कितनी ही कल्पनाएँ उठ रही हैं।"

"मठ के वह जो दक्षिण-भाग की जमीन देख रहा है, वहाँ पर विद्या का केन्द्र बनेगा। व्याकरण, दर्शन, विज्ञान, काव्य, अलंकार, स्मृति, शक्तिशास्त्र और राजभाषा की शिक्षा उसी स्थान में दी जायगी। प्राचीन काल की पाठशाला के अनुकरण में वह विद्या-मन्दिर स्थापित होगा। बालब्रह्मचारीगण उस स्थान पर रहकर शास्त्रों का अध्ययन करेंगे। उनके भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध मठ की

ओर से किया जायगा। ये सब ब्रह्मचारीगण पाँच वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् यदि चाहेंगे तो घर लौटकर गृहस्थी कर सकेंगे। यदि इच्छा हो तो मठ के महापुरुषों की अनुमति लेकर संन्यास भी ले सकेंगे। इन ब्रह्मचारियों में जो उच्छृंखल या दुश्चरित्र पाये जायेंगे, उन्हें मठाधिपति उसी समय बाहर निकाल देंगे। यहाँ पर सभी जाति और वर्ण के शिक्षार्थियों को शिक्षा दी जायगी। इसमें जिन्हें आपत्ति होगी उन्हें नहीं लिया जायगा, परन्तु जो लोग अपनी जाति वर्णाश्रम के आचारों को मानकर चलना चाहेंगे, उन्हें अपने भोजन आदि का प्रबन्ध स्वयं कर लेना होगा। वे केवल अध्ययन ही दूसरों के साथ करेंगे। उनके भी चरित्र के सम्बन्ध में मठाधिपति सदा कड़ी दृष्टि रखेंगे। यहाँ पर शिक्षित न होने से कोई संन्यास का अधिकारी न बन सकेगा। धीरे धीरे जब इस प्रकार मठ का काम प्रारम्भ होगा उस समय कैसा होगा, बोल तो।

शिष्य—तो क्या आप प्राचीन काल की तरह गुरुगृह में ब्रह्मचर्याश्रम की प्रथा को देश में फिर से प्रचलित करना चाहते हैं?

स्वामीजी—और नहीं तो क्या? इस समय देश में जिस प्रकार की शिक्षा दी जा रही है, उसमें ब्रह्मविद्या के विकास का जरा भी स्थान नहीं है। पहले के समान ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित करने होंगे। परन्तु इस समय उनकी नींव व्यापक भावसमूह पर डालनी होगी, अर्थात् समयानुसार उसमें अनेक उपयुक्त परिवर्तन करने होंगे। वह सब बाद में बतलाऊँगा।

स्वामीजी फिर कहने लगे—"मठ के दक्षिण में वह जो जमीन है, उसे भी किसी दिन खरीद लेना होगा। वहाँ पर मठ का लंगरखाना रहेगा। वहाँ पर वास्तविक गरीब दुःखियों को

नारायण मानकर सेवा करने की व्यवस्था रहेगी। वह लंगरखाना श्रीरामकृष्ण के नाम पर स्थापित होगा। जैसा धन जुटेगा उसी के अनुसार लंगरखाना पहलेपहल खोलना होगा। ऐसा भी हो सकता है कि पहलेपहल दो ही तीन व्यक्तियों को लेकर काम प्रारम्भ किया जाय। उत्साही ब्रह्मचारियों को इस लंगरखाने का संचालन सिखाना होगा। उन्हें कहीं से प्रबन्ध करके, आवश्यक हो तो भीख माँगकर भी इस लंगरखाने को चलाना होगा। इस विषय में मठ किसी प्रकार की आर्थिक सहायता नहीं कर सकेगा। ब्रह्मचारियों को ही उनके लिए धन संग्रह करके लाना पड़ेगा। इस प्रकार धर्मार्थ लंगर में पाँच वर्ष की शिक्षा समाप्त होने पर वे विद्यामन्दिर शाखा में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे। लंगरखाने में पाँच वर्ष और विद्यामन्दिर में पाँच वर्ष, कुल दस वर्ष शिक्षा ग्रहण के बाद मठ के स्वामियों द्वारा दीक्षित होकर वे संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो सकेंगे—बशर्ते कि वे संन्यासी बनना चाहें और मठ के अध्यक्षगण उन्हें योग्य अधिकारी समझकर संन्यास देना चाहें। परन्तु मठाध्यक्ष किसी किसी विशेष सद्‌गुणी ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में उस नियम का उल्लंघन भी करके उन्हें जब इच्छा हो संन्यास की दीक्षा दे सकेंगे। परन्तु साधारण ब्रह्मचारियों को, जैसा मैंने पहले कहा है, उसी प्रकार क्रमशः संन्यासाश्रम में प्रवेश करना होगा। मेरे मस्तिष्क में ये सब भाव मौजूद हैं।"

शिष्य—महाराज, मठ में इस प्रकार तीन शाखाओं की स्थापना का क्या उद्देश्य होगा?

स्वामीजी—समझा नहीं? पहले अन्नदान; उसके बाद विद्यादान और सर्वोपरि ज्ञानदान। इन तीन भावों का समन्वय

इस मठ से करना होगा। अन्नदान करने की चेष्टा करते करते ब्रह्मचारियों के मन में परार्थ कर्म में तत्परता तथा शिव मानकर जीवसेवा का भाव दृढ़ होगा। उससे उनका चित्त धीरे धीरे निर्मल होकर उसमें सात्त्विक भाव का स्फुरण होगा। तभी ब्रह्मचारीगण समय पर ब्रह्मविद्या प्राप्त करने की योग्यता एवं संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

शिष्य——महाराज, ज्ञानदान ही यदि श्रेष्ठ है, फिर अन्नदान और विद्यादान की शाखाएँ स्थापित करने की क्या आवश्यकता है?

स्वामीजी——तू अभी तक मेरी बात नहीं समझा! सुन——इस अन्नाभाव के युग में यदि तू दूसरों के लिए सेवा के उद्देश्य से गरीब दु:खियों को, भिक्षा माँगकर या जैसे भी हो, दो ग्रास अन्न दे सका, तो जीव जगत् तथा तेरा तो कल्याण होगा ही——साथ ही साथ तू इस सत्कार्य के लिए सभी की सहानुभूति भी प्राप्त कर सकेगा। इस सत्कार्य के लिए तुझ पर विश्वास करके कामकांचन में बँधे हुए गृहस्थ लोग भी तेरी सहायता करने के लिए अग्रसर होंगे। तू विद्यादान या ज्ञानदान करके जितने लोगों को आकर्षित कर सकेगा, उसके हजार गुने लोग तेरे इस अयाचित अन्नदान द्वारा आकृष्ट होंगे। इस कार्य में तुझे साधारण जनों की जितनी सहानुभूति प्राप्त होगी उतनी अन्य किसी कार्य में प्राप्त नहीं हो सकती। यथार्थ सत्कार्य में मनुष्य को भगवान भी सहायक होते हैं। इसी तरह लोगों के आकृष्ट होने पर ही तू उनमें विद्या व ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा को उद्दीप्त कर सकेगा। इसीलिए पहले अन्नदान ही आवश्यक है।

शिष्य——महाराज, धर्मार्थ लंगरखाना खोलने के लिए पहले स्थान चाहिए; उसके बाद उसके लिए मकान आदि बनवाना

पड़ेगा, फिर काम चलाने के लिए धन चाहिए; इतना रुपया कहाँ से आयगा ?

स्वामीजी—मठ का दक्षिण भाग मैं अभी छोड़ देता हूँ और उस बेल के पेड़ के नीचे एक झोपड़ा खड़ा कर देता हूँ। तू एक या दो अन्धे-लूले खोज कर ले आ और कल से ही उनकी सेवा में लग जा। स्वयं उनके लिए भिक्षा माँगकर ला। स्वयं पकाकर उन्हें खिला। इस प्रकार कुछ दिन करने से ही देखेगा—तेरे इस कार्य में सहायता करने के लिए कितने ही लोग अग्रसर होंगे, कितने ही लोग धन देंगे ! 'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।'

शिष्य—हाँ, ठीक है। परन्तु इस प्रकार लगातार कर्म करते करते समय पर कर्मबन्धन भी तो आ सकता है ?

स्वामीजी—कर्म के परिणाम के प्रति यदि तेरी दृष्टि न रहे और सभी प्रकार की कामना तथा वासनाओं के परे जाने के लिए यदि तुझमें एकान्त आग्रह रहे, तो वे सब सत्कार्य तेरे कर्मबन्धन काट डालने में ही सहायता करेंगे ! ऐसे कर्म से कहीं बन्धन आयगा ?—यह तू कैसी बात कह रहा है ? इस प्रकार के दूसरों के लिए किये हुए कर्म ही कर्मबन्धनों की जड़ को काटने के लिए एकमात्र उपाय हैं ! 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।

शिष्य—महाराज, अब तो मैं धर्मार्थ लंगर और सेवाश्रम के सम्बन्ध में आपके मनोभाव को विशेष रूप से सुनने के लिए और भी उत्कण्ठित हो रहा हूँ।

स्वामीजी—गरीब दुःखियों के लिए ऐसे छोटे छोटे कमरे बनवाने होंगे, जिसमें हवा आने-जाने की अच्छी व्यवस्था रहे। एक एक कमरे में दो या तीन व्यक्ति रहेंगे। उन्हें अच्छे बिछौने और साफ कपड़े देने होंगे। उनके लिए डॉक्टर रहेंगे। सप्ताह में

एक या दो बार सुविधानुसार वे उन्हें देख जायेंगे। धर्मार्थ लंगर-खाने के भीतर सेवाश्रम एक विभाग की तरह रहेगा, इसमें रोगियों की सेवा-शुश्रुषा की जायगी। धीरे धीरे जैसे धन आता जायगा, वैसे वैसे एक बड़ा रसोईघर बनाना होगा। लंगरखाने में केवल 'दीयतां भुज्यताम्'—यही ध्वनि उठेगी। भात का पानी गंगाजी में पड़कर गंगाजी का जल सफेद हो जायगा। इस प्रकार धर्मार्थ लंगरखाना बना देखकर मेरे प्राणों को शान्ति मिलेगी।

शिष्य ने कहा, "आपकी जब इस प्रकार इच्छा है, तो सम्भव है समय पर वास्तव में ऐसा ही हो।" शिष्य की यह बात सुनकर स्वामीजी गंगाजी की ओर थोड़ी देर ताकते हुए मौन रहे। फिर प्रसन्न मुख से शिष्य से सस्नेह बोले—"तुममें से कब किसके भीतर से सिंह जाग उठेगा, यह कौन जानता है? तुममें से एक एक में यदि माँ शक्ति जगा दें तो पृथ्वी भर में वैसे कितने ही लंगरखाने बन जायेंगे। क्या जानता है—ज्ञान, भक्ति, शक्ति सभी जीवों में पूर्ण भाव से विद्यमान हैं पर उनके विकास की न्यूनाधिकता को ही केवल हम देखते हैं और इस कारण इसे बड़ा और उसे छोटा मानने लगते हैं। जीव के मन में मानो एक प्रकार का पर्दा बीच में पड़कर सम्पूर्ण विकास को रोक कर खड़ा है। वह हट जाने पर बस सब कुछ हो जायगा! उस समय जो चाहेगा, जो इच्छा करेगा वही होगा।"

स्वामीजी की बात सुनकर शिष्य सोचने लगा कि उसके स्वयं के मन के भीतर का वह पर्दा कब हटकर उसे ईश्वरदर्शन प्राप्त होगा!

स्वामीजी फिर कहने लगे—"यदि ईश्वर चाहेगा तो इस मठ को समन्वय का महान् क्षेत्र बना डालना होगा। हमारे श्रीराम-

कृष्ण सर्व भावों की साक्षात् समन्वय-मूर्ति हैं। उस समन्वय के भाव को यहाँ पर जगाकर रखने से श्रीरामकृष्ण संसार में प्रतिष्ठित रहेंगे। सर्व मत, सर्व पन्थ, ब्राह्मण-चाण्डाल सभी लोग जिससे यहाँ पर आकर अपने अपने आदर्श को देख सकें, यही करना होगा। उस दिन जब मठभूमि पर श्रीरामकृष्ण की प्राणप्रतिष्ठा की, उस समय ऐसा लगा मानो यहाँ से उनके भावों का विकास होकर चराचर विश्व भर में छा गया है, मैं तो जहाँ तक हो सके कर रहा हूँ और करूँगा—तुम लोग भी श्रीरामकृष्ण के उदार भाव लोगों को समझा दो; केवल वेदान्त पढ़ने से कोई लाभ न होगा। असल में प्रतिदिन से व्यावहारिक जीवन में शुद्धाद्वैत की सत्यता को प्रमाणित करना होगा। श्रीशंकर इस अद्वैतवाद को जंगलों और पहाड़ों में रख गये हैं; मैं अब उसे वहाँ से लाकर संसार और समाज में प्रचारित करने के लिए आया हूँ। घर घर में, घाट मैदान में, जंगल पहाड़ों में इस अद्वैतवाद का गम्भीर नाद उठाना होगा। तुम लोग सहायक बनकर काम में लग जाओ।"

शिष्य—महाराज, ध्यान की सहायता से उस भाव का अनुभव करने में ही मानो मुझे अच्छा लगता है। उछलकूद करने की इच्छा नहीं होती।

स्वामीजी—यह तो नशा करके बेहोश पड़े रहने की तरह हुआ। केवल ऐसे रहकर क्या होगा? अद्वैतवाद की प्रेरणा से कभी ताण्डव नृत्य कर, तो कभी स्थिर होकर रह। अच्छी चीज पाने पर क्या उसे अकेले खाकर ही सुख होता है? दस आदमियों को देकर खाना चाहिए। आत्मानुभूति प्राप्त करके यदि तू मुक्त हो गया तो इससे दुनिया को क्या लाभ होगा? त्रिजगत् को मुक्त करना होगा। महामाया के राज्य में आग लगा देनी होगी; तभी

नित्य-सत्य में प्रतिष्ठित होगा। उस आनन्द की क्या कोई तुलना है?—'निरवधिगगनाभम्'—आकाशकल्प भूमानन्द में प्रतिष्ठित होगा, जीव जगत् में सर्वत्र तेरी अपनी सत्ता देखकर दंग रह जायगा! स्थावर और जंगम सभी तेरी अपनी सत्ता ज्ञात होंगे। उस समय सभी की आत्मौपम्य भाव से सेवा किये बिना तू रह नहीं सकेगा। ऐसी ही स्थिति को व्यावहारिक जीवन में वेदान्त कहते हैं—समझा? वह ब्रह्म एक होकर भी व्यावहारिक रूप में अनेक रूपों में सामने विद्यमान है। नाम व रूप व्यवहार के मूल में मौजूद हैं। जिस प्रकार घड़े का नाम-रूप छोड़ देने से क्या देखता है—केवल मिट्टी, जो उसकी वास्तविक सत्ता है। इसी प्रकार भ्रम द्वारा घट, पट इत्यादि का भी तू विचार करता है तथा उन्हें देखता है। ज्ञान-प्रतिबन्धक यह जो अज्ञान है, जिसकी वास्तविक कोई सत्ता नहीं है, उसी को लेकर व्यवहार चल रहा है। स्त्री-पुत्र, देह-मन जो कुछ है—सभी नाम-रूप की सहायता से अज्ञान की सृष्टि में देखने में आते हैं। ज्यों ही अज्ञान हट जायगा त्यों ही ब्रह्मसत्ता की अनुभूति हो जायगी।

शिष्य—यह अज्ञान आया कहाँ से?

स्वामीजी—कहाँ से आया यह बाद में बताऊँगा। तू जब रस्सी को साँप मानकर भय से भागने लगा, तब क्या रस्सी साँप बन गयी थी?—या तेरी अज्ञता ने ही तुझे उस प्रकार भगाया था?

शिष्य—अज्ञता ने ही वैसा किया था।

स्वामीजी—तो फिर सोचकर देख—तू जब फिर रस्सी को रस्सी जान सकेगा, उस समय अपनी पहले वाली अज्ञता का चिन्तन कर तुझे हँसी आयगी या नहीं? उस समय नाम-रूप मिथ्या जान पड़ेंगे या नहीं?

शिष्य--जी हाँ ।

स्वामीजी--यदि ऐसा है, तो नाम-रूप मिथ्या हुए या नहीं ? इसी प्रकार ब्रह्मसत्ता ही एकमात्र सत्य बन गयी। इस अनन्त सृष्टि की विचित्रताओं से भी उनके स्वरूप में जरा भी परिवर्तन नहीं हुआ, केवल तू इस अज्ञान के धीमे अन्धकार में यह स्त्री, यह पुत्र, यह अपना, यह पराया, ऐसा मानता हुआ इस सर्व-विभासक आत्मा की सत्ता को समझ नहीं सकता ! जिस समय गुरु के उपदेश और अपने विश्वास के द्वारा केवल इस नाम-रूपात्मक जगत् को न देखकर इसकी मूल सत्ता का ही अनुभव करेगा, उस समय आब्रह्मस्तम्ब तक सभी पदार्थों में तेरी आत्मानुभूति होगी। उसी समय 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' की स्थिति होगी।

शिष्य--महाराज, इस अज्ञान के आदि-अन्त की बातें जानने की मेरी इच्छा है।

स्वामीजी--जो चीज बाद में नहीं रहती है वह चीज झूठी है, यह तो समझ गया ? जिसने वास्तव में ब्रह्म को जान लिया है, वह कहेगा, 'अज्ञान फिर कहाँ है ?' वह रस्सी को रस्सी ही देखता है--साँप नहीं। जो लोग रस्सी को साँप के रूप में देखते हैं, उन्हें भयभीत देखकर उसे हँसी आती है ! इसलिए अज्ञान का वास्तव में कोई स्वरूप नहीं है। अज्ञान को 'सत्' भी नहीं कहा जा सकता, 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता। 'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो।' जो चीज इस प्रकार असत्य ज्ञात हो रही है उसके सम्बन्ध में क्या प्रश्न है और क्या उत्तर है ? उस विषय में प्रश्न करना उचित भी नहीं हो सकता। क्यों, यही सुन--यह प्रश्नोत्तर भी तो उसी नाम-रूप या देश-काल की भावना से किया जा रहा है।

ब्रह्मवस्तु नाम-रूप, देश-काल से परे है, उसे प्रश्नोत्तर द्वारा कैसे समझा जा सकता है? इसीलिए शास्त्र, मन्त्र आदि व्यावहारिक रूप से सत्य हैं—पारमार्थिक रूप से नहीं। अज्ञान का स्वरूप ही नहीं है, उसे फिर क्या समझेगा? जब ब्रह्म का प्रकाश होगा उस समय फिर इस प्रकार का प्रश्न करने का अवसर ही न रहेगा। श्रीरामकृष्ण की 'मोची-मुटिया' वाली कहानी* सुनी है न?—बस, ठीक वही! अज्ञान को ज्यों ही पहचाना जाता है, त्यों ही वह भाग जाता है।

शिष्य—परन्तु महाराज, यह अज्ञान आया कहाँ से?

स्वामीजी—जो चीज है ही नहीं, वह फिर आयगी कैसे? हो तब तो आयगी?

शिष्य—तो फिर इस जीव-जगत् की उत्पत्ति क्योंकर हुई?

स्वामीजी—एक ब्रह्मसत्ता ही तो मौजूद है! तू मिथ्या नाम-

---

* एक पण्डितजी किसी गाँव को जा रहे थे। उन्हें कोई नौकर नहीं मिला, इसलिए उन्होंने रास्ते के एक चमार को ही अपने साथ ले लिया और उसे सिखा दिया कि वह अपनी जात-पाँत गुप्त रखे और किसी से कुछ भी न बोले। गाँव पहुँचकर एक दिन पण्डितजी अपने नित्यक्रम के अनुसार सन्ध्यावन्दन कर रहे थे और वह नौकर भी उनके पास बैठा था। इतने में ही वहाँ एक दूसरे पण्डितजी आये। वह अपने जूते कहीं छोड़ आये थे और उन्होंने इस नौकर को हुक्म दिया, 'अरे जा, वहाँ से मेरे जूते तो ले आ।' पर नौकर नहीं उठा और न कुछ बोला ही। पण्डितजी ने फिर कहा, पर वह फिर भी नहीं उठा। इस पर उन्हें बड़ा क्रोध आया और उन्होंने उसे डाँटकर कहा, 'तू बड़ा चमार है, कहने से भी नहीं उठता।' अब तो नौकर बड़ा घबड़ाया, क्योंकि वह सचमुच चमार था। वह सोचने लगा, 'अरे मेरी जात तो शायद इन्होंने जान ली।' बस वह भागा, और ऐसा भागा कि उसका पता ही न चला। ठीक इसी प्रकार जब माया पहचान ली जाती है तो वह भी भाग जाती है, एक क्षण भी नहीं टिकती।

रूप देकर उसे नाना रूपों और नामों में देख रहा है।

शिष्य---यह मिथ्या नाम-रूप भी क्यों और वह कहाँ से आया ?

स्वामीजी---शास्त्रों में इस नामरूपात्मक संस्कार या अज्ञता को प्रवाह के रूप में नित्यप्राय कहा गया है ? परन्तु उसका अन्त है। और ब्रह्मसत्ता तो सदा रस्सी की तरह अपने स्वरूप में ही वर्तमान है। इसीलिए वेदान्त शास्त्र का सिद्धान्त है कि यह निखिल ब्रह्माण्ड ब्रह्म में अध्यस्त, इन्द्रजालवत् प्रतीत हो रहा है। इससे ब्रह्म के स्वरूप में किंचित् भी परिवर्तन नहीं हुआ। समझा ?

शिष्य---एक बात अभी भी नहीं समझ सका।

स्वामीजी---वह क्या ?

शिष्य---यह जो आपने कहा कि यह सृष्टि-स्थिति-लय आदि ब्रह्म में अध्यस्त हैं, उनकी कोई स्वरूप-सत्ता नहीं है---यह कैसे हो सकता है ? जिसने जिस चीज को पहले कभी नहीं देखा, उस चीज का भ्रम उसे हो ही नहीं सकता। जिसने कभी साँप नहीं देखा, उसे रस्सी में सर्प का भ्रम नहीं होता। इसी प्रकार जिसने इस सृष्टि को नहीं देखा, उसका ब्रह्म में सृष्टि का भ्रम क्यों होगा ? अतः सृष्टि थी या है, इसीलिए सृष्टि का भ्रम हो रहा है; इसीसे द्वैत की आपत्ति उठ रही है।

स्वामीजी---ब्रह्मज्ञ व्यक्ति तेरे प्रश्न का इस रूप में पहले ही प्रत्याख्यान करेंगे कि उनकी दृष्टि में सृष्टि आदि बिलकुल दिखायी नहीं दे रही है। वे एकमात्र ब्रह्मसत्ता को ही देख रहे हैं। रस्सी ही देख रहे हैं; साँप नहीं देख रहे हैं। यदि तू कहेगा, 'मैं तो यह सृष्टि या साँप देख रहा हूँ'---तो तेरी दृष्टि के दोष को दूर करने के लिए वे तुझे रस्सी का स्वरूप समझा देने की चेष्टा करेंगे। जब उनके उपदेश और अपनी स्वयं की विचारशक्ति इन दोनों के

बल पर तू रज्जुसत्ता या ब्रह्मसत्ता को समझ सकेगा, उस समय यह भ्रमात्मक सर्प-ज्ञान या सृष्टि-ज्ञान नष्ट हो जायगा। उस समय इस सृष्टि-स्थिति-प्रलय रूपी भ्रमात्मक ज्ञान को ब्रह्म में आरोपित कहने के अतिरिक्त और तू क्या कह सकता है? अनादि प्रवाह के रूप में सृष्टि की यह प्रतीति यदि चली आयी है तो आती रहे, उसके निर्णय में लाभ-हानि कुछ भी नहीं है। 'करामलक' की तरह ब्रह्मतत्त्व का प्रत्यक्ष न होने पर इस प्रश्न की पूरी मीमांसा नहीं हो सकती; और उस समय फिर प्रश्न भी नहीं उठता, उत्तर की भी आवश्यकता नहीं होती! ब्रह्मतत्त्व का आस्वाद उस समय 'मूकास्वादन' की तरह होता है।

शिष्य—तो फिर इतना विचार करके क्या होगा?

स्वामीजी—उस विषय को समझने के लिए विचार है। परन्तु सत्य वस्तु विचार से परे है—'नैषा तर्केण मतिरापनेया'।

इस प्रकार वार्तालाप होते होते शिष्य स्वामीजी के साथ मठ में आकर उपस्थित हुआ। मठ में आकर स्वामीजी ने मठ के संन्यासी तथा ब्रह्मचारियों को आज के ब्रह्मविचार का संक्षिप्त सार समझा दिया और उठते उठते शिष्य से कहने लगे, 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'।

परिच्छेद २३

स्थान—बेलुड़ मठ (निर्माण के समय)

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—भारत की उन्नति का उपाय क्या है ?—दूसरों के लिए कर्म का अनुष्ठान या कर्मयोग ।

शिष्य—स्वामीजी, आप इस देश में वक्तृता क्यों नहीं देते ? वक्तृता के प्रभाव से यूरोप-अमरीका को मतवाला बना आये परन्तु भारत में लौटकर आपका उस विषय में यत्न और अनुराग क्यों घट गया, इसका कारण समझ में नहीं आता । हमारी समझ में तो पाश्चात्य देशों के बजाय यहीं पर उस प्रकार की चेष्टा की अधिक आवश्यकता है ।

स्वामीजी—इस देश में पहले जमीन तैयार करनी होगी । तब बीज बोने से वृक्ष उगेगा । पाश्चात्य की भूमि ही इस समय बीज बोने के योग्य है, बहुत उर्वरा है । उस देश के लोग अब भोग की अन्तिम सीमा तक पहुँच चुके हैं । भोग से तृप्त होकर अब उनका मन उसमें और अधिक शान्ति नहीं पा रहा है । वे एक घोर अभाव का अनुभव कर रहे हैं । पर तुम्हारे देश में न तो भोग है और न योग ही । भोग की इच्छा कुछ तृप्त हो जाने पर ही लोग योग की बात सुनते या समझते हैं । अन्न के अभाव से क्षीण देह, क्षीण मन, रोग-शोक-परिताप की जन्मभूमि भारत में भाषण देने से क्या होगा ?

शिष्य—क्यों, आपने ही तो कभी कभी कहा है, यह देश धर्म-

भूमि है। इस देश में लोग जैसे धर्म की बात समझते हैं और कार्यरूप में धर्म का अनुष्ठान करते हैं वैसा दूसरे देशों में नहीं है। तो फिर आपके ओजस्वी भाषणों से क्यों न देश मतवाला हो उठेगा—क्यों न फल होगा ?

स्वामीजी—अरे, धर्म-कर्म करने के लिए पहले कूर्म अवतार की पूजा करनी चाहिए। पेट है वह कूर्म। पहले इसे ठण्डा किये बिना तेरी धर्म-कर्म की बात कोई ग्रहण नहीं करेगा। देखता नहीं पेट की चिन्ता से भारत बेचैन है। विदेशियों के साथ मुकाबला करना, वाणिज्य में अबाध निर्यात, और सब से बढ़कर तुम लोगों के आपस के घृणित दाससुलभ ईर्ष्या ने ही तुम्हारे देश की अस्थि-मज्जा को खा डाला है। धर्म की कथा सुनाना हो तो पहले इस देश के लोगों के पेट की चिन्ता को दूर करना होगा। नहीं तो केवल व्याख्यान देने से विशेष लाभ न होगा।

शिष्य—तो हमें अब क्या करना चाहिए ?

स्वामीजी—पहले कुछ त्यागी पुरुषों की आवश्यकता है—जो अपने परिवार के लिए न सोचकर दूसरों के लिए जीवन का उत्सर्ग करने को तैयार हों। इसीलिए मैं मठ की स्थापना करके कुछ बालसंन्यासियों को उसी रूप में तैयार कर रहा हूँ। शिक्षा समाप्त होने पर, ये लोग द्वार द्वार पर जाकर सभी को उनकी वर्तमान शोचनीय स्थिति समझायेंगे; उस स्थिति से उन्नति किस प्रकार हो सकती है, इस विषय में उपदेश देंगे और साथ ही साथ धर्म के महान् तत्त्वों को सरल भाषा में उन्हें साफ साफ समझा देंगे। तुम्हारे देश की साधारण जनता मानो एक सोया हुआ विराट जानवर (Leviathan) है। इस देश की यह जो विश्वविद्यालय की शिक्षा है उससे देश के अधिक से अधिक एक या दो प्रतिशत

व्यक्ति लाभ उठा रहे हैं। जो लोग शिक्षा पा रहे हैं वे भी देश के कल्याण के लिए कुछ नहीं कर सक रहे हैं। बेचारे करें भी तो कैसे? कालेज से निकल कर ही देखता है कि वह सात बच्चों का बाप बन गया है! उस समय जैसे तैसे किसी क्लर्की या डिप्टी मैजिस्ट्रेट की नौकरी स्वीकार कर लेता है—बस यही हुआ शिक्षा का परिणाम! उसके बाद गृहस्थी के भार से उच्च कर्म और चिन्तन करने का उसको फिर समय कहाँ? जब अपना स्वार्थ ही सिद्ध नहीं होता, तब वह दूसरों के लिए क्या करेगा?

शिष्य—तो क्या इसका कोई उपाय नहीं है?

स्वामीजी—अवश्य है! यह सनातन धर्म का देश है। यह देश गिर अवश्य गया है, परन्तु निश्चय फिर उठेगा। और ऐसा उठेगा कि दुनिया देखकर दंग रह जायगी। देखा नहीं है, नदी या समुद्र में लहरें जितनी नीचे उतरती हैं उसके बाद उतनी ही जोर से ऊपर उठती हैं—यहाँ पर भी उसी प्रकार होगा। देखता नहीं है,—पूर्वाकाश में अरुणोदय हुआ है, सूर्य उदित होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है। तुम लोग इसी समय कमर कसकर तैयार हो जाओ—गृहस्थी करके क्या होगा? तुम लोगों का अब काम है देश देश में, गाँव गाँव में जाकर देश के लोगों को समझा देना कि अधिक आलस्य करके बैठे रहने से काम न चलेगा। शिक्षाविहीन, धर्मविहीन वर्तमान अवनति की बात उन्हें समझाकर कहो,—'भाई, सब उठो, जागो, और कितने दिन सोओगे?' और शास्त्र के महान् सत्यों को सरल करके उन्हें जाकर समझा दो। इतने दिन इस देश के ब्राह्मणगण धर्म पर एकाधिकार करके बैठे थे। काल के स्रोत में वह जब और अधिक टिक नहीं सका है, तो तू अब जाकर ऐसी व्यवस्था कर कि देश के सभी लोग उस धर्म को

प्राप्त कर सकें। सभी को जाकर समझा दो कि ब्राह्मणों की तरह तुम्हारा भी धर्म में एक-सा अधिकार है। चाण्डाल तक को भी इस अग्नि-मन्त्र में दीक्षित करो और सरल भाषा में उन्हें व्यापार, वाणिज्य, कृषि आदि गृहस्थ-जीवन के अत्यावश्यक विषयों का उपदेश दो। नहीं तो तुम्हारे लिखने पढ़ने को धिक्कार—और तुम्हारे वेद-वेदान्त पढ़ने को भी धिक्कार!

शिष्य—महाराज, हममें वह शक्ति कहाँ है? यदि आपकी शतांश शक्ति भी हममें होती तो हम स्वयं धन्य हो जाते और दूसरों को भी धन्य कर सकते!

स्वामीजी—धत् मूर्ख! शक्ति क्या कोई दूसरा देता है? वह तेरे भीतर ही मौजूद है। समय आने पर वह स्वयं ही प्रकट होती। तू काम में लग जा; फिर देखेगा, इतनी शक्ति आयगी कि तू उसे सम्भाल न सकेगा। दूसरों के लिए रत्ती भर काम करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है; दूसरों के लिए रत्ती भर सोचने से धीरे धीरे हृदय में सिंह का सा बल आ जाता है। तुम लोगों से मैं इतना स्नेह करता हूँ, परन्तु यदि तुम लोग दूसरों के लिए परिश्रम करते करते मर भी जाओ तो भी उसे देखकर मुझे प्रसन्नता ही होगी।

शिष्य—परन्तु महाराज, जो लोग मुझ पर निर्भर हैं उनका क्या होगा?

स्वामीजी—यदि तू दूसरों के लिए प्राण देने को तैयार हो जाता है, तो भगवान उनका कोई न कोई उपाय करेंगे ही। 'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति,' गीता में पढ़ा है न?

शिष्य—जी हाँ।

स्वामीजी—त्याग ही असली बात है। त्यागी बने बिना कोई

दूसरों के लिए सोलह आना प्राण देकर काम नहीं कर सकता। त्यागी सभी को समभाव से देखता है—सभी की सेवा में लगा रहता है। वेदान्त में भी पढ़ा है, सभी को समभाव से देखना होगा; तो फिर एक स्त्री और कुछ बच्चों को अपना समझकर अधिक क्यों मानेगा? तेरे दरवाजे पर स्वयं नारायण दरिद्र के भेष में आकर अनाहार से मृतप्राय होकर पड़े हैं। उन्हें कुछ न देकर केवल अपना और अपने स्त्री-पुत्रों का पेट भाँति भाँति के व्यंजनों से भरना यह तो पशुओं का काम है।

शिष्य—महाराज, दूसरों के लिए काम करने के लिए समय समय पर बहुधा धन की भी आवश्यकता होती है। वह कहाँ से आयगा?

स्वामीजी—मैं कहता हूँ, जितनी शक्ति है, पहले उतना ही कार्य कर। धन के अभाव से यदि कुछ नहीं दे सकता तो न सही, पर एक मीठी बात या एक दो सदुपदेश तो उन्हें दे सकता है, क्या इसमें भी धन की आवश्यकता है?

शिष्य—जी हाँ, इतना मैं कर सकता हूँ।

स्वामीजी—'हाँ, कर सकता हूँ,—केवल मुँह से कहने से काम नहीं बनेगा। जो कर सकता है—वह मुझे करके दिखा, तब जानूँगा—तेरा मेरे पास आना सफल हुआ। काम में लग जा—कितने दिनों के लिए है यह जीवन? संसार में जब आया है, तब एक स्मृति छोड़कर जा। वरना पेड़ पत्थर भी तो पैदा तथा नष्ट होते रहते हैं—उसी प्रकार जन्म लेने और मरने की इच्छा क्या मनुष्य की कभी होती है? मुझे कार्य द्वारा दिखा दे कि तेरा वेदान्त पढ़ना सार्थक हुआ है। जाकर सभी को यह बात सुना 'तुम्हारे भीतर अनन्त शक्ति मौजूद है, उसी शक्ति को जागृत

करो।' केवल अपनी मुक्ति प्राप्त कर लेने से क्या होगा ? मुक्ति की कामना भी तो महा स्वार्थपरता है। छोड़ दे ध्यान, छोड़ दे मुक्ति की आकांक्षा—मैं जिस काम में लगा हूँ उसी काम में लग जा।

शिष्य विस्मित होकर सुनने लगा। स्वामीजी फिर कहने लगे—

"तुम लोग इसी प्रकार जमीन तैयार करो जाकर। बाद में मेरे जैसे हजार हजार विवेकानन्द भाषण देने के लिए नरलोक में शरीर धारण करेंगे; उसकी चिन्ता नहीं है। यह देख न, हममें (श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में) जो लोग पहले सोचा करते थे कि उनमें कोई शक्ति नहीं है, वे ही अब अनाथाश्रम, दुर्भिक्षकोष आदि कितनी ही संस्थाएँ खोल रहे हैं। देखता नहीं है, निवेदिता ने अंग्रेज की लड़की होकर भी, तुम लोगों की सेवा करना सीखा है ? और तुम लोग अपने ही देशवासियों के लिए ऐसा नहीं कर सकोगे ? जहाँ पर महामारी हुई हो, जहाँ पर जीवों को दुःख ही दुःख हो, जहाँ दुर्भिक्ष पड़ा हो—चला जा उस ओर। अधिक से अधिक क्या होगा, मर ही तो जायगा। मेरे तेरे जैसे न जाने कितने कीड़े पैदा होते रहते हैं और मरते रहते हैं। इससे दुनिया को क्या हानि-लाभ है। एक महान् उद्देश्य लेकर मर जा। मर तो जायगा ही; पर अच्छा उद्देश्य लेकर मरना ठीक है ! इस भाव का घर घर में प्रचार कर, अपना और देश का कल्याण होगा। तुम्हीं लोग देश की आशा हो। तुम्हें कर्मविहीन देखकर मुझे बड़ा कष्ट होता है। लग जा—काम में लग जा। विलम्ब न कर —मृत्यु तो दिनोंदिन निकट आ रही है ! बाद में करूँगा कहकर और बैठा न रह—यदि बैठा रहेगा, तो फिर तुझसे कुछ भी न हो सकेगा।"

परिच्छेद २४

स्थल—बेलुड़ मठ (निर्माण के समय)

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—ज्ञानयोग व निर्विकल्प समाधि—सभी लोग एक दिन ब्रह्मवस्तु को प्राप्त करेंगे।

शिष्य—स्वामीजी, ब्रह्म यदि एकमात्र सत्य वस्तु है तो फिर जगत् में इतनी विचित्रताएँ क्यों देखी जाती हैं ?

स्वामीजी—ब्रह्मवस्तु को (यह सत्य हो अथवा जो कुछ भी हो) कौन जानता है बोल ? जगत् को हम देखते हैं और उसकी सत्यता में दृढ़ विश्वास रखते हैं। परन्तु सृष्टि की विचित्रता को सत्य मानकर विचारपथ में अग्रसर हो समय पर मूल एकत्व को पहुँच सकते हैं। यदि तू इस एकत्व में स्थिर हो सकता, तो फिर इस विचित्रता को नहीं देखता।

शिष्य—महाराज, यदि एकत्व में ही अवस्थित हो सकता तो प्रश्न ही क्यों करता ? मैं जब विचित्रता को देखकर ही प्रश्न कर रहा हूँ, तो उसे अवश्य ही सत्य मान रहा हूँ।

स्वामीजी—अच्छी बात है। सृष्टि की विचित्रता को देखकर उसे सत्य मानते हुए मूल एकत्व के अनुसन्धान को शास्त्रों में व्यतिरेकी विचार कहा गया है अर्थात् अभाव या असत्य वस्तु को भाव या सत्य वस्तु मानकर विचार द्वारा यह प्रमाणित करना कि, वह भाव वस्तु नहीं वरन् अभाव वस्तु है, व्यतिरेक कहलाता है। तू उसी प्रकार मिथ्या को सत्य मानकर सत्य में पहुँचने की

बात कह रहा है—क्यों यही है न ?

शिष्य—जी हाँ, परन्तु मैं भाव को ही सत्य कहता हूँ और भावविहीनता को ही मिथ्या मानता हूँ।

स्वामीजी—अच्छा। अब देख, वेद कह रहे हैं—'एकमेवाद्वितीयम्।' यदि वास्तव में एक ब्रह्म ही है, तो तेरा नानात्व तो मिथ्या हो रहा है। वेद तो मानता है न ?

शिष्य—वेद की बात मैं अवश्य मानता हूँ। परन्तु यदि कोई न माने तो उसे भी तो समझाना होगा ?

स्वामीजी—वह भी हो सकता है। जड़विज्ञान की सहायता से उसे पहले अच्छी तरह से दिखा देना चाहिए कि इन्द्रियों से उत्पन्न प्रत्यक्ष पर भी हम विश्वास नहीं कर सकते। इन्द्रियाँ भी गलत साक्ष देती हैं, और वास्तविक सत्य वस्तु हमारे मन, इन्द्रिय तथा बुद्धि से परे है। उसके बाद उससे कहना चाहिए कि मन, बुद्धि और इन्द्रियों से परे जाने का उपाय भी है। उसे ऋषियों ने योग कहा है। योग अनुष्ठान पर निर्भर है—उसे प्रत्यक्ष रूप से करना चाहिए—विश्वास करो या न करो, अमल करने से ही फल प्राप्त किया जाता है। करके देख—होता है या नहीं। मैंने वास्तव में देखा है, ऋषियों ने जो कुछ कहा है सब सत्य है। यह देख, तू जिसे विचित्रता कह रहा है, वह एक समय लुप्त हो जाती है, अनुभूत नहीं होती। यह मैंने स्वयं अपने जीवन में श्रीरामकृष्ण की कृपा से प्रत्यक्ष किया है।

शिष्य—ऐसा कब किया है ?

स्वामीजी—एक दिन श्रीरामकृष्ण ने दक्षिणेश्वर के बगीचे में मुझे स्पर्श किया था। उनके स्पर्श करते ही मैंने देखा कि घरबार, दरवाजा-बरामदा, पेड़-पौधे, चन्द्र-सूर्य, सभी मानो आकाश में लीन

हो रहे हैं। धीरे धीरे आकाश भी न जाने कहाँ विलीन हो गया —उसके बाद जो प्रत्यक्ष हुआ था, वह बिलकुल याद नहीं है, परन्तु हाँ इतना याद है कि उस प्रकार के परिवर्तन को देखकर मुझे बड़ा भय लगा था—चीत्कार करके श्रीरामकृष्ण से कहा था, 'अरे, तुम मेरा यह क्या कर रहे हो जी; मेरे माँ-बाप जो हैं।' इस पर श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए 'तो अब रहने दे' कहकर फिर स्पर्श किया। उस समय धीरे धीरे फिर देखा घरबार, दरवाजा-बरामदा—जो जैसा था ठीक उसी प्रकार है। कैसा अनुभव था! और एक दिन—अमरीका में भी एक तालाब के किनारे ठीक वैसा ही हुआ था।

शिष्य विस्मित होकर सुन रहा था। थोड़ी देर बाद बोला, "अच्छा महाराज, ऐसी स्थिति मस्तिष्क के विकार से भी हो सकती है? और एक बात—उस स्थिति में क्या आपको किसी विशेष आनन्द की उपलब्धि हुई थी?"

स्वामीजी—जब रोग के प्रभाव से नहीं, नशा पीकर नहीं, तरह तरह के दम लगाकर भी नहीं, वरन् स्वाभाविक मनुष्य की स्वस्थ दशा में यह स्थिति होती है, तो उसे मस्तिष्क का विकार कैसे कहा जा सकता है, विशेषतः जब उस प्रकार की स्थिति प्राप्त करने की बात वेदों में भी वर्णित है तथा पूर्व आचार्यों तथा ऋषियों के आप्तवाक्यों से भी मिलती है। मुझे क्या अन्त में तूने विकृत-मस्तिष्क ठहराया ?

शिष्य—नहीं महाराज, मैं यह नहीं कह रहा हूँ। शास्त्र में जब इस प्रकार एकत्व की अनुभूति के सैकड़ों उदाहरण हैं तथा आप भी जब कह रहे हैं कि यह हाथ पर रखे हुए आंवले की तरह प्रत्यक्ष सिद्ध है, और आपकी अपरोक्षानुभूति जब वेदादि

शास्त्रोक्त वाक्यों के अनुरूप है, तब सचमुच इसे मिथ्या कहने का साहस नहीं होता। श्रीशंकराचार्यजी ने भी कहा है—'क्व गतं केन वा नीतम्' इत्यादि।

स्वामीजी—जान लेना, यह एकत्वज्ञान होने पर—जिसे तुम्हारे शास्त्र में ब्रह्मानुभूति कहा है—जीव को फिर भय नहीं रहता; जन्ममृत्यु का बन्धन छिन्न हो जाता है। इस निन्दनीय काम-कांचन में वद्ध रहकर जीव उस ब्रह्मानन्द को प्राप्त नहीं कर सकते। उस परमानन्द को प्राप्त होने पर, जगत् के सुख:दुख से जीव फिर अभिभूत नहीं होता।

शिष्य—अच्छा महाराज, यदि ऐसा ही है, और यदि हम वास्तव में पूर्ण ब्रह्म का ही स्वरूप हैं तो फिर उस प्रकार की समाधि द्वारा सुख प्राप्त करने में हमारी चेष्टा क्यों नहीं होती? हम तुच्छ काम-कांचन के प्रलोभन में पड़कर बार बार मृत्यु की ही ओर क्यों दौड़ रहे हैं?

स्वामीजी—क्या तू समझ रहा है कि उस शक्ति को प्राप्त करने के लिए जीव का आग्रह नहीं है? जरा सोचकर देख—तब समझ सकेगा कि तू जो भी कुछ कर रहा है, वह भूमासुख की आशा से ही कर रहा है। परन्तु सभी इस बात को समझ नहीं पाते। उस परमानन्द को प्राप्त करने की इच्छा आब्रह्मस्तम्ब तक सभी में पूर्ण रूप से मौजूद है। आनन्दस्वरूप ब्रह्म सभी के हृदय के भीतर है। तू भी वही पूर्ण ब्रह्म है। इसी मुहूर्त में ठीक ठीक सोचने पर उस बात की अनुभूति होती है। केवल अनुभूति की ही कमी है। तू जो नौकरी करके स्त्री-पुत्रों के लिए इतना परिश्रम कर रहा है उसका भी उद्देश्य उस सच्चिदानन्द की प्राप्ति ही है। इस मोह के दांवपेंच में पड़कर, मार खा-खाकर धीरे धीरे अपने स्वरूप

पर दृष्टि पड़ेगी। वासना है, इसलिए मार खा रहा है और आगे भी खायगा। बस, इसी प्रकार मार खा-खाकर अपनी ओर दृष्टि पड़ेगी। प्रत्येक व्यक्ति की किसी न किसी समय अवश्य ही पड़ेगी। अन्तर इतना ही है कि किसी की इसी जन्म में और किसी की लाखों जन्मों के बाद पड़ती है।

शिष्य—महाराज, यह ज्ञान आपका आशीर्वाद और श्रीरामकृष्ण की कृपा हुए बिना कभी भी नहीं होगा।

स्वामीजी—श्रीरामकृष्ण की कृपारूपी हवा तो बह ही रही है, तू पाल उठा दे न। जब जो कुछ कर, खूब दिल से कर। दिन-रात सोच 'मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ—मुझे फिर भयचिन्ता क्या है? यह देह, मन, बुद्धि सभी क्षणिक हैं, इसके परे जो कुछ है वही मैं हूँ।'

शिष्य—महाराज, न जाने क्या बात है, यह भाव क्षण भर के लिए आकर फिर उसी समय उड़ जाता है, और फिर उसी व्यर्थ के संसार का चिन्तन करने लगता हूँ।

स्वामीजी—ऐसा पहलेपहल हुआ करता है। पर धीरे धीरे सब सुधर जायगा। परन्तु ध्यान रखना कि सफलता के लिए मन की बहुत तीव्रता और एकान्तिक इच्छा चाहिए। तू सदा सोचा कर कि 'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव हूँ। क्या मैं कभी अनुचित काम कर सकता हूँ? क्या मैं मामूली काम-कांचन के लोभ में पड़कर साधारण जीवों की तरह मुग्ध बन सकता हूँ?' इस प्रकार धीरे धीरे मन में बल आयगा। तभी तो पूर्ण कल्याण होगा।

शिष्य—महाराज, कभी कभी मन में बहुत बल आ जाता है। पर फिर सोचने लगता हूँ, डिप्टी मैजिस्ट्रेट की नौकरी के लिए परीक्षा दूँ—धन आयगा, मान होगा, बड़े आनन्द में रहूँगा।

स्वामीजी––मन में जब ऐसी बातें आयें तब विचार में लग जाया कर। तूने तो वेदान्त पढ़ा है?––सोते समय भी विचार रूपी तलवार सिरहाने रखकर सोया कर, ताकि स्वप्न में भी लोभ सामने न बढ़ सके। इसी प्रकार जबरदस्ती वासना का त्याग करते करते धीरे धीरे यथार्थ वैराग्य आयगा––तब देखेगा, स्वर्ग का दरवाजा खुल गया है।

शिष्य––अच्छा महाराज, भक्तिशास्त्र में जो कहा है कि अधिक वैराग्य होने पर भाव नहीं रहता; क्या यह सत्य है?

स्वामीजी––अरे फेंक दे तेरा वह भक्तिशास्त्र, जिसमें ऐसी बात है। वैराग्य, विषय-वितृष्णा न होने पर तथा काक-विष्ठा की तरह कामिनी-कांचन का त्याग किये बिना 'न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि,' ब्रह्मा के करोड़ों कल्पों में भी जीव की मुक्ति नहीं हो सकती। जप, ध्यान, पूजा, हवन, तपस्या––केवल तीव्र वैराग्य लाने के लिए हैं। जिसने वह नहीं किया, उसका हाल तो वैसा ही है जैसा नाव बाँधकर पतवार चलानेवाले का––'न धनेन न चेज्यया त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः'।

शिष्य––अच्छा महाराज, क्या काम-कांचन त्याग देने से ही सब कुछ होता है?

स्वामीजी––उन दोनों को त्यागने के बाद भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। जैसे उनके बाद आती है––लोकप्रसिद्धि! उसे ऐसा वैसा आदमी सम्भाल नहीं सकता। लोग मान देते रहते हैं, नाना प्रकार के भोग आकर जुटते हैं। इसी में त्यागियों में से भी बारह आना लोग फँस जाते हैं। यह जो मठ आदि बनवा रहा हूँ, और दूसरों के लिए नाना प्रकार के काम कर रहा हूँ उससे प्रशंसा हो रही है। कौन जाने मुझे ही फिर इस जगत् में लौटकर आना पड़े!

शिष्य---महाराज, आप ही ऐसी बातें कर रहे हैं तो फिर हम कहाँ जायँ ?

स्वामीजी---संसार में है इसमें भय क्या है ? 'अभीः अभीः अभीः'---भय का त्याग कर ! नाग महाशय को देखा है न ? वे संसार में रहकर भी संन्यासी से बढ़कर हैं। ऐसे व्यक्ति अधिक देखने में नहीं आते। गृहस्थ यदि कोई हो तो नाग महाशय की तरह हो। नाग महाशय समस्त पूर्व बंग को आलोकित किये हुए हैं। उस देश के लोगों से कहना, उनके पास जायें। इससे उन लोगों का कल्याण होगा।

शिष्य---महाराज, आपने बिलकुल ठीक बात कही है। नाग महाशय श्रीरामकृष्ण के लीला-सहचर एवं नम्रता की जीती-जागती मूर्ति प्रतीत होते हैं।

स्वामीजी---यह भी क्या कहने की बात है ? मैं एक बार उनका दर्शन करने जाऊँगा। तू भी चलेगा न ? जल में डूबे हुए बड़े बड़े मैदान देखने की मेरी तीव्र इच्छा है। मैं जाऊँगा, देखूँगा। तू उन्हें लिख दे।

शिष्य---मैं लिख दूँगा। आपके देवभोग जाने की बात सुनकर वे आनन्द से पागल हो जायँगे। बहुत दिन पहले आपके एक बार जाने की बात चली थी, उस पर उन्होंने कहा था, 'पूर्व बंग आपके चरणों की धूलि से तीर्थ बन जायगा।'

स्वामीजी---जानता तो है, नाग महाशय को श्रीरामकृष्ण 'जलती हुई आग' कहा करते थे।

शिष्य---जी हाँ, सुना है।

स्वामीजी---अच्छा, अब रात अधिक हो गयी है। आ, कुछ खा ले, फिर जा।

शिष्य—जो आज्ञा ।

इसके बाद कुछ प्रसाद पाकर शिष्य कलकत्ता जाते जाते सोचने लगा, स्वामीजी अद्भुत पुरुष हैं। मानो साक्षात् ज्ञानमूर्ति आचार्य शंकर ! !

परिच्छेद २५

स्थान—बेलुड़ मठ (निर्माण के समय)

विषय—शुद्ध ज्ञान व शुद्ध भक्ति एक हैं—पूर्णप्रज्ञ न होने पर प्रेम की अनुभूति असम्भव है—यथार्थ ज्ञान और भक्ति जब तक प्राप्त न हों, तभी तक विवाद है—धर्मराज्य में वर्तमान भारत में किस प्रकार धर्म का अनुष्ठान करना उचित है—श्रीरामचन्द्र, महावीर तथा गीताकार श्रीकृष्ण की पूजा का प्रचलन करना आवश्यक है—अवतारी महापुरुषों के आविर्भाव का कारण और श्रीरामकृष्णदेव का माहात्म्य।

शिष्य—स्वामीजी, ज्ञान और भक्ति का मेल किस प्रकार हो सकता है। देखता हूँ, भक्ति मार्ग का अवलम्बन करनेवाले तो आचार्य शंकर का नाम सुनते ही कानों में उंगली दे देते हैं, और उधर ज्ञानपन्थी लोग भक्तों का आकुल क्रन्दन, उल्लास व नृत्यगीत आदि देखकर कहते हैं, वे एक प्रकार के पागल हैं।

स्वामीजी—बात क्या है, जानता है? गौण ज्ञान और गौण भक्ति लेकर ही विवाद उपस्थित होता है। श्रीरामकृष्ण की भूत-बन्दर की कहानी * तो सुनी है न?

शिष्य—जी हाँ!

स्वामीजी—परन्तु मुख्य भक्ति और मुख्य ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। मुख्य भक्ति का अर्थ है—भगवान की प्रेम के रूप में

---

* शिव और राम में युद्ध हुआ था। यहाँ पर राम के गुरु हैं शिव और शिव के गुरु हैं राम; अतः युद्ध के बाद दोनों में मेल भी हुआ। परन्तु शिव के चेले भूत-प्रेत तथा राम के चेले बन्दरों का आपस का झगड़ा-झंझट उस दिन से लेकर आज तक न मिटा।

उपलब्धि करना। यदि तू सर्वत्र सभी के बीच में भगवान की प्रेममूर्ति का दर्शन करता है तो फिर हिंसा-द्वेष किससे करेगा ? वह प्रेमानुभूति जरा सी वासना के रहते—जिसे श्रीरामकृष्ण काम-कांचन के प्रति आसक्ति कहा करते थे—प्राप्त नहीं हो सकती। सम्पूर्ण प्रेमानुभूति में देहबुद्धि तक नहीं रहती। और मुख्य ज्ञान का अर्थ है सर्वत्र एकत्व की अनुभूति, आत्मस्वरूप का सर्वत्र दर्शन, पर वह जरा सी भी अहंबुद्धि के रहते प्राप्त नहीं हो सकता।

शिष्य—तो क्या आप जिसे प्रेम कहते हैं वही परम ज्ञान है ?

स्वामीजी—नहीं तो क्या ? पूर्णप्रज्ञ न होने पर किसी को प्रेमानुभूति नहीं होती। देखता है न, वेदान्तशास्त्र में ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा है। उस सच्चिदानन्द शब्द का अर्थ है—सत् यानी अस्तित्व, चित् अर्थात् चैतन्य या ज्ञान और आनन्द अर्थात् प्रेम। भगवान के 'सत्' भाव के विषय में भक्त व ज्ञानी के बीच में कोई विवाद नहीं है। परन्तु ज्ञानमार्गी ब्रह्म के चित् या चैतन्य सत्ता पर ही सदा अधिक जोर देते हैं और भक्तगण सदा 'आनन्द' सत्ता पर दृष्टि रखते हैं। परन्तु 'चित्' स्वरूप की अनुभूति होने के साथ ही आनन्दस्वरूप की भी उपलब्धि हो जाती है क्योंकि जो चित् है, वही आनन्द है।

शिष्य—तो फिर भारतवर्ष में इतना साम्प्रदायिक भाव प्रबल क्यों है और ज्ञान तथा भक्तिशास्त्रों में भी इतना विरोध क्यों है ?

स्वामीजी—देख, गौणभाव लेकर अर्थात् जिन भावों को पकड़कर मनुष्य यथार्थ ज्ञान अथवा यथार्थ भक्ति को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होते हैं उन्हीं पर सारी मारपीट होते देखी जाती है। तेरी क्या राय है ? उद्देश्य बड़ा है या उपाय बड़े हैं ? निश्चय है कि उद्देश्य से उपाय कभी बड़ा नहीं बन सकता। क्योंकि,

अधिकारियों की भिन्नता से एक ही उद्देश्य की प्राप्ति अनेक उपायों से होती है। तू यह जो देख रहा है कि जप-ध्यान, पूजा-होम आदि धर्म के अंग हैं, सो ये सभी उपाय हैं और पराभक्ति अथवा परब्रह्म स्वरूप का दर्शन ही मुख्य उद्देश्य है। अतः जरा गौर से देखने पर ही समझ सकेगा कि विवाद किस पर हो रहा है। एक व्यक्ति कह रहा है कि पूर्व की ओर मुँह करके बैठकर पुकारने से ईश्वर प्राप्त होता है; और एक व्यक्ति कहता है, 'नहीं, पश्चिम की ओर मुँह करके बैठना होगा।' सम्भव है किसी व्यक्ति ने वर्षों पहले पूर्व की ओर मुँह करके बैठकर ध्यान-भजन करके ईश्वर-लाभ किया हो, तो उसके अनुयायी यह देखकर उसी समय से उस मत का प्रचार करते हुए कहने लगे, पूर्व की ओर मुँह करके बैठे बिना ईश्वर-प्राप्ति नहीं हो सकती; और एक दल ने कहा, 'यह कैसी बात है? हमने तो सुना है, पश्चिम की ओर मुँह करके बैठकर अमुक ने ईश्वर को प्राप्त किया है?'—दूसरा बोला, 'हम तुम्हारा वह मत नहीं मानते।' बस, इसी प्रकार दलबन्दी का जन्म हो गया। इसी प्रकार एक व्यक्ति ने, सम्भव है, हरिनाम का जप करके पराभक्ति को प्राप्त किया हो; उसी समय शास्त्र बन गया, 'नास्त्येव गतिरन्यथा'। फिर कोई अल्लाह कहकर सिद्ध हुए और उसी समय उनका एक दूसरा अलग मत चलने लगा। हमें अब देखना होगा, इन सब जप, पूजा आदि की जड़ कहाँ है? यह जड़ है श्रद्धा। संस्कृत भाषा के 'श्रद्धा' शब्द को समझाने योग्य कोई शब्द हमारी भाषा में नहीं है। उपनिषद् में बतलाया है, यही श्रद्धा नचिकेता के हृदय में प्रविष्ट हुई थी। 'एकाग्रता' शब्द द्वारा भी 'श्रद्धा' शब्द का समस्त भाव प्रकट नहीं होता। मेरे मत से संस्कृत 'श्रद्धा' शब्द का निकटतम अर्थ 'एकाग्रनिष्ठा'

शब्द द्वारा व्यक्त हो सकता है। निष्ठा के साथ एकाग्र मन से किसी भी तत्त्व का चिन्तन करते रहने पर तू देखेगा कि मन की गति धीरे धीरे एकत्व की ओर चली है अथवा सच्चिदानन्द स्वरूप की अनुभूति की ओर जा रही है। भक्ति और ज्ञानशास्त्र दोनों ही उसी प्रकार एक एक निष्ठा को जीवन में लाने के लिए मनुष्य को विशद रूप से उपदेश कर रहे हैं। युगपरम्परा से विकृत भाव धारण करके वे ही सब महान् सत्य धीरे धीरे देशाचार में परिणत हुए हैं। केवल तुम्हारे भारतवर्ष में ही ऐसा नहीं हुआ है—पृथ्वी की सभी जातियों में और सभी समाजों में ऐसा हुआ है। विचारविहीन साधारण जीव, उन बातों को लेकर उसी समय से आपस में लड़कर मर रहे हैं। जड़ को भूल गये इसीलिए तो इतनी मारकाट हो रही है।

शिष्य—महाराज, तो अब उपाय क्या है ?

स्वामीजी—पहले जैसी यथार्थ श्रद्धा लानी होगी। व्यर्थ की बातों को जड़ से निकाल डालना होगा। सभी मतों में, सभी पन्थों में देश-काल से परे के सत्य अवश्य पाये जाते हैं; परन्तु उन पर मैल जम गया है। उन्हें साफ करके यथार्थ तत्त्वों को लोगों के सामने रखना होगा, तभी तुम्हारे धर्म और देश का भला होगा।

शिष्य—ऐसा किस प्रकार करना होगा ?

स्वामीजी—पहलेपहल महापुरुषों की पूजा चलानी होगी। जो लोग उन सब सनातन तत्त्वों को प्रत्यक्ष कर गये हैं, उन्हें लोगों के सामने आदर्श या इष्ट के रूप में खड़ा करना होगा, जैसे भारतवर्ष में श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, महावीर तथा श्रीरामकृष्ण। देश में श्रीरामचन्द्र और महावीर की पूजा चला दे तो देखूं ?

वृन्दावनलीला-फीला अब रख दे। गीता रूपी सिंहनाद करने वाले श्रीकृष्ण की पूजा चला दे; शक्ति की पूजा चला दे!

शिष्य—क्यों, वृन्दावनलीला क्या बुरी है?

स्वामीजी—इस समय श्रीकृष्ण की उस प्रकार की पूजा से तुम्हारे देश का कल्याण न होगा। बंसी बजाकर अब देश का कल्याण न होगा। अब चाहिए महान् त्याग, महान् निष्ठा, महान् धैर्य और स्वार्थगन्धशून्य शुद्ध बुद्धि की सहायता से महान् उद्यम प्रकट करके सभी बातें ठीक ठीक जानने के लिए कमर कसकर लग जाना।

शिष्य—महाराज, तो क्या आपकी राय में वृन्दावनलीला सत्य नहीं है?

स्वामीजी—यह कौन कहता है। उस लीला की यथार्थ धारणा तथा उपलब्धि करने के लिए बहुत उच्च साधना की आवश्यकता है। इस घोर कामकांचनासक्ति के युग में उस लीला के उच्च भाव की धारणा कोई नहीं कर सकेगा।

शिष्य—महाराज, तो क्या आप कहना चाहते हैं कि जो लोग मधुर, सख्य आदि भावों का अवलम्बन कर इस समय साधना कर रहे हैं, उनमें से कोई भी यथार्थ पथ पर नहीं जा रहा है?

स्वामीजी—मुझे तो ऐसा ही लगता है—विशेष रूप से वे जो मधुर भाव के साधक बताकर अपना परिचय देते हैं उनमें दो एक को छोड़कर बाकी सभी घोर तमोभावापन्न हैं—अस्वाभाविक मानसिक दुर्बलता से पूर्ण हैं। इसीलिए कह रहा हूँ कि अब देश को उठाने के लिए महावीर की पूजा चलानी होगी, शक्ति की पूजा चलानी होगी, श्रीरामचन्द्र की पूजा घर घर में करनी होगी। तभी तुम्हारा और देश का कल्याण होगा, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

शिष्य—परन्तु महाराज, सुना है श्रीरामकृष्णदेव तो सभी को लेकर संकीर्तन में विशेष आनन्द करते थे?

स्वामीजी—उनकी बात अलग है। उनके साथ क्या मनुष्य की तुलना हो सकती है? उन्होंने सभी मतों के अनुसार साधना करके देखा है—सभी मत एक ही तत्त्व में पहुँचा देते हैं। उन्होंने जो कुछ किया है, वह क्या तू या मैं कर सकता हूँ? वे कौन थे, और कितने बड़े थे, यह हम कोई भी अभी तक समझ नहीं सके। इसीलिए मैं उनकी बात जहाँ-तहाँ नहीं कहता हूँ। वे क्या थे यह वे ही जानते थे; उनकी देह ही केवल मनुष्य की थी, आचरण में तो उन्हें देवत्व प्राप्त था।

शिष्य—अच्छा महाराज, क्या आप उन्हें अवतार मानते हैं?

स्वामीजी—पहले यह बता कि तेरे 'अवतार' शब्द का अर्थ क्या है।

शिष्य—क्यों? जैसे श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीगौरांग, बुद्ध आदि पुरुष।

स्वामीजी—तूने जिनका नाम लिया, मैं श्रीरामकृष्ण को उन सब से बड़ा मानता हूँ—मानना तो छोटी बात है—जानता हूँ। रहने दे अब इस बात को, अब इतना ही सुन ले—समय और समाज के अनुसार जो एक एक महापुरुष धर्म का उद्धार करने आते हैं उन्हें महापुरुष कह, या अवतार कह, इसमें कुछ भी अन्तर नहीं होता। वे संसार में आकर जीवों को अपना जीवन संगठित करने का आदर्श बता जाते हैं। जो जिस समय आते हैं, उस समय उन्हीं के आदर्श पर सब कुछ होता है, मनुष्य बनते हैं और सम्प्रदाय चलते रहते हैं। समय पर वे सब सम्प्रदाय विकृत हो जाने पर फिर वैसे ही अन्य संस्कारक आते हैं, यह नियम प्रवाह के रूप

में चला आ रहा है।

शिष्य—महाराज, तो आप श्रीरामकृष्ण को अवतार कहकर घोषित क्यों नहीं करते? आप में तो शक्ति—भाषणशक्ति काफी है।

स्वामीजी—इसका कारण, उनके सम्बन्ध में मेरी अल्पज्ञता है। मुझे वे इतने बड़े लगते हैं कि उनके सम्बन्ध में कुछ भी कहने में मुझे भय है कि कहीं सत्य का विपर्यास न हो जाय, कहीं मैं अपनी इस अल्पशक्ति के अनुसार उन्हें बड़ा करने के यत्न में उनका चित्र अपने ढाँचे में खींचकर उन्हें छोटा ही न कर डालूँ।

शिष्य—परन्तु आजकल अनेक लोग तो उन्हें अवतार बताकर ही प्रचार कर रहे हैं।

स्वामीजी—करें। जो जैसा समझ रहा है, वह वैसा कर रहा है। तेरा वैसा विश्वास हो तो तू भी कर।

शिष्य—मैं आप ही को अच्छी तरह समझ नहीं सकता, फिर श्रीरामकृष्ण की तो बात दूर रही। ऐसा लगता है कि आपकी कृपा का कण पाने से ही मैं इस जन्म में धन्य हो जाऊँगा।

आज यहीं पर वार्तालाप समाप्त हुआ और शिष्य स्वामीजी की पदधूलि लेकर घर लौटा।

परिच्छेद २६

स्थान—बेलुड़ मठ (निर्माण के समय)

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—धर्म प्राप्त करना हो तो गृहस्थ व संन्यासी दोनों के लिए काम-कांचन के प्रति आसक्ति का त्याग करना एक जैसा ही आवश्यक है—कृपासिद्ध किसे कहते हैं—देश-काल निमित्त से परे जो राज्य है उसमें कौन किस पर कृपा करेगा ?

शिष्य—महाराज, श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, कामिनी-कांचन का त्याग न करने पर कोई भी धर्मपथ में अग्रसर नहीं हो सकता। तो फिर जो लोग गृहस्थ हैं, उनके उद्धार का क्या उपाय है ? उन्हें तो दिनरात उन दोनों को ही लेकर व्यस्त रहना पड़ता है।

स्वामीजी—काम-कांचन की आसक्ति न जाने पर, ईश्वर में मन नहीं लगता—वह चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी ! इन दो चीजों में जब तक मन है, तब तक ठीक ठीक अनुराग, निष्ठा या श्रद्धा कभी उत्पन्न नहीं होगी।

शिष्य—तो क्या फिर गृहस्थों के उद्धार का उपाय है ?

स्वामीजी—हाँ, उपाय है, क्यों नहीं ? छोटी छोटी वासनाओं को पूर्ण कर लेना और बड़ी बड़ी का विवेक से त्याग कर देना। त्याग के बिना ईश्वर की प्राप्ति न होगी—'यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत्'—वेदकर्ता ब्रह्मा यदि स्वयं ऐसा कहें, फिर भी न होगा।

शिष्य—अच्छा महाराज, संन्यास लेने से ही क्या विषय-त्याग होता है ?

स्वामीजी—नहीं, परन्तु संन्यासी लोग काम-कांचन को सम्पूर्ण

रूप से छोड़ने के लिए तैयार हो रहे हैं, यत्न कर रहे हैं, परन्तु गृहस्थ तो नाव को बाँधकर पतवार चला रहे हैं—यही अन्तर है। भोग की आकांक्षा क्या कभी मिटती है रे? 'भूय एवाभिवर्धते'—दिनोंदिन बढ़ती ही रहती है।

शिष्य—क्यों? भोग करते करते तंग आने पर अन्त में तो वितृष्णा आ सकती है।

स्वामीजी—धत् छोकरे, कितनों को आती देखी है? लगातार विषयभोग करते रहने पर मन में उन सब विषयों की छाप पड़ जाती है—दाग लग जाता है—मन विषय के रंग में रंग जाता है। त्याग, त्याग—यही है मूलमन्त्र।

शिष्य—क्यों महाराज, ऋषिवाक्य तो है—'गृहेषु पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः,' 'निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्।' गृहस्थाश्रम में रहकर इन्द्रियों को विषयों से अर्थात् रूपरस आदि भोगों से विमुख रखने को ही तपस्या कहते हैं; विषयानुराग दूर होने पर गृह ही तपोवन बन जाता है।

स्वामीजी—गृह में रहकर जो लोग काम-कांचन का त्याग कर सकते हैं वे धन्य हैं, परन्तु यह कितने कर सकते हैं?

शिष्य—परन्तु महाराज, आपने तो थोड़ी ही देर पहले कहा था कि संन्यासियों में भी अधिकांशों का सम्पूर्ण रूप से कामकांचन का त्याग नहीं हुआ है?

स्वामीजी—हाँ, कहा है; परन्तु यह भी कहा है कि वे त्याग के पथ पर चल रहे हैं, वे काम-कांचन के विरुद्ध युद्धक्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं। गृहस्थों को अभी तक यह धारणा ही नहीं हुई है कि काम-कांचनासक्ति एक विपत्ति है। उनकी आत्मोन्नति के लिए चेष्टा ही नहीं हो रही है। उसके विरुद्ध जो युद्ध करना

होगा, यह चिन्ता ही अभी तक उन्हें नहीं हुई है।

शिष्य—क्यों महाराज, उनमें से भी तो अनेक व्यक्ति उस आसक्ति का त्याग करने की चेष्टा कर रहे हैं।

स्वामीजी—जो लोग कर रहे हैं, वे अवश्य ही धीरे धीरे त्यागी बनेंगे; उनकी भी धीरे धीरे काम-कांचन के प्रति आसक्ति कम हो जायगी। परन्तु बात यह है,—'जाता हूँ, जाऊँगा,' 'होता है, होगा,' जो लोग इस प्रकार चल रहे हैं उनका आत्मदर्शन अभी बहुत दूर है। परन्तु 'अभी भगवान को प्राप्त करूँगा, इसी जन्म में करूँगा'—यह है वीर की बात। ऐसे व्यक्ति सर्वस्व त्याग देने को तैयार होते हैं; शास्त्र में उन्हीं के सम्बन्ध में कहा है—'यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजेत्'—जिस क्षण वैराग्य उत्पन्न हो जायगा उसी क्षण वे संसार का त्याग कर देंगे।

शिष्य—परन्तु महाराज, श्रीरामकृष्ण तो कहा करते थे, ईश्वर-कृपा होने पर, उन्हें पुकारने पर वे इन सब आसक्तियों को एक पल में मिटा देते हैं।

स्वामीजी—हाँ, उनकी कृपा होने पर ऐसा अवश्य होता है, परन्तु उनकी कृपा प्राप्त करनी हो तो पहले शुद्ध, पवित्र बन जाना चाहिए; कायमनोवाक्य से पवित्र होना चाहिए; तभी उनकी कृपा होती है।

शिष्य—परन्तु कायमनोवाक्य से यदि संयम कर सके, तो फिर कृपा की आवश्यकता ही क्या है? तब तो फिर स्वयं अपनी ही चेष्टा से आत्मोन्नति की हुई समझी जायगी।

स्वामीजी—तुझे प्राणपण से चेष्टा करते देखकर ही वे कृपा करेंगे। उद्यम या प्रयत्न न करके बैठे रहो तो कभी कृपा न होगी।

शिष्य—सम्भव है अच्छा बनने की इच्छा सभी की है; परन्तु

पता नहीं कि किस दुर्ज्ञेय सूत्र से मन निम्नगामी बन जाता है; सभी लोग क्या यह नहीं चाहते हैं कि 'मैं सत् बनूँगा, अच्छा बनूँगा, ईश्वर को प्राप्त करूँगा ?'

स्वामीजी—जिनके मन में उस प्रकार की इच्छा हुई है, याद रखना उन्हीं में वैसे बनने की चेष्टा आयी है और वह चेष्टा करते करते ही ईश्वर की दया होती है।

शिष्य—परन्तु महाराज, अनेक अवतारों में तो यह भी देखा जाता है कि जिन्हें हम अत्यन्त पापी, व्यभिचारी आदि समझते हैं, वे भी साधन-भजन किये बिना ही, उनकी कृपा से ईश्वर को प्राप्त करने में समर्थ हुए थे—इसका क्या कारण है ?

स्वामीजी—याद रखना, उनके मन में अत्यन्त अशान्ति आयी थी, भोग करते करते वितृष्णा आ गयी थी, अशान्ति से उनका हृदय जल रहा था; वे हृदय में इतनी कमी अनुभव कर रहे थे कि यदि उन्हें कुछ शान्ति न मिलती तो उनकी देह छूट जाती। इसीलिए भगवान की दया हुई थी। वे सब लोग तमोगुण में से होकर धर्मपथ में उठे थे।

शिष्य—तमोगुण हो या और जो भी कुछ हो, परन्तु उस भाव में भी तो उनको ईश्वरप्राप्ति हुई थी ?

स्वामीजी—क्यों न होगी ? परन्तु पाखाने के दरवाजे से प्रवेश न करके सामनेवाले दरवाजे में से होकर मकान में प्रवेश क्या अच्छा नहीं है ?—और उस पथ में भी तो इस प्रकार की एक परेशानी और चेष्टा है ही कि मन की इस अशान्ति को कैसे दूर करूँ।

शिष्य—यह ठीक है, परन्तु मैं समझता हूँ कि जो लोग इन्द्रिय आदि का दमन अथवा काम-कांचन का त्याग करके ईश्वर को

प्राप्त करने के लिए सचेष्ट हैं, वे प्रयत्नवादी तथा स्वावलम्बी हैं; और जो लोग केवल उनके नाम मात्र पर विश्वास कर निर्भर रहते हैं, भगवान समय पर काम-कांचन के प्रति उनकी आसक्ति को दूर करके अन्त में परम पद दे ही देते हैं।

स्वामीजी—हाँ, परन्तु ऐसे लोग बहुत ही कम हैं; सिद्ध होने के बाद लोग उन्हें ही कृपासिद्ध कहते हैं। परन्तु ज्ञानी और भक्त दोनों के मत में त्याग ही मूलमन्त्र है।

शिष्य—इसमें फिर सन्देह क्या है! श्रीगिरीशचन्द्र घोष महाशय ने एक दिन मुझसे कहा था कि, "कृपा का कोई नियम नहीं है। यदि है तो उसे कृपा नहीं कहा जा सकता। वहाँ पर सभी गैरकानूनी कारवाइयाँ हो सकती हैं।"

स्वामीजी—ऐसा नहीं है रे, ऐसा नहीं है; घोष महाशय ने जिस स्थिति की बात कही है, वहाँ पर भी कोई अज्ञात कानून या नियम अवश्य है। गैर-कानूनी कारवाई है अन्तिम बात—देश-काल-निमित्त के परे के स्थान की बात; वहाँ पर कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है, इसीलिए वहाँ पर कौन किस पर कृपा करेगा?—वहाँ पर सेव्य-सेवक, ध्याता-ध्येय, ज्ञाता-ज्ञेय सब एक हो जाते हैं—सभी समरस।

शिष्य—तो फिर अब आज्ञा दीजिये। आपकी बात सुनकर आज वेद-वेदान्त का सार समझ गया। इतने दिन तो केवल बातों का आडम्बर मात्र हो रहा था।

स्वामीजी की पदधूलि लेकर शिष्य कलकत्ते की ओर अग्रसर हुआ।

परिच्छेद २७

स्थान—बेलुड़ मठ (निर्माण के समय)

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—खाद्याखाद्य का विचार कैसे करना होगा—मांसाहार किसे करना उचित है—भारत के वर्णाश्रम धर्म की किस रूप में फिर से उद्धार होने की आवश्यकता है।

शिष्य—स्वामीजी, क्या खाद्य-अखाद्य के साथ धर्माचरण का कुछ सम्बन्ध है ?

स्वामीजी—थोड़ा बहुत अवश्य है।

शिष्य—मछली तथा माँस खाना क्या उचित तथा आवश्यक है ?

स्वामीजी—खूब खाओ भाई, इससे जो पाप होगा वह मेरा।* तुम अपने देश के लोगों की ओर एक बार ध्यान से देखो तो, मुँह पर मलीनता की छाया—छाती में न साहस, न उल्लास—पेट बड़ा, हाथ-पैरों में शक्ति नहीं—डरपोक और कायर !

---

* स्वामीजी के इस प्रकार के उत्तर से कोई ऐसा न सोचे कि वे मांस खाने में अधिकारी का विचार न करते थे। उनके योम सम्बन्धी दूसरे ग्रन्थों में उन्होंने भोजन के सम्बन्ध में यही साधारण नियम बताया है कि दुष्पाच्य होने के कारण जिससे अजीर्ण आदि रोगों की उत्पत्ति होती है अथवा वैसा न होने पर भी जिससे शरीर की उष्णता में अकारण वृद्धि होकर इन्द्रिय व मन में चंचलता उत्पन्न होती है, उसे सर्व प्रकार से त्यागना चाहिए। अत: जो लोग आध्यात्मिक उन्नति चाहते है, उनमें से जिनकी मांस खाने की प्रवृत्ति है, उन्हें स्वामीजी ने पूर्वोक्त दो बातों पर ध्यान रखते हुए मांस खाने का उपदेश किया है। नहीं तो एकदम त्याग देने को कहते थे।

शिष्य—मछली और माँस खाने से यदि उपकार ही होता तो बौद्ध तथा वैष्णव धर्म में अहिंसा को 'परमो धर्मः' क्यों कहा गया है ?

स्वामीजी—बौद्ध तथा वैष्णव धर्म अलग नहीं हैं। बौद्ध धर्म के उच्छेद के समय हिन्दू धर्म ने उनके कुछ नियमों को अपने में मिलाकर अपना लिया था। वही धर्म इस समय भारतवर्ष में वैष्णव धर्म के नाम से विख्यात है।

'अहिंसा परमो धर्मः'—बौद्ध धर्म का एक बहुत अच्छा सिद्धान्त है, परन्तु अधिकारी का विचार न करके जबरदस्ती राज्य की शक्ति के बल पर उस मत को सर्वसाधारण पर लाद कर बौद्ध धर्म देश का सर्वनाश कर गया है। परिणाम यही हुआ कि लोग चींटियों को चीनी देते हैं—पर धन के लिए भाई का भी सर्वनाश कर डालते हैं। इस प्रकार 'बकः परमधार्मिकः'—के अनुसार जीवन व्यतीत करते अनेक देखे जाते हैं। दूसरी ओर देख, वैदिक तथा मनु के धर्म में मछली और माँस खाने का विधान है और साथ ही अहिंसा की बात भी है। अधिकारियों के भेद से हिंसा और अहिंसा धर्मों के पालन करने की व्यवस्था है। श्रुति ने कहा है—'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि,' मनु ने भी कहा है—'निवृत्तिस्तु महाफला।'

अथवा 'मांस खाऊँ या नहीं'—इस प्रश्न का समाधान वे प्रत्येक व्यक्ति को अपने शारीरिक स्वास्थ्य व मानसिक पवित्रता आदि की रक्षा करके स्वयं ही कर लेने के लिए कहते थे। परन्तु भारतवर्ष के साधारण गृहस्थों के बारे में स्वामीजी मांसाहार के पक्षपाती थे। वे कहा करते थे, वर्तमान युग में पाश्चात्य मांसाहारी जातियों के साथ उन्हें जीवनसंग्राम में सब प्रकार से प्रतिद्वन्द्विता करनी होगी, इसलिए मांस खाना उनके लिए इस समय विशेष आवश्यक है।

शिष्य—लेकिन आजकल तो देखा है महाराज, धर्म की ओर जरा आकर्षण होते ही लोग मछली और मांस पहले ही त्याग देते हैं। कई लोगों की दृष्टि में तो व्यभिचार आदि गम्भीर पाप से भी मानो मछली और मांस खाना अधिक पाप है!—यह भाव कहाँ से आया?

स्वामीजी—कहाँ से आया यह जानने से तुझे क्या लाभ? परन्तु वह मत प्रविष्ट होकर जो तुम्हारे समाज तथा देश का सर्वनाश कर रहा है यह तो देख रहा है न? देखो न—तुम्हारे पूर्व बंग के लोग बहुत मछली और मांस खाते हैं, कछुआ खाते हैं, इसीलिए पश्चिम बंग के लोगों की तुलना में अधिक स्वस्थ हैं। पूर्व बंग में तो धनवानों ने भी अभी तक रात को पूड़ी या रोटी खाना नहीं सीखा। इसीलिए तो वे हमारे देश के लोगों की तरह अम्ल रोग के शिकार नहीं बने हैं। सुना है, पूर्व बंग के देहातों में लोग अम्ल रोग जानते ही नहीं।

शिष्य—जी हाँ। हमारे देश में अम्ल रोग नाम का कोई रोग नहीं है। इस देश में आकर उस रोग का नाम सुना है। देश में हम दोनों समय मछली भात खाते हैं।

स्वामीजी—खूब खाया कर। घास-पात खाकर पेट-रोग से पीड़ित बाबाजी लोगों के दल से देश भर गया है। वे सत्त्वगुण के लक्षण नहीं हैं। महा तमोगुण की छाया है—मृत्यु की छाया है। सत्त्वगुण के लक्षण हैं—मुखमण्डल पर चमक—हृदय में अदम्य उत्साह, अतुल चपलता; और तमोगुण के लक्षण हैं आलस्य-जड़ता-मोह-निद्रा आदि।

शिष्य—परन्तु महाराज, मांस-मछली से तो रजोगुण की वृद्धि होती है।

स्वामीजी--मैं तो यही चाहता हूँ। इस समय रजोगुण की ही तो आवश्यकता है। देश के जिन सब लोगों को तू आज सत्त्वगुणी समझ रहा है—उनमें से पन्द्रह आने लोग तो घोर तमोगुणी हैं। एक आना मनुष्य सतोगुण वाले मिले तो बहुत है। अब चाहिए प्रबल रजोगुण की ताण्डव उद्दीपना--देश जो घोर तमसाच्छन्न है, देख नहीं रहा है ? अब देश के लोगों को मछली-मांस खिलाकर उद्यमशील बना डालना होगा, जगाना होगा, कार्यतत्पर बनाना होगा। नहीं तो धीरे धीरे देश के सभी लोग जड़ बन जायेंगे--पेड़ पत्थरों की तरह जड़ बन जायेंगे। इसीलिए कह रहा था, मछली और मांस खूब खाना।

शिष्य--परन्तु महाराज, मन में जब सत्त्वगुण की अत्यन्त स्फूर्ति होती है, तब क्या मछली और मांस खाने की इच्छा रहती है ?

स्वामीजी--नहीं, फिर इच्छा नहीं होती। सत्त्वगुण का जब बहुत विकास होता है तब मछली, मांस में रुचि नहीं रहती। परन्तु सत्त्वगुण के प्रकट होने के ये सब लक्षण समझो : दूसरों के हित के लिए सब प्रकार से यत्न करना, कामिनी-कांचन में सम्पूर्ण अनासक्ति, अभिमानशून्यता, अहंबुद्धिशून्यता आदि सब लक्षण जिसके होते हैं, उसकी फिर मांस खानें की इच्छा नहीं होती। और जहाँ पर देखेगा कि मन में उन सब गुणों का विकास नहीं है, परन्तु अहिंसा के दल में केवल नाम लिखा लिया है—वहाँ पर या तो बगुला-भक्ति है या ऊपरी दिखावा धर्म है। तेरी जिस समय वास्तव में सत्त्वगुण में स्थिति होगी, उस समय तू मांसाहार छोड़ दे।

शिष्य--परन्तु महाराज, छान्दोग्य उपनिषद में तो कहा है, 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'—शुद्ध वस्तु खाने से सत्त्वगुण की वृद्धि

होती है, इत्यादि। अत: सत्त्वगुणी बनने के लिए पहले से ही रज: व तमोगुण को उद्दीपित करने वाले पदार्थों को छोड़ देना ही क्या यहाँ पर श्रुति का अभिप्राय नहीं है ?

स्वामीजी—उस श्रुति का भाष्य करते हुए शंकराचार्यजी ने कहा है—'आहार' यानी इन्द्रियविषय; और श्रीरामानुज ने 'आहार' का अर्थ खाद्य माना है। मेरा मत है कि उन दोनों के मतों में सामंजस्य कर लेना होगा। केवल दिनरात खाद्य और अखाद्य पर वादविवाद करके ही जीवन व्यतीत करना उचित है या वास्तव में इन्द्रियसंयम करना आवश्यक है ? अतएव हमें इन्द्रियसंयम को ही मुख्य उद्देश्य मान लेना होगा; और उस इन्द्रियसंयम के लिए ही भले बुरे खाद्य अखाद्य का थोड़ा-बहुत विचार करना होगा। शास्त्रों ने कहा है, खाद्य तीन प्रकार के दोषों से अपवित्र तथा त्याज्य होता है। १—जातिदोष—जैसे प्याज, लहसुन आदि। २—निमित्तदोष—जैसे हलवाई की दूकान की मिठाई, जिसमें कितनी ही मरी मक्खियाँ तथा रास्ते की धूल उड़कर पड़ी रहती है, आदि। ३—आश्रयदोष—जैसे बुरे व्यक्ति द्वारा छुआ हुआ अन्न आदि। जातिदोष अथवा निमित्तदोष से खाद्य युक्त है या नहीं इस पर सभी समय विशेष दृष्टि रखनी चाहिए; परन्तु इस देश में इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया जाता। केवल शेषोक्त दोष को ही लेकर—जो योगियों के अतिरिक्त शायद दूसरा कोई समझ ही नहीं सकता—देश में व्यर्थ के संघर्ष हो रहे हैं। 'छुओ मत' 'छुओ मत' कह कहकर छूतपन्थियों ने देश को तंग कर डाला है। वहाँ भी भले-बुरे का विचार नहीं है—केवल गले में यज्ञोपवीत धारण कर लेने से ही उसके हाथ का अन्न खाने में छूतधर्मियों को फिर आपत्ति नहीं रहती। खाद्य के आश्रयदोष

पर ध्यान देते एक मात्र श्रीरामकृष्ण को ही देखा है। ऐसी अनेक घटनाएँ हुई हैं जब कि वे किसी किसी व्यक्ति का छुआ हुआ नहीं खा सकते थे। कभी कभी विशेष खोज करने पर जब पता लगाया जाता था तो वास्तव में उस व्यक्ति में कोई न कोई बड़ा दोष अवश्य निकलता था। तुम लोगों का सब धर्म, अन्न भात की हण्डियों में ही रह गया है। दूसरी जाति का छुआ भात न खाने से ही मानो भगवान की प्राप्ति हो गयी। शास्त्र के सब महान् सत्यों को छोड़कर केवल ऊपरी छिलका लेकर ही आजकल संघर्ष चल रहा है।

शिष्य—महाराज, तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि किसी का भी छुआ अन्न हमें खा लेना चाहिए?

स्वामीजी—ऐसा क्यों कहूँगा? मेरा कहना है, तू ब्राह्मण है इसलिए दूसरी जातिवालों का अन्न चाहे न भी खा, पर तू सभी ब्राह्मणों के हाथ का अन्न क्यों नहीं खाता है? मान लो तुम लोग राढ़ी श्रेणी के ब्राह्मण हो, तो वारेन्द्र श्रेणी वाले ब्राह्मणों का अन्न खाने में क्यों आपत्ति होनी चाहिए? और वारेन्द्र ब्राह्मण तुम्हारा अन्न क्यों नहीं खायेंगे? महाराष्ट्रीय, तेलंगी और कन्नौजी ब्राह्मण भी तुम्हारे हाथ का अन्न क्यों नहीं खायेंगे? कलकत्ते में जाति का विचार और भी मजे का है। देखा जाता है, अनेक ब्राह्मण तथा कायस्थ होटलों में भात खा रहे हैं, परन्तु वे ही होटल से बाहर निकलकर समाज के नेता बन रहे हैं, वे ही दूसरों के लिए जाति-विचार तथा अन्न-विचार के नियम बनाते हैं! मैं कहता हूँ, क्या समाज को उन सब पाखंडियों के बनाये नियमों के अनुसार चलना चाहिए? असल में उनकी बातों को छोड़कर सनातन ऋषियों का शासन चलाना होगा—तभी देश का कल्याण

सम्भव है।

शिष्य—तो क्या महाराज, कलकत्ते के आधुनिक समाज में ऋषियों का शासन नहीं चल रहा है ?

स्वामीजी—केवल कलकत्ते में ही क्यों ? मैंने भारतवर्ष में अच्छी तरह से छानबीन करके देखा है, कहीं पर भी ऋषिशासन ठीक ठीक नहीं चल रहा है। केवल लोकाचार, देशाचार और स्त्री-आचार इन्हीं से सभी स्थानों में समाज का शासन चल रहा है। न शास्त्रों का कोई अध्ययन करता है, और न पढ़कर उसके अनुसार समाज को चलाना ही चाहता है ?

शिष्य—तो महाराज, अब हमें क्या करना होगा ?

स्वामीजी—ऋषियों का मत चलाना होगा; मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के मन्त्र से देश को दीक्षित करना होगा। परन्तु समय के अनुसार कुछ कुछ परिवर्तन कर देना होगा। यह देख न, भारत में कहीं भी अब चातुर्वर्ण्य-विभाग दृष्टिगोचर नहीं होता। पहले तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णों में देश के लोगों को विभाजित करना होगा। सब ब्राह्मणों को एक करके ब्राह्मणों की एक जाति संगठित करनी होगी। इसी प्रकार सब क्षत्रिय, सब वैश्य तथा सब शूद्रों को लेकर अन्य तीन जातियाँ बनाकर सभी जातियों को वैदिक प्रणाली में लाना होगा। नहीं तो केवल 'तुम्हें छुऊँगा नहीं' कहने से ही क्या देश का कल्याण होगा ? कभी नहीं।

परिच्छेद २८

स्थल—बेलुड़ मठ (निर्माण के समय)

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—भारत की बुरी दशा का कारण—उसे दूर करने का उपाय—वैदिक ढाँचे में देश को फिर से ढालना और मनु, याज्ञवल्क्य आदि जैसे मनुष्यों को तैयार करना।

शिष्य—स्वामीजी, आजकल हमारे समाज और देश की इतनी बुरी दशा क्यों हो रही है?

स्वामीजी—तुम्हीं लोग इसके लिए जिम्मेदार हो।

शिष्य—महाराज, क्यों, किस प्रकार?

स्वामीजी—बहुत दिनों से देश के नीच-जातिवालों से घृणा करते करते अब तुम लोग जगत् में घृणा के पात्र बन गये हो।

शिष्य—हमने कब उनसे घृणा की?

स्वामीजी—क्यों, पुरोहित ब्राह्मणों के दलों ने ही तो वेद-वेदान्त आदि सारयुक्त शास्त्रों को ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य जातिवालों को कभी पढ़ने नहीं दिया—उन्हें स्पर्श भी नहीं किया—उन्हें केवल नीचे दबाकर रखा है—स्वार्थ की दृष्टि से तुम्हीं लोग तो चिरकाल से ऐसा करते आ रहे हो। ब्राह्मणों ने ही तो धर्मशास्त्रों पर एकाधिकार जमाकर विधि-निषेधों को अपने ही हाथ में रखा था और भारतवर्ष की दूसरी जातियों को नीच कहकर उनके मन में विश्वास जमा दिया था कि वे वास्तव में नीच हैं। यदि किसी व्यक्ति को खाते, सोते, उठते, बैठते, हर

समय कोई कहता रहे कि 'तू नीच है' 'तू नीच है' तो कुछ समय के पश्चात् उसकी यही धारणा हो जाती है कि 'मैं वास्तव में नीच हूँ।' अंग्रेजी में इसे कहते हैं हिप्नोटाइज़ करना। ब्राह्मणेतर जातियों का अब धीरे धीरे यह भ्रम मिट रहा है। ब्राह्मणों के तन्त्र मन्त्र में उनका विश्वास कम हो रहा है। प्रबल जलवेग से नदी का किनारा जिस प्रकार टूट जाता है, उसी प्रकार पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार से ब्राह्मणों की करतूतें अब लुप्त हो रही हैं, देख तो रहा है न ?

शिष्य—जी हाँ, छुआछूत आदि का बन्धन आजकल धीरे धीरे ढीला होता जा रहा है।

स्वामीजी—होगा नहीं ? ब्राह्मणों ने धीरे धीरे घोर अनाचार —अत्याचार करना जो प्रारम्भ किया था। स्वार्थ के वशीभूत होकर केवल अपनी प्रभुता को ही कायम रखने के लिए कितने ही विचित्र ढंग के अवैदिक, अनैतिक, युक्तिविरुद्ध मतों को चलाया था, उनका फल भी हाथों हाथ पा रहे हैं।

शिष्य—क्या फल पा रहे हैं महाराज ?

स्वामीजी—क्या फल, देख नहीं रहा है ? तुम लोगों ने जो भारत के अन्य साधारण जातिवालों से घृणा की थी, इसीलिए अब तुम लोगों को हजार वर्षों से दासता सहनी पड़ रही है और तुमलोग अब विदेशियों की घृणा तथा स्वदेशनिवासियों की उपेक्षा के पात्र बने हुए हो।

शिष्य—परन्तु महाराज, अभी तो व्यवस्था आदि ब्राह्मणों के मत से ही चल रही है। गर्भाधान से लेकर सभी कर्मकाण्ड की क्रियाएँ—जैसे ब्राह्मण बता रहे हैं वैसे ही लोग कर रहे हैं, तो फिर आप ऐसा क्यों कह रहे हैं ?

स्वामीजी—कहाँ चल रहा है ? शास्त्रोक्त दशविध संस्कार कहाँ चल रहा है ? मैंने तो सारा भारतवर्ष घूमकर देखा है, सभी स्थानों में श्रुति और स्मृतियों द्वारा निन्दित देशाचारों से समाज का शासन चल रहा है। लोकप्रथा, देशप्रथा और स्त्रीप्रथा ही सर्वत्र स्मृतिशास्त्र बन गये हैं। कौन किसकी वात सुनता है ? धन दे सको तो पण्डितों का दल जैसा चाहो विधि निषेध लिख देने को तैयार है। कितने पुरोहितों ने वैदिक कल्प, गृह्य व श्रौत सूत्रों को पढ़ा है ? उस पर देख, बंगाल में रघुनन्दन का शासन है, और जरा आगे जाकर देखेगा मिताक्षरा का शासन और दूसरी ओर जाकर देख, मनुस्मृति का शासन चल रहा है ! तुम लोग समझते हो, शायद सर्वत्र एक ही मत प्रचलित है ! इसीलिए मैं चाहता हूँ कि वेद के प्रति लोगों का सम्मान बढ़े, सब लोग वेदों की चर्चा करें और इस प्रकार सर्वत्र वेद का शासन फैले।

शिष्य—महाराज, क्या अब ऐसा चलना सम्भव है ?

स्वामीजी—वेद के सभी प्राचीन नियम चाहे न चलें, परन्तु समय के अनुसार काट-छाँट कर नियमों को सजाकर नये सांचे में ढालकर समाज के सामने रखने से वे क्यों नहीं चलेंगे ?

शिष्य—महाराज, मेरा विश्वास था कि कम से कम मनु का शासन भारत में सभी लोग अब मानते हैं।

स्वामीजी—कहाँ मान रहे हैं ? तुम अपने ही देश में देखो न, तन्त्र का वामाचार तुम्हारी नस नस में प्रविष्ट हो गया है, यहाँ तक कि आधुनिक वैष्णव धर्म में भी—जो मृत बौद्ध धर्म के कंकाल का शेष है—घोर वामाचार प्रविष्ट हो गया है। उस अवैदिक वामाचार के प्रभाव को घटाना होगा।

शिष्य—महाराज, क्या अब इस कीचड़ को साफ करना

सम्भव है ?

स्वामीजी—तू क्या कह रहा है ? डरपोक, कापुरुष कहीं का ! असम्भव कह कहकर तुम लोगों ने देश को बर्बाद कर डाला है। मनुष्य की चेष्टा से क्या नहीं हो सकता ?

शिष्य—परन्तु महाराज, देश में मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषिगणों के फिर से पैदा हुए बिना ऐसा होना सम्भव नहीं जान पड़ता।

स्वामीजी—अरे पवित्रता और निःस्वार्थ चेष्टा के लिए ही तो वे मनु, याज्ञवल्क्य बने थे, या और कुछ ? चेष्टा करने पर हम भी तो मनु या याज्ञवल्क्य से बड़े बन सकते हैं, उस समय हमारा मत भी क्यों नहीं चलेगा ?

शिष्य—महाराज, थोड़ी देर पहले आप ही ने तो कहा था कि प्राचीन प्रथा आदि को देश में चलाना होगा। तो फिर मनु आदि को हमारी ही तरह व्यक्ति मानकर उनकी उपेक्षा करने से वह कैसे होगा ?

स्वामीजी—किस बात पर तू किस बात को ला रहा है ? तू मेरी बात ही नहीं समझ रहा है। मैंने सिर्फ कहा है कि प्राचीन वैदिक प्रथाओं को समाज और समय के उपयुक्त बनाकर नये ढाँचे में गढ़कर नवीन रूप में देश में चलाना होगा। ऐसा नहीं है क्या ?

शिष्य—जी हाँ।

स्वामीजी—तो फिर वह क्या कह रहा था ? तुम लोगों ने शास्त्र पढ़ा है, मेरी आशा विश्वास तुम्हीं लोग हो। मेरी बातों को ठीक ठीक समझकर उसी के अनुसार काम में लग जा।

शिष्य—परन्तु महाराज, हमारी बात सुनेगा कौन ? देश के लोग उसे स्वीकार क्यों करने लगे ?

स्वामीजी—यदि तू ठीक ठीक समझा सके और जो कुछ कहे उसे स्वयं करके दिखा सके तो अवश्य ही अन्य लोग भी उसे स्वीकार करेंगे, पर यदि तोते की तरह केवल श्लोक झाड़ता हुआ वाक्पटु बनकर कापुरुष की तरह दूसरों की दुहाई देता रहा और कहे हुए को कार्यरूप में परिणत न कर सका, तो फिर तेरी बात कौन सुनेगा, बोल ?

शिष्य—महाराज, समाज-संस्कार के सम्बन्ध में अब संक्षेप में कुछ उपदेश दीजिये।

स्वामीजी—उपदेश तो तुझे अनेक दिये; कम से कम एक उपदेश को भी तो काम में परिणत कर ले। बड़ा कल्याण हो जायगा। दुनिया भी देखे कि तेरा शास्त्र पढ़ना तथा मेरी बातें सुनना सार्थक हुआ है। यह जो मनु आदि का शास्त्र पढ़ा है तथा और भी जो पढ़ा है उस पर अच्छी तरह सोचकर देख कि उसकी असली जड़ अथवा उद्देश्य क्या है ? उस जड़ को लक्ष्य में रखकर अन्य तत्त्वों का प्राचीन ऋषियों की तरह संग्रह कर और समयोपयोगी मतों को उसमें मिला ले। केवल इतना ध्यान में रखना कि समग्र भारतवर्ष की सभी जातियों तथा सम्प्रदायों के लोगों का ही उन सब नियमों के पालन करने से वास्तव में कल्याण हो। लिख तो वैसी एक स्मृति; मैं देखकर फिर उसका संशोधन कर दूँगा।

शिष्य—महाराज, यह काम सरल नहीं है। परन्तु इस प्रकार की भी स्मृति लिखने पर क्या वह चलेगी ?

स्वामीजी—क्यों नहीं चलेगी ? तू लिख न ! 'कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी'—तूने यदि ठीक ठीक लिखी तो एक न एक दिन चलेगी ही। आत्मविश्वास रख। तुम्हीं लोग तो पूर्व काल में वैदिक ऋषि थे। अब केवल शरीर बदलकर आये हो।

मैं दिव्य चक्षु से देख रहा हूँ, तुम लोगों में अनन्त शक्ति है! उस शक्ति को जगा दे; उठ, उठ, लग जा, कमर कस। क्या होगा, दो दिन का धन-मान लेकर? मेरा भाव जानता है?—मैं मुक्ति आदि नहीं चाहता हूँ। मेरा काम है—तुम लोगों में इन्हीं भावों को जगा देना। एक मनुष्य तैयार करने में लाख जन्म भी लेने पड़े, तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ।

शिष्य—परन्तु महाराज, उस प्रकार काम में लगकर भी क्या होगा? मृत्यु तो पीछे लगी ही है।

स्वामीजी—धत् छोकरा, मरना हो तो एक ही बार मर जा! कापुरुष की तरह रातदिन मृत्यु की चिन्ता करके बार बार क्यों मरता है?

शिष्य—अच्छा महाराज, मृत्यु की चिन्ता यदि न भी की, फिर भी इस अनित्य संसार में कर्म करके भी क्या लाभ है?

स्वामीजी—अरे मृत्यु जब अवश्यम्भावी है, तो कीट-पतंगों की तरह मरने के बजाय वीर की तरह मरना अच्छा है। इस अनित्य संसार में दो दिन अधिक जीवित रहकर भी क्या लाभ? It is better to wear out than to rust out—जराजीर्ण होकर थोड़ा थोड़ा करके क्षीण होते हुए मरने के बजाय वीर की तरह दूसरों के अल्प कल्याण के लिए लड़कर उसी समय मर जाना क्या अच्छा नहीं है?

शिष्य—जी हाँ! आपको आज मैंने बहुत कष्ट दिया।

स्वामीजी—यथार्थ जिज्ञासु के पास लगातार दो रात तक बोलते रहने से भी मुझे श्रम का बोध नहीं होता। मैं आहार निद्रा आदि छोड़कर लगातार बोल सकता हूँ। चाहूँ तो मैं हिमालय की गुफा में समाधिमग्न होकर बैठा रह सकता हूँ। और देख तो

रहा है, आजकल माँ की इच्छा से मुझे खाने की भी कोई चिन्ता नहीं है। किसी न किसी प्रकार जुट ही जाता है। तो फिर क्यों ऐसा नहीं करता ? इस देश में भी क्यों रह रहा हूँ ? केवल देश की दशा देखकर और परिणाम का चिन्तन करके फिर स्थिर नहीं रह सकता ! समाधि-फमाधि तुच्छ लगती है––'तुच्छं ब्रह्मपदम्' हो जाता है !––तुम लोगों के कल्याण की कामना ही मेरे जीवन का व्रत है। जिस दिन वह व्रत पूर्ण हो जायगा, उसी दिन देह छोड़कर सीधा भाग जाऊँगा।

शिष्य मन्त्रमुग्ध की तरह स्वामीजी की इन सब बातों को सुन कर स्तम्भित हृदय से चुपचाप उनके मुँह की ओर ताकता हुआ कुछ देर तक बैठा रहा। इसके पश्चात् बिदा लेने के उद्देश से भक्ति के साथ उन्हें प्रणाम करके बोला, "महाराज, तो फिर आज आज्ञा दीजिये।"

स्वामीजी––जायगा क्यों रे ? मठ में ही रह जा न ! गृहस्थों में जाने पर मन फिर मलिन हो जायगा। यहाँ पर देख कैसी सुन्दर हवा है, गंगाजी का तट, साधुगण साधनभजन कर रहे हैं, कितनी अच्छी अच्छी बातें हो रही हैं। और कलकत्ते में जाकर फिर वही व्यर्थ की चिन्ता में लग जायगा।

शिष्य आनन्दित होकर बोला, "अच्छा महाराज, तो आज यहीं रहूँगा।"

स्वामीजी––'आज ही' क्यों रे ? सदैव यहीं नहीं रह सकता ? क्या होगा फिर संसार में जाकर ?

स्वामीजी की यह बात सुनकर शिष्य सिर झुकाकर रह गया। मन में एक ही साथ अनेक चिन्ताओं का उदय होने के कारण वह कोई भी उत्तर न दे सका।

परिच्छेद २९

स्थान—बेलुड़ मठ (निर्माण के समय)

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—स्थान, काल आदि की शुद्धता का विचार कब तक—आत्मा के प्रकट होने के विघ्नों को जो विनष्ट करती है वही साधना है—"ब्रह्मज्ञान में कर्म का लवलेश नहीं है," शास्त्रवाक्य का अर्थ—निष्काम कर्म किसे कहते हैं—कर्म के द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं किया जाता है, फिर भी स्वामीजी ने देश के लोगों को कर्म करने के लिए क्यों कहा है?—भारत का भविष्य में कल्याण अवश्य होगा।

इधर स्वामीजी का शरीर बहुत कुछ स्वस्थ है; मठ की नयी जमीन में जो पुराना मकान था उसके कमरों की मरम्मत करके उन्हें रहने योग्य बनाया जा रहा है, परन्तु अभी तक काम पूरा नहीं हुआ। इसके लिए पहले सारी जमीन पर मिट्टी डाल कर उसे समतल बनाया गया है। स्वामीजी आज दिन के तीसरे पहर शिष्य को साथ लेकर मठ की जमीन में घूमने निकले हैं। स्वामीजी के हाथ में एक लम्बा लठ्ठ, बदन पर गेरुए रंग का फलालैन का चोगा, सिर नंगा। शिष्य के साथ बातें करते करते दक्षिण की ओर जाकर फाटक तक पहुँचकर फिर उत्तर की ओर लौट रहे हैं—इसी प्रकार मकान से फाटक तक और फाटक से मकान तक बार बार चहलकदमी कर रहे हैं। दक्षिण की ओर बेलवृक्ष के मूलभाग को पक्का करके बँधवाया गया है; उसी बेलवृक्ष के निकट खड़े होकर स्वामीजी अब धीरे धीरे गाना गाने लगे—

"हे गिरिराज, गणेश मेरे कल्याणकारी हैं" इत्यादि।

गाना गाते गाते शिष्य से बोले, "यहाँ पर कितने ही दण्डी योगी, जटाधारी आयेंगे--समझा? कुछ समय के पश्चात् यहाँ कितने ही साधु संन्यासियों का समागम होगा।" यह कहते कहते वे बिल्ववृक्ष के नीचे बैठ गये और बोले, "बिल्ववृक्ष का तल बहुत ही पवित्र है। यहाँ पर बैठकर ध्यानधारणा करने पर शीघ्र ही उद्दीपना होती है। श्रीरामकृष्ण यह बात कहा करते थे।"

शिष्य---महाराज, जो लोग आत्मा और अनात्मा के विचार में मग्न हैं उनके लिए स्थान-अस्थान, काल-अकाल, शुद्धि-अशुद्धि के विचार की आवश्यकता है क्या?

स्वामीजी---जिनकी आत्मज्ञान में निष्ठा है, उन्हें ये सब विचार करने की आवश्यकता सचमुच नहीं है, परन्तु वह निष्ठा क्या ऐसे ही होती है? कितनी चेष्टा, साधना करनी पड़ती है तब कहीं होती है। इसलिए पहलेपहल एक आध बाह्य अवलम्बन लेकर अपने पैरों पर खड़े होने की चेष्टा करनी होती है और फिर जब आत्मज्ञान में निष्ठा प्राप्त हो जाती है, तब किसी बाह्य अवलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती।

"शास्त्रों में जो नाना प्रकार की साधनाओं का निर्देश है वह सब केवल आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए ही है, परन्तु अधिकारियों की भिन्नता के कारण साधनाएँ भिन्न भिन्न हैं। पर वे सब साधनाएँ भी एक प्रकार का कर्म हैं और जब तक कर्म है, तब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। आत्मप्रकाश के सभी विघ्न शास्त्रोक्त साधना रूपी कर्म द्वारा हटा दिये जाते हैं। कर्म की अपनी प्रत्यक्ष आत्मप्रकाश की शक्ति नहीं है; वह कुछ आवरणों को केवल हटा देता है। उसके बाद आत्मा अपनी प्रभा से स्वयं ही प्रकाशित हो

जाती है, समझा ? इसीलिए तेरे भाष्यकार कह रहे हैं—'ब्रह्म-ज्ञान से कर्म का तनिक भी सम्बन्ध नहीं है।' "

शिष्य——परन्तु महाराज, जब किसी न किसी कर्म के बिना किये आत्मविकास के विघ्न दूर नहीं होते हैं, तो परोक्षरूप में कर्म ही तो ज्ञान का कारण बन जाता है।

स्वामीजी——कार्य-कारण की परम्परा की दृष्टि से पहले वैसा अवश्य प्रतीत होता है। मीमांसाशास्त्र में वैसे ही दृष्टिकोण का अवलम्बन कर कहा गया है——'काम्य कर्म अवश्य ही फल देता है।' परन्तु निर्विशेष आत्मा का दर्शन केवल कर्म द्वारा न हो सकेगा, क्योंकि आत्मज्ञान के इच्छुकों के लिए साधना आदि कर्म करने का विधान तो है, परन्तु उसके परिणाम के सम्बन्ध में उदासीन रहना आवश्यक है। इससे स्पष्ट है, वे सब साधनाएँ आदि कर्म साधक को चित्तशुद्धि के कारण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं, क्योंकि यदि उन साधनाओं आदि के परिणाम में ही आत्मा का साक्षात् रूप से प्रत्यक्ष करना सम्भव होता तो फिर शास्त्रों में साधकों को उन सब कर्मों के फल को त्याग देने के लिए नहीं कहा जाता। अतः मीमांसाशास्त्र में कहे हुए फलप्रद कर्मवाद के निराकरण के ही लिए गीतोक्त निष्काम कर्मयोग की अवतारणा की गयी है, समझा।

शिष्य——परन्तु महाराज, कर्म के फलाफल की ही यदि आशा न रखी, तो फिर कष्ट उठाकर कर्म करने में रुचि क्यों होगी ?

स्वामीजी——देह धारण करके कुछ न कुछ कर्म किये बिना कोई कभी नहीं रह सकता। जीव को जब कर्म करना ही पड़ता है, तो जिस प्रकार कर्म करने से आत्मा का दर्शन प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार से करने के लिए ही निष्काम कर्मयोग कहा गया है। और तूने जो कहा, 'प्रवृत्ति क्यों होगी ?'——

उसका उत्तर यह है कि जितने कुछ कर्म किये जाते हैं, वे सभी प्रवृत्तिमूलक हैं; परन्तु कर्म करते करते जब एक कर्म से दूसरे कर्म में, एक जन्म से दूसरे जन्म में ही केवल गति होती रहती है, तो समय पर लोगों की विचार की प्रवृत्ति स्वतः ही जागकर पूछती है,—इस कर्म का अन्त कहाँ पर है ? उसी समय वह उस बात का मर्म समझ जाता है, जो गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कही है—'गहना कर्मणो गतिः' अतः जब कर्म करके उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती तभी साधक कर्मत्यागी बनता है। परन्तु देह धारण करके मनुष्य को कुछ न कुछ साथ लेकर तो रहना ही होगा—क्या लेकर रहेगा बोल ? इसीलिए साधक दो-चार सत्कर्म करता जाता है, परन्तु उस कर्म के फलाफल की आशा नहीं रखता, क्योंकि उस समय उसने जान लिया है कि उस कर्मफल में ही जन्ममृत्यु के नाना प्रकार के अंकुर भरे पड़े हैं। इसीलिए ब्रह्मज्ञ व्यक्ति सारे कर्म त्याग देते हैं—दिखाने के दो-चार कर्म पर भी उनमें उनके प्रति आकर्षण बिलकुल नहीं रहता। ये ही लोग शास्त्र में निष्काम कर्मयोगी बताये गये हैं।

शिष्य—महाराज, तो क्या निष्काम ब्रह्मज्ञ का उद्देश्यविहीन कर्म उन्मत्त की चेष्टा आदि की तरह है ?

स्वामीजी—नहीं ! अपने लिए, अपने देह-मन के सुख के लिए कर्म न करना ही कर्मफल का त्याग है। ब्रह्मज्ञ अपने सुख की तलाश नहीं करते हैं, परन्तु दूसरों के कल्याण अथवा यथार्थ सुख की प्राप्ति के लिए क्यों कर्म न करेंगे ? वे लोग फल की आकांक्षा न रखते हुए जो कुछ कर्म करते रहते हैं, उससे जगत का कल्याण होता है। वे सब कर्म 'बहुजनहिताय', 'बहुजनसुखाय' होते हैं। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—'उनके पैर कभी बेताल नहीं पड़ते,'

वे जो कुछ करते हैं सभी अर्थपूर्ण होते है। उत्तररामचरित्र में नहीं पढ़ा है—'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' अर्थात् ऋषियों के वाक्यों का अर्थ अवश्य है, वे कभी निरर्थक या मिथ्या नहीं होते। मन जिस समय आत्मा में लीन होकर वृत्तिविहीन जैसा बन जाता है, उस समय 'इहामुत्रफलभोगविराग' उत्पन्न करता है अर्थात् संसार में अथवा मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग आदि में किसी प्रकार का सुखभोग करने की आकांक्षा नहीं रहती। मन में फिर संकल्प-विकल्पों की लहर नहीं रहती, परन्तु व्युत्थानकाल में अर्थात् समाधि अथवा उस वृत्तिविहीन स्थिति से उतरकर मन जिस समय फिर 'मैं-मेरा' के राज्य में आ जाता है, उस समय पूर्वकृत कर्म या अभ्यास या प्रारब्ध से उत्पन्न संस्कार के अनुसार देह आदि का कर्म चलता रहता है। मन उस समय प्राय: ज्ञानातीत स्थिति (Superconscious State) में रहता है। न खाने से काम नहीं चलता, इसीलिए उस समय खाना पीना रहता है —देहबुद्धि इतनी क्षीण हो जाती है। इस ज्ञानातीत भूमि में पहुँचकर जो कुछ किया जाता है, वह ठीक ठीक ही होता है। वे सब काम जीव और जगत् के लिए होते हैं; क्योंकि उस समय कर्ता का मन फिर स्वार्थ बुद्धि द्वारा अथवा अपने लाभ-हानि के विचार द्वारा दूषित नहीं होता। ईश्वर ने सदा ज्ञानातीत भूमि में रहकर ही इस जगत् रूपी विचित्र सृष्टि को बनाया है, इसीलिए इस सृष्टि में कुछ भी अपूर्ण नहीं पाया जाता। इसीलिए कह रहा था कि आत्मज्ञ जीव के, फलकामना से शून्य कर्म आदि कभी अंगहीन अथवा असम्पूर्ण नहीं होते—उनसे जीव और जगत् का यथार्थ कल्याण ही होता है।

शिष्य—आपने थोड़ी देर पहले कहा, ज्ञान और कर्म आपस

में एक दूसरे के विरोधी हैं। ब्रह्मज्ञान में कर्म का जरा भी स्थान नहीं है अथवा कर्म के द्वारा ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मदर्शन नहीं होता, तो फिर आप बीच बीच में महारजोगुण के उद्दीपक उपदेश क्यों देते हैं? यही उस दिन आप मुझे ही कह रहे थे—'कर्म—कर्म—कर्म—नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।'

स्वामीजी—मैंने दुनिया में घूमकर देखा है इस देश की तरह इतने अधिक तामस प्रकृति के लोग पृथ्वी में और कहीं भी नहीं हैं। बाहर सात्त्विकता का ढोंग, पर अन्दर बिलकुल ईंट-पत्थर की तरह जड़ता—इनसे जगत् का क्या काम होगा? इस प्रकार अकर्मण्य, आलसी, घोर विषयी जाति दुनिया में और कितने दिन जीवित रह सकेगी। पाश्चात्य देशों में घूमकर पहले एक बार देख आ, फिर मेरे इस कथन का प्रतिवाद करना। उनका जीवन कितना उद्यमशील है, उनमें कितनी कर्मतत्परता है, कितना उत्साह है, रजोगुण का कितना विकास है। तुम्हारे देश के लोगों का खून मानो हृदय में जम गया है—नसों में मानो रक्त का प्रवाह ही रुक गया है। सर्वांग पक्षाघात के कारण शिथिल सा हो गया है। इसलिए मैं इनमें रजोगुण की वृद्धि कर कर्मतत्परता के द्वारा इस देश के लोगों को पहले इहलौकिक जीवनसंग्राम के लिए समर्थ बनाना चाहता हूँ। देह में शक्ति नहीं, हृदय में उत्साह नहीं, मस्तिष्क में प्रतिभा नहीं।—क्या होगा रे इन जड़ पिण्डों से? मैं हिलाडुलाकर इनमें स्पन्दन लाना चाहता हूँ—इसलिए मैंने प्राणान्त प्रण किया है। वेदान्त के अमोघ मन्त्र के बल से उन्हें जगाऊँगा। 'उत्तिष्ठत जाग्रत' इस अभय वाणी को सुनाने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है। तुम लोग इस काम में मेरे सहायक बनो। जा, गाँव गाँव में, देश देश में यह अभयवाणी चाण्डाल से

लेकर ब्राह्मण तक सभी को सुना आ। सभी को पकड़ पकड़ कर जाकर कह दे,—'तुम लोग अमित वीर्यवान् हो—अमृत के अधिकारी हो।' इसी प्रकार पहले रजः शक्ति की उद्दीपना कर,—जीवनसंग्राम के लिए सब को कार्यक्षम बना, इसके पश्चात् उन्हें परजन्म में मुक्ति प्राप्त करने की बात सुना। पहले भीतर की शक्ति को जाग्रत करके देश के लोगों को अपने पैरों पर खड़ा कर; अच्छे भोजन-वस्त्र तथा उत्तम भोग आदि करना वे पहले सीखें, उनके बाद उन्हें उपाय बता दे कि किस प्रकार सर्व प्रकार के भोगों के बन्धनों से वे मुक्त हो सकेंगे। निष्क्रियता, हीनबुद्धि और कपट से देश छा गया है। क्या बुद्धिमान लोग यह देखकर स्थिर रह सकते हैं? रोना नहीं आता? मद्रास, बम्बई, पंजाब, बंगाल—कहीं भी तो जीवनी शक्ति का चिह्न दिखायी नहीं देता। तुम लोग सोच रहे हो, 'हम शिक्षित हैं!' क्या खाक सीखा है? दूसरों की कुछ बातों को दूसरी भाषा में रटकर मस्तिष्क में भरकर, परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सोच रहे हो कि हम शिक्षित हो गये हैं! धिक् धिक्, इसका नाम कहीं शिक्षा है? तुम्हारी शिक्षा का उद्देश्य क्या है? या तो क्लर्क बनना या एक दुष्ट वकील बनना, और बहुत हुआ तो क्लर्की का ही दूसरा रूप एक डिप्टी मॅजिस्ट्रेट की नौकरी—यही न? इससे तुम्हें या देश को क्या लाभ हुआ? एक बार आँखें खोलकर देख, सोना पैदा करने वाली भारतभूमि में अन्न के लिए हाहाकार मचा है! तुम्हारी उस शिक्षा द्वारा उस न्यूनता की क्या पूर्ति हो सकेगी?—कभी नहीं। पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से जमीन खोदने लग जा, अन्न की व्यवस्था कर—नौकरी करके नहीं—अपनी चेष्टा द्वारा पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से नित्य नवीन उपाय का

आविष्कार करके ! इसी अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करने के लिए मैं लोगों को रजोगुण की वृद्धि करने का उपदेश देता हूँ। अन्न-वस्त्र की कमी और उसकी चिन्ता से देश बुरी अवस्था में चला जा रहा है—इसके लिए तुम लोग क्या कर रहे हो ? फेंक दे अपने शास्त्र-फास्त्र गंगाजी में। देश के लोगों को पहले अन्न की व्यवस्था करने का उपाय सिखा दे, उसके बाद उन्हें भागवत का पाठ सुनाना। कर्मतत्परता के द्वारा इहलोक का अभाव दूर न होने पर कोई धर्म की कथा ध्यान से न सुनेगा। इसीलिए कहता हूँ, पहले अपने में अन्तर्निहित आत्मशक्ति को जाग्रत कर, फिर देश के समस्त व्यक्तियों में जितना सम्भव हो उस शक्ति के प्रति विश्वास उत्पन्न कर। पहले अन्न की व्यवस्था कर, बाद में उन्हें धर्म प्राप्त करने की शिक्षा दे। अब अधिक बैठे रहने का समय नहीं है—कब किसकी मृत्यु होगी, कौन कह सकता है ?

बात करते करते क्षोभ, दुःख और दया के सम्मिलन से स्वामीजी के मुखमण्डल पर एक अपूर्व तेज उद्भासित हो उठा। आँखों से मानो अग्निकण निकलने लगे। उनकी उस समय की दिव्य मूर्ति का दर्शन कर भय और विस्मय के कारण शिष्य के मुख से बात न निकल सकी। कुछ समय के पश्चात् स्वामीजी फिर बोले, "उस प्रकार समय आते ही देश में कर्मतत्परता और आत्मनिर्भरता अवश्य आ जायगी—मैं स्पष्ट देख रहा हूँ there is no escape—दूसरी गति ही नहीं है। जो लोग बुद्धिमान हैं, वे भावी तीन युगों का चित्र सामने प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

"श्रीरामकृष्ण के जन्मग्रहण के समय से ही पूर्वाकाश में अरुणोदय हुआ है—समय आते ही दोपहर के सूर्य की प्रखर किरणों से देश अवश्य ही आलोकित हो जायगा।"

परिच्छेद ३०

स्थान—बेलुड़ मठ (निर्माण के समय)

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—ब्रह्मचर्य रक्षा के कठोर नियम—सात्त्विक प्रकृति वाले लोग ही श्रीरामकृष्ण का भाव ग्रहण कर सकेंगे—केवल ध्यान आदि में लगे रहना ही इस युग का धर्म नहीं है—अब उसके साथ गीतोक्त कर्मयोग भी चाहिए।

नया मठभवन तैयार हो गया है; जो कुछ कर्म शेष रह गया है उसे स्वामी विज्ञानानन्द स्वामीजी की राय से समाप्त कर रहे हैं। स्वामीजी का स्वास्थ्य आजकल सन्तोषजनक नहीं है, इसीलिए डाक्टरों ने उन्हें प्रात: एवं सायंकाल नाव पर सवार होकर गंगाजी में भ्रमण करने को कहा है। स्वामी नित्यानन्द ने नड़ाल के राय बाबुओं का बजरा (बड़ी नाव) थोड़े दिनों के लिए माँग लिया है। मठ के सामने वह बँधा हुआ है। स्वामीजी कभी कभी अपनी इच्छा के अनुसार उस बजरे में सवार होकर गंगाजी में भ्रमण किया करते हैं।

आज रविवार है; शिष्य मठ में आया है और भोजन के पश्चात् स्वामीजी के कमरे में बैठकर उनसे वार्तालाप कर रहा है। मठ में स्वामीजी ने इसी समय संन्यासियों और बालब्रह्मचारियों के लिए कुछ नियम तैयार किये हैं। उन नियमों का मुख्य उद्देश है गृहस्थों के संग से दूर रहना; जैसे—अलग भोजन का स्थान, अलग विश्राम का स्थान आदि। उसी विषय पर बातचीत होने लगी।

स्वामीजी—गृहस्थों के शरीर में, वस्त्रों में आजकल में कैसी

एक प्रकार की संयमहीनता की गन्ध पाता हूँ; इसीलिए मैंने नियम बना दिया है कि गृहस्थ साधुओं के बिस्तर पर न बैठे, न सोये। पहले मैं शास्त्रों में पढ़ा करता था कि गृहस्थों में ये बातें पायी जाती हैं और इसीलिए संन्यासी लोग गृहस्थों की गन्ध नहीं सह सकते; अब मैं इस सत्य को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। नियमों को मानकर चलने से ही बालब्रह्मचारी समय पर यथार्थ संन्यास लेने के योग्य हो सकेंगे। संन्यास में निष्ठा दृढ़ हो जाने पर गृहस्थों के साथ मिलजुलकर रहने से भी फिर हानि न होगी। परन्तु प्रारम्भ में नियम की सीमा से आबद्ध न होने से संन्यासी-ब्रह्मचारीगण सब बिगड़ जायेंगे। यथार्थ ब्रह्मचारी बनने के लिए पहलेपहल संयम के कठोर नियमों का पालन करके चलना पड़ता है। इसके अतिरिक्त स्त्री-संग करने वालों का संग भी अवश्य ही त्यागना पड़ता है।

गृहस्थाश्रमी शिष्य स्वामीजी की बात सुनकर दंग रह गया और यह सोचकर कि अब वह मठ के संन्यासी-ब्रह्मचारियों के साथ पहले के समान समभाव से न मिलजुल सकेगा, दुःखी होकर कहने लगा, "परन्तु महाराज, यह मठ और इसके सभी लोग मुझे अपने घर, स्त्री-पुत्र आदि सब से अधिक प्यारे लगते हैं; मानो ये सभी कितने ही दिनों के परिचित हैं। मैं मठ में जिस प्रकार स्वाधीनता का उपभोग करता हूँ, दुनिया में और कहीं भी वैसा नहीं करता।"

स्वामीजी—जितने शुद्ध सत्त्ववाले लोग हैं उन सब को यहाँ पर ऐसा ही अनुभव होगा। पर जिसे ऐसा अनुभव नहीं होता, समझना वह यहाँ का आदमी नहीं है। कितने ही लोग जोश में मस्त होकर आते हैं और फिर अल्प काल में ही भाग जाते हैं,

उसका यही कारण है। ब्रह्मचर्यविहीन, दिनरात 'रुपया रुपया' करके भटकने वाला व्यक्ति यहाँ का भाव कभी समझ ही न सकेगा, कभी मठ में लोगों को अपना न मानेगा। यहाँ के संन्यासी पुराने जमाने के विभूति रमाये, सिर पर जटा, हाथ में चिमटा, दवा देने वाले बाबाजी की तरह नहीं हैं। इसीलिए लोग देख-सुनकर कुछ भी समझ नहीं पाते। हमारे श्रीरामकृष्ण का आचरण, भाव—सब कुछ नये प्रकार का है, इसीलिए हम सब भी नये प्रकार के हैं। कभी अच्छे वस्त्र पहनकर 'भाषण' देते हैं और कभी 'हर हर बम बम' कहते हुए भस्म रमाये पहाड़-जंगलों में घोर तपस्या में तल्लीन हो जाते हैं।

"आजकल क्या केवल पुराने जमाने के पोथी-पत्रों की दुहाई देने से ही काम चलता है रे? इस समय इस पाश्चात्य सभ्यता का जोरदार प्रवाह अनिरुद्ध गति से देश भर में प्रवाहित हो रहा है। उसकी उपयोगिता की जरा भी परवाह न करके केवल पहाड़ पर बैठे ध्यान में मग्न रहने से क्या आज काम चल सकता है? इस समय चाहिए—गीता में भगवान ने जो कहा है—प्रबल कर्मयोग—हृदय में अमित साहस, अपरिमित शक्ति। तभी तो देश के सब लोग जाग उठेंगे, नहीं तो जिस अन्धकार में तुम हो, उसी में वे भी रहेंगे।"

दिन ढलने को है। स्वामीजी गंगाजी में भ्रमण-योग्य कपड़े पहन कर नीचे उतरे और मठ के मैदान में जाकर पूर्व के पक्के घाट पर कुछ समय तक टहलते रहे। फिर नाव के घाट में आने पर स्वामी निर्भयानन्द, नित्यानन्द तथा शिष्य को साथ लेकर उस पर चढ़े।

नाव पर चढ़कर स्वामीजी जब छत पर बैठे, तो शिष्य उनके

चरणों के पास जा बैठा। गंगा की छोटी छोटी लहरें नाव के तल में टकरा कर कल-कल ध्वनि कर रही हैं, धीरे धीरे वायु बह रही है, अभी तक आकाश का पश्चिम भाग सायंकालीन लालिमा से लाल नहीं हुआ है—सूर्य भगवान के अस्त होने में अभी लगभग आध घण्टा बाकी है। नाव उत्तर की ओर जा रही है। स्वामीजी के मुख से प्रफुल्लता, आँखों से कोमलता, बातचीत से गम्भीरता और प्रत्येक भाव-भंगी से जितेन्द्रियता व्यक्त हो रही है! वह एक भावपूर्ण रूप है; जिसने वह नहीं देखा, उसके लिए समझना असम्भव है।

अब दक्षिणेश्वर को लाँघकर अनुकूल वायु के झोकों के साथ साथ नाव उत्तर की ओर आगे बढ़ रही है। दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर को देखकर शिष्य तथा अन्य दोनों संन्यासियों ने प्रणाम किया, परन्तु स्वामीजी एक गम्भीर भाव में विभोर होकर अस्त-व्यस्त रूप में बैठे रहे। शिष्य और संन्यासी लोग दक्षिणेश्वर की कितनी ही बातें कहने लगे, पर मानो वे बातें स्वामीजी के कानों में प्रविष्ट ही नहीं हुईं! देखते देखते नाव पेनेटी की ओर बढ़ी और पेनेटी में स्वर्गीय गोविन्द कुमार चौधरी के बगीचे वाले मकान के घाट में थोड़ी देर के लिए नाव ठहरायी गयी। इस बगीचे वाले मकान को पहले एक बार मठ के लिए किराये पर लेने का विचार हुआ था। स्वामीजी उतरकर बगीचा और मकान देखने गये। फिर देख-दाखकर बोले—"बगीचा बहुत अच्छा है, परन्तु कलकत्ते से काफी दूर है; श्रीरामकृष्ण के शिष्यों को आने जाने में कष्ट होता; यहाँ पर मठ नहीं बना, यह अच्छा ही हुआ!"

अब नाव फिर मठ की ओर चली और लगभग एक घण्टे तक रात्रि के अन्धकार को चीरती हुई फिर मठ में आ पहुँची।

परिच्छेद ३१

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१८९९ ईसवी के प्रारम्भ में

विषय—स्वामीजी की नाग महाशय से भेंट—आपस में एक दूसरे के सम्बन्ध में दोनों की उच्च धारणा।

शिष्य आज नाग महाशय को साथ लेकर मठ में आया है।

स्वामीजी (नाग महाशय को अभिवादन करके)—कहिये आप अच्छे तो हैं न ?

नाग महाशय—आपका दर्शन करने आया हूँ। जय शंकर ! जय शंकर ! साक्षात् शिवजी का दर्शन हुआ।

यह कहकर दोनों हाथ जोड़कर नाग महाशय खड़े रहे।

स्वामीजी—स्वास्थ्य कैसा है ?

नाग महाशय—व्यर्थ के मांस-हड्डी की बात क्या पूछ रहे हैं ? आपके दर्शन से आज मैं धन्य हुआ, धन्य हुआ !

ऐसा कहकर नाग महाशय ने स्वामीजी को साष्टांग प्रणाम किया।

स्वामीजी (नाग महाशय को उठाकर)—यह क्या कर रहे हैं ?

नाग महाशय—मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ—आज मुझे साक्षात् शंकर का दर्शन प्राप्त हुआ ! जय भगवान् श्रीरामकृष्ण की।

स्वामीजी (शिष्य की ओर इशारा करके)—देख रहा है—यथार्थ भक्ति से मनुष्य कैसा बनता है ! नाग महाशय तन्मय हो गये हैं, देहबुद्धि बिलकुल नहीं रही, ऐसा दूसरा नहीं देखा जाता।

(प्रेमानन्द स्वामीजी के प्रति)——नाग महाशय के लिए प्रसाद ला।

नाग महाशय——प्रसाद ! प्रसाद ! (स्वामीजी के प्रति हाथ जोड़कर) आपके दर्शन से आज मेरी भवक्षुधा मिट गयी है।

मठ में बालब्रह्मचारी और संन्यासीगण उपनिषद् का अध्ययन कर रहे थे। स्वामीजी ने उनसे कहा, "आज श्रीरामकृष्ण के एक महाभक्त पधारे हैं। नाग महाशय के शुभागमन से आज तुम लोगों का अध्ययन बन्द रहेगा।" सब लोग पुस्तकें बन्द करके नाग महाशय के चारों ओर घिर कर बैठ गये। स्वामीजी भी नाग महाशय के सामने बैठे।

स्वामीजी (सभी को सम्बोधित कर)——देख रहे हो ? नाग महाशय को देखो; आप गृहस्थ हैं, परन्तु जगत् है या नहीं, यह भी नहीं जानते। सदा तन्मय बने रहते हैं ? (नाग महाशय के प्रति)——इन सब ब्रह्मचारियों को और हमें श्रीरामकृष्ण की कुछ बातें सुनाइये।

नाग म०——यह क्या कहते हैं ! यह क्या कहते हैं ! मैं क्या कहूँगा ? मैं आपके दर्शन को आया हूँ; श्रीरामकृष्ण की लीला के सहायक महावीर का दर्शन करने आया हूँ। श्रीरामकृष्ण की बातें लोग अब समझेंगे। जय श्रीरामकृष्ण ! जय श्रीरामकृष्ण !

स्वामीजी——आप ही ने वास्तव में श्रीरामकृष्णदेव को पहचाना है। हमारा तो व्यर्थ चक्कर काटना ही रहा !

नाग म०——छि: ! यह आप क्या कह रहे हैं ! आप श्रीराम-कृष्ण की छाया हैं——एक ही सिक्के के दो पहलू——जिनकी आँखें हैं वे देखें !

स्वामीजी——ये जो सब मठ आदि बनवा रहा हूँ, क्या यह ठीक हो रहा है ?

नाग म०––मैं तो छोटा हूँ, मैं क्या समझूँ ? आप जो कुछ करते हैं, निश्चित जानता हूँ, उससे जगत् का कल्याण होगा––कल्याण होगा।

अनेक व्यक्ति नाग महाशय की पदधूलि लेने में व्यस्त हो जाने से नाग महाशय संकोच में पड़ गये; स्वामीजी ने सब से कहा, 'जिससे इन्हें कष्ट हो, वह न करो।' यह सुनकर सब लोग रुक गये।

स्वामीजी––आप आकर मठ में रह क्यों नहीं जाते ? आपको देखकर मठ के सब लड़के सीखेंगे।

नाग म०––श्रीरामकृष्ण से एक बार यही बात पूछी थी। उन्होंने कहा, 'घर में ही रहो'––इसीलिए घर में हूँ; बीच बीच में आप लोगों के दर्शन कर धन्य हो जाता हूँ।

स्वामीजी––मैं एक बार आपके देश में जाऊँगा।

नाग महाशय आनन्द से अधीर होकर बोले––"क्या ऐसा दिन आयगा ? देश काशी बन जायगा, काशी बन जायगा। क्या मेरा ऐसा भाग्य होगा ?"

स्वामीजी––मेरी तो इच्छा है, पर जब माँ ले जायँ तब तो हो।

नाग म०––आपको कौन समझेगा, कौन समझेगा ? दिव्य दृष्टि खुले बिना पहचानने का उपाय नहीं है। एकमात्र श्रीरामकृष्ण ने ही आपको पहचाना था। बाकी सभी केवल उनके कहने पर विश्वास करते हैं, कोई समझ नहीं सका।

स्वामीजी––मेरी अब एकमात्र इच्छा यही है कि देश को जगा डालूँ––मानो महावीर अपनी शक्तिमत्ता से विश्वास खोकर सो रहे हैं––बेखबर होकर––शब्द नहीं है। सनातन धर्म के भाव से इसे किसी प्रकार जगा सकने से समझूँगा कि श्रीरामकृष्ण तथा

हम लोगों का आना सार्थक हुआ। केवल यही इच्छा है—मुक्ति-फुक्ति तुच्छ लग रही है। आप आशीर्वाद दीजिये,जिससे सफलता प्राप्त हो।

नाग म०—श्रीरामकृष्ण आशीर्वाद देंगे। आपकी इच्छा की गति को फेरने वाला कोई भी नहीं दिखता; आप जो चाहेंगे वही होगा।

स्वामीजी—कहाँ, कुछ भी नहीं होता—उनकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं होता।

नाग म०—उनकी इच्छा और आपकी इच्छा एक बन गयी है। आपकी जो इच्छा है, वही श्रीरामकृष्ण की इच्छा है। जय श्रीरामकृष्ण ! जय श्रीरामकृष्ण !

स्वामीजी—काम करने के लिए दृढ़ शरीर चाहिए; यह देखिये, इस देश में आने के बाद स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता; उस देश में (यूरोप-अमरीका में) अच्छा था।

नाग म०—श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—शरीर धारण करने पर 'घर का टैक्स देना पड़ता है,' रोग शोक, वही टैक्स हैं। आपका शरीर अशर्फिओं का सन्दूक है, उस सन्दूक की खूब सेवा होनी चाहिए। कौन करेगा ? कौन समझेगा ? एकमात्र श्रीरामकृष्ण ने ही समझा था। जय श्रीरामकृष्ण ! जय श्रीरामकृष्ण !

स्वामीजी—मठ के ये लोग मेरी बहुत सेवा करते हैं।

नाग म०—जो लोग कर रहे हैं, उन्हीं का कल्याण है। समझें या न समझें। सेवा में न्यूनता होने पर शरीर की रक्षा करना कठिन होगा।

स्वामीजी—नाग महाशय, क्या कर रहा हूँ, क्या नहीं कर रहा हूँ कुछ समझ में नहीं आता। एक एक समय एक एक दिशा में

कार्य करने का प्रवल वेग आता है, बस उसी के अनुसार काम किये जा रहा हूँ, इससे भला हो रहा है या बुरा, कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।

नाग म०—श्रीरामकृष्ण ने जो कहा था,—'कुंजी लगा दी गयी।' इसीलिए अब समझने नहीं दे रहे हैं। समझने के साथ ही लीला समाप्त हो जायगी।

स्वामीजी ध्यानस्थ होकर कुछ सोचने लगे। इसी समय स्वामी प्रेमानन्द श्रीरामकृष्ण का प्रसाद लेकर आये और नाग महाशय तथा अन्य सभी को प्रसाद दिया गया। नाग महाशय दोनों हाथों से प्रसाद को सिर पर रख कर 'जय श्रीरामकृष्ण' कहते हुए नृत्य करने लगे। सभी लोग देखकर दंग रह गये। प्रसाद पाकर सभी लोग बगीचे में टहलने लगे। इस बीच में स्वामीजी एक कुदाली लेकर धीरे धीरे मठ के तालाब के पूर्वी तट पर मिट्टी खोदने लगे—नाग महाशय देखते ही उनका हाथ पकड़कर बोले, 'हमारे रहते आप यह क्या करते हैं?' स्वामीजी कुदाली छोड़कर मैदान में टहलते टहलते बातें करने लगे। स्वामीजी एक शिष्य से कहने लगे, "श्रीरामकृष्ण के स्वर्गवास के पश्चात् एक दिन हम लोगों ने सुना, नाग महाशय चार पाँच दिनों से उपवास करते हुए अपने कलकत्ते के मकान में पड़े हैं; मैं, हरिभाई और न जाने एक और कौन थे, तीनों मिलकर नाग महाशय की कुटिया में जा पहुँचे। देखते ही वे रजाई छोड़कर उठ खड़े हुए! मैंने कहा आपके यहाँ आज हम लोग भिक्षा पायेंगे। नाग महाशय ने उसी समय बाजार से चावल, बर्तन, लकड़ी आदि लाकर पकाना शुरू किया। हमने सोचा था, हम भी खायेंगे, नाग महाशय को भी खिलायेंगे। भोजन तैयार होने पर हमें परोसा गया। हम नाग

महाशय के लिए सब चीजें रखकर भोजन करने बैठे। भोजन के पश्चात् ज्यों ही उनसे खाने के लिए अनुरोध किया, त्यों ही वे भात की हण्डी फोड़कर अपना सिर ठोककर बोले, 'जिस शरीर से भगवान की प्राप्ति नहीं हुई, उस शरीर को फिर भोजन दूँगा ?' हम तो यह देखकर दंग रह गये। बहुत कहने सुनने के बाद उन्होंने कुछ भोजन किया और फिर हम लौट आये।"

स्वामीजी—नाग महाशय आज क्या मठ में ठहरेंगे ?

शिष्य—नहीं, उन्हें कुछ काम है; आज ही जाना होगा।

स्वामीजी—तो जा, नाव का प्रबन्ध कर। सन्ध्या हो रही है।

नाव आने पर शिष्य और नाग महाशय स्वामीजी को प्रणाम करके नाव पर सवार हो कलकत्ते की ओर रवाना हुए।

परिच्छेद ३२

स्थल—बेलुड़ मठ

विषय-ब्रह्म, ईश्वर, माया व जीव के स्वरूप—सर्वशक्तिमान व्यक्ति-विशेष के रूप में ईश्वर की धारणा करके साधना में अग्रसर होकर धीरे धीरे उनका वास्तविक स्वरूप जाना जा सकता है—"अहंब्रह्म" इस प्रकार ज्ञान न होने पर मुक्ति नहीं होती—काम-कांचन-भोग की इच्छा छूटे बिना तथा महापुरुष की कृपा प्राप्त हुए बिना ऐसा नहीं होता। अन्तर्बहिः संन्यास द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति—संशय भाव का त्याग करना—किस प्रकार के चिन्तन से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है—मन का स्वरूप तथा मन का संयम किस प्रकार करना होता है—ज्ञानपथ का पथिक ध्यान के विषय के रूप में अपने यथार्थ स्वरूप का ही अवलम्बन करेगा। अद्वैत स्थिति लाभ का अनुभव—ज्ञान, भक्ति, योगरूपी सभी पथों का लक्ष्य है जीव को ब्रह्मज्ञ बनाना—अवतार-तत्त्व—आत्मज्ञान प्राप्त करने में उत्साह देना—आत्मज्ञ पुरुष का कर्म जगत् के हित के लिए होता है।

इस समय स्वामीजी अच्छी तरह स्वस्थ हैं। शिष्य रविवार को प्रातःकाल मठ में आया है। स्वामीजी के चरणकमलों का दर्शन करने के बाद वह नीचे की मंजिल में आकर स्वामी निर्मलानन्द के साथ वेदान्त शास्त्र की चर्चा कर रहा है। इसी समय स्वामीजी नीचे उतर आये और शिष्य को देखकर बोले, "अरे, तुलसी के साथ क्या विचार परामर्श हो रहा था?"

शिष्य—महाराज, तुलसी महाराज कह रहे थे, "वेदान्त का ब्रह्मवाद केवल तू और तेरे स्वामीजी जानते हैं। हम तो जानते हैं—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'"

स्वामीजी—तूने क्या कहा?

शिष्य---मैंने कहा एक आत्मा ही सत्य है। कृष्ण केवल एक ब्रह्मज्ञ पुरुष थे। तुलसी महाराज भीतर से वेदान्तवादी हैं, परन्तु बाहर द्वैतवादी का पक्ष लेकर तर्क करते हैं, ईश्वर को व्यक्ति-विशेष बताकर बात का प्रारम्भ करके धीरे धीरे वेदान्तवाद की नींव को सुदृढ़ प्रमाणित करना ही उनका उद्देश ज्ञात होता है। परन्तु जब वे मुझे 'वैष्णव' कहते हैं, तो मैं उनके सच्चे इरादे को भूल जाता हूँ और उनके साथ वादविवाद करने लग जाता हूँ।

स्वामीजी---तुलसी तुझसे प्रेम करता है न, इसीलिए वैसा कहकर तुझे चिढ़ाता है। तू बिगड़ता क्यों है? तू भी कहना, 'आप शून्यवादी नास्तिक हैं।'

शिष्य---महाराज, उपनिषद् दर्शन आदि में क्या यह बात है कि ईश्वर कोई शक्तिमान् व्यक्तिविशेष है? लोग तो वैसे ही ईश्वर में विश्वास रखते हैं।

स्वामीजी---सर्वेश्वर कभी भी विशेष व्यक्ति नहीं बन सकते। जीव है व्यष्टि; और समस्त जीवों की समष्टि है, ईश्वर। जीव में अविद्या प्रबल है; ईश्वर विद्या और अविद्या की समष्टिरूपी माया को वशीभूत करके विराजमान है और स्वाधीन भाव से उस स्थावर-जंगमात्मक जगत् को अपने भीतर से बाहर निकाल रहा है। परन्तु ब्रह्म उस व्यष्टि-समष्टि से अथवा जीव और ईश्वर से परे है। ब्रह्म का अंशांश भाग नहीं होता। समझाने के लिए उनके त्रिपाद, चतुष्पाद आदि की कल्पना मात्र की गयी है। जिस पाद में सृष्टि-स्थिति-लय का अध्यास हो रहा है, उसी को शास्त्र में 'ईश्वर' कहकर निर्देश किया गया है। अपर पाद कूटस्थ है; जिसमें द्वैत कल्पना का आभास नहीं है, वही ब्रह्म है। इससे तू कहीं ऐसा न मान लेना कि ब्रह्म जीव-जगत् से कोई अलग वस्तु

है। विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, ब्रह्म ही जीव-जगत् के रूप में परिणत हुआ है। अद्वैतवादी कहते हैं, 'ऐसा नहीं, ब्रह्म में जीव-जगत् अध्यस्त मात्र हुआ है।' परन्तु वास्तव में उसमें ब्रह्म का किसी प्रकार परिणाम नहीं हुआ। अद्वैतवादी का कहना है कि जगत् केवल नामरूप ही है। जब तक नामरूप है, तभी तक जगत् है। ध्यान-धारणा द्वारा जब नामरूप लुप्त हो जाता है, उस समय एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है। उस समय तेरी, मेरी अथवा जीव-जगत् की स्वन्तत्र सत्ता का अनुभव नहीं होता। उस समय ऐसा लगता है कि मैं ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध प्रत्यक् चैतन्य अथवा ब्रह्म हूँ, जीव का स्वरूप ही ब्रह्म है। ध्यान-धारणा द्वारा नामरूप आवरण हटकर यह भाव प्रत्यक्ष होता है, बस इतना ही। यही है शुद्धाद्वैतवाद का असल सार। वेद-वेदान्त, शास्त्र आदि इसी बात को नाना प्रकार से बार बार समझा रहे हैं।

शिष्य——तो फिर ईश्वर सर्वशक्तिमान् व्यक्तिविशेष है——यह बात कैसे सत्य हो सकती है?

स्वामीजी——मनरूपी उपाधि को लेकर ही मनुष्य है। मन के ही द्वारा मनुष्य को सभी विषय समझना पड़ रहा है। परन्तु मन जो कुछ सोचता है वह सीमित होगा ही। इसीलिए अपने व्यक्तित्व से ईश्वर के व्यक्तित्व की कल्पना करना जीव का स्वतःसिद्ध स्वभाव है, मनुष्य अपने आदर्श को मनुष्य के रूप में ही सोचने में समर्थ है। इस जरामृत्युपूर्ण जगत् में आकर मनुष्य दुःख की ताड़ना से 'हा हतोऽस्मि' करता है और किसी ऐसे व्यक्ति का आश्रय लेना चाहता है जिस पर निर्भर रहकर वह चिन्ता से मुक्त हो सके। परन्तु ऐसा आश्रय है कहाँ? निराधार सर्वज्ञ आत्मा ही एकमात्र आश्रयस्थल है। पहलेपहले मनुष्य यह

बात जान नहीं सकता। विवेक-वैराग्य आने पर ध्यान-धारणा करते करते धीरे धीरे यह जाना जाता है। परन्तु कोई किसी भी भाव से साधना क्यों न करे, सभी अपने अनजान में अपने भीतर स्थिर ब्रह्मभाव को जगा रहे हैं। हाँ, आलम्बन अलग अलग हो सकता है। जिसका ईश्वर के व्यक्तिविशेष होने में विश्वास है, उसे उसी भाव को पकड़कर साधन-भजन आदि करना चाहिए। ऐकान्तिकता आने पर उसीसे समय पर ब्रह्मरूपी सिंह उनके भीतर से जाग उठता है। ब्रह्मज्ञान ही जीव का एकमात्र प्राप्तव्य है। परन्तु अनेक पथ—अनेक मत हैं। जीव का पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म होने पर भी मनरूपी उपाधि में अभिमान रहने के कारण, वह तरह तरह के सन्देह, संशय, सुख, दु:ख आदि भोगता है, परन्तु अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त सभी गतिशील हैं। जब तक 'अहं ब्रह्म' यह तत्त्व प्रत्यक्ष न होगा, तब तक इस जन्ममृत्यु की गति के पंजे से किसी का छुटकारा नहीं है। मनुष्यजन्म प्राप्त करके मुक्ति की इच्छा प्रबल होने तथा महापुरुष की कृपा प्राप्त होने पर ही मनुष्य की आत्मज्ञान की आकांक्षा बलवान होती है; नहीं तो काम-कांचन में लिप्त व्यक्तियों के मन की उधर प्रवृत्ति ही नहीं होती। जिसके मन में स्त्री, पुत्र, धन, मान प्राप्त करने का संकल्प है, उसके मन में ब्रह्म को जानने की इच्छा कैसे होगी? जो सर्वस्व त्यागने को तैयार हैं, जो सुख, दु:ख, भले-बुरे के चंचल प्रवाह में धीर-स्थिर, शान्त तथा दृढ़चित्त रहता है, वही आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए सचेष्ट होता है। वही 'निर्गच्छति जगज्जालात् पिंजरादिव केसरी' —महाबल से जगत्-रूपी जाल को तोड़कर माया की सीमा को लांघ सिंह की तरह बाहर निकल जाता है।

शिष्य—महाराज, क्या संन्यास के बिना ब्रह्मज्ञान हो ही नहीं सकता ?

स्वामीजी—क्या यह बार बार कहने का है ? अन्तर्बाह्य दोनों प्रकार से संन्यास का अवलम्बन करना चाहिए, आचार्य शंकर ने भी उपनिषद् के 'तपसो वाप्यलिंगात्'—इस अंश की व्याख्या के प्रसंग में कहा है, 'लिंगहीन अर्थात् संन्यास के बाह्य चिह्नों के रूप में गेरुआ वस्त्र, दण्ड, कमण्डलु आदि धारण न करके तपस्या करने पर कष्ट से प्राप्त करने योग्य ब्रह्मतत्त्व प्रत्यक्ष नहीं होता।'* वैराग्य न आने पर—त्याग न होने पर—भोगस्पृहा का त्याग न होने पर क्या कुछ होना सम्भव है ?—वे बच्चे के हाथ का लड्डू तो हैं नहीं जिसे भुलावा देकर छीन कर खा सकते हो।

शिष्य—परन्तु साधना करते करते धीरे धीरे त्याग आ सकता है न ?

स्वामीजी—जिसे क्रम से आता है उसे आये। परन्तु तुझे क्यों बैठे रहना चाहिए ? अभी से नाला काटकर जल लाने में लग जा। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'हो रहा है, होगा, यह सब टालने का ढंग है।' प्यास लगने पर क्या कोई बैठा रह सकता है ?—या जल के लिए दौड़धूप करता है ? प्यास नहीं लगी इसीलिए बैठा है। ज्ञान की इच्छा प्रबल नहीं हुई, इसीलिए स्त्री-पुत्र लेकर गृहस्थी कर रहा है !

शिष्य—वास्तव में मैं यह समझ नहीं सकता हूँ कि अभी तक मुझमें उस प्रकार की सर्वस्व त्यागने की बुद्धि क्यों नहीं आ सकी। आप इसका कोई उपाय कर दीजिये।

स्वामीजी—उद्देश्य और उपाय सभी तेरे हाथ में हैं। मैं केवल

---

* मुण्डक उपनिषद् ३।२।४ का भाष्य देखिये।

उस विषय में इच्छा को मन में उत्तेजित कर दे सकता हूँ। तू इन सब सत् शास्त्रों का अध्ययन कर रहा है—बड़े बड़े ब्रह्मज्ञ साधुओं की सेवा और सत्संग कर रहा है—इतने पर भी यदि त्याग का भाव नहीं आता, तो तेरा जीवन ही व्यर्थ है। परन्तु बिलकुल व्यर्थ नहीं होगा—समय पर इसका परिणाम जबरदस्ती निकल ही पड़ेगा।

शिष्य सिर झुकाये विषण्ण भाव से कुछ समय तक अपने भविष्य का चिन्तन करके फिर स्वामीजी से कहने लगा, "महाराज, मैं आपकी शरण में आया हूँ, मुक्तिप्राप्ति का मेरा रास्ता खोल दीजिये—मैं इसी जन्म में तत्त्वज्ञ बनना चाहता हूँ।"

स्वामीजी शिष्य की अवसन्नता को देखकर बोले, "भय क्या है? सदा विचार किया कर—यह शरीर, घर, जीव-जगत् सभी सम्पूर्ण मिथ्या है—स्वप्न की तरह है, सदा सोचा कर कि यह शरीर एक जड़-यन्त्र मात्र है। इसमें जो आत्माराम पुरुष है, वही तेरा वास्तविक स्वरूप है। मनरूपी उपाधि ही उसका प्रथम और सूक्ष्म आवरण है; उसके बाद देह उसका स्थूल आवरण बना हुआ है। निष्कल, निर्विकार, स्वयंज्योति वह पुरुष इन सब मायिक आवरणों से ढका हुआ है इसलिए तू अपने स्वरूप को जान नहीं पाता है। रूप-रस की ओर दौड़ने वाले इस मन की गति को अन्दर की ओर लौटा देना होगा; मन को मारना होगा। देह तो स्थूल है—यह मरकर पंचभूतों में मिल जाती है, परन्तु संस्कारों की गठरी अर्थात् मन शीघ्र नहीं मरता। बीज की भाँति कुछ दिन रहकर फिर वृक्ष रूप में परिणत होता है; फिर स्थूल शरीर धारण करके जन्ममृत्यु के पथ में आया-जाया करता है। जब तक आत्मज्ञान नहीं हो जाता तब तक यही क्रम चलता रहता है।

इसीलिए कहता हूँ—ध्यानधारणा और विचार के बल पर मन को सच्चिदानन्द-समुद्र में डुबो दे। मन के मरते ही सभी गया समझ—बस फिर तू ब्रह्मसंस्थ हो जायगा।"

शिष्य—महाराज, इस उद्दाम उन्मत्त मन को ब्रह्म में डुबो देना बहुत ही कठिन है।

स्वामीजी—वीर के सामने फिर कठिन नाम की कोई भी चीज है क्या? कापुरुष ही ऐसी बातें कहा करते हैं! 'वीराणामेव करतलगता मुक्तिः, न पुनः कापुरुषाणाम्।' अभ्यास और वैराग्य के बल से मन को संयत कर। गीता में कहा है, 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।' चित्त मानो एक निर्मल तालाब है। रूपरस आदि के आघात से उसमें जो तरंग उठ रही है, उसी का नाम है मन। इसीलिए मन का स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक है। उस संकल्प-विकल्प से ही वासना उठती है। उसके बाद वह मन ही क्रियाशक्ति के रूप में परिणत होकर स्थूल देहरूपी यन्त्र के द्वारा कार्य करता है। फिर कर्म भी जिस प्रकार अनन्त है कर्म का फल भी वैसा ही अनन्त है। अतः अनन्त असंख्य कर्मफल रूपी तरंग में मन सदा झूला करता है। उस मन को वृत्तिशून्य बना देना होगा—और उसे स्वच्छ तालाब में परिणत करना होगा जिससे उसमें फिर वृत्तिरूपी एक भी तरंग न उठ सके। तभी ब्रह्मतत्त्व प्रकट होगा। शास्त्रकार उसी स्थिति का आभास इस रूप में दे रहे हैं—'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' आदि—समझा?

शिष्य—जी हाँ, परन्तु ध्यान तो विषयावलम्बी होना चाहिए न?

स्वामीजी—तू स्वयं ही अपना विषय बनेगा। तू सर्वव्यापी आत्मा है इसी बात का मनन और ध्यान किया कर। मैं देह नहीं हूँ—मन नहीं हूँ—बुद्धि नहीं हूँ—स्थूल नहीं हूँ—सूक्ष्म

नहीं हूँ—इस प्रकार 'नेति' 'नेति' करके प्रत्यक् चैतन्य रूपी अपने स्वरूप में मन को डुबो दे। इस प्रकार मन को बार बार डुबो डुबो कर मार डाल। तभी ज्ञानस्वरूप का बोध या स्वस्वरूप में स्थिति होगी। उस समय ध्याता-ध्येय-ध्यान एक बन जायेंगे,– ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान एक बन जायेंगे। सभी अध्यासों की निवृत्ति हो जायगी। इसी को शास्त्र में 'त्रिपुटि भेद' कहा है। इस स्थिति में जानने, न जानने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। आत्मा ही जब एकमात्र विज्ञाता है, तब उसे फिर जानेगा कैसे? आत्मा ही ज्ञान—आत्मा ही चैतन्य—आत्मा ही सच्चिदानन्द है। जिसे सत् या असत् कुछ भी कहकर निर्देश नहीं किया जा सकता, उसी अनिर्वचनीय मायाशक्ति के प्रभाव से जीवरूपी ब्रह्म के भीतर ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का भाव आ गया है। इसे ही साधारण मनुष्य चैतन्य या ज्ञान की स्थिति (Conscious state) कहते हैं। यहाँ यह द्वैतसंघात शुद्ध ब्रह्मतत्त्व में एक बन जाता है, उसे ही शास्त्र में समाधि या साधारण ज्ञान की भूमि से अधिक उच्च स्थिति (Superconscious state) कहकर इस प्रकार वर्णन किया है— 'स्तिमितसलिलराशिप्रख्यमाख्याविहीनम्!'

इन बातों को स्वामीजी मानो ब्रह्मानुभव के गम्भीर जल में मग्न होकर ही कहने लगे।

स्वामीजी—इस ज्ञाता-ज्ञेय रूप सापेक्ष भूमिका से ही दर्शन, शास्त्र-विज्ञान आदि निकले हैं; परन्तु मानव मन का कोई भी भाव या भाषा जानने या न जानने के परे की वस्तु को सम्पूर्ण रूप से प्रकट नहीं कर सकती है। दर्शन, विज्ञान आदि आंशिक रूप से सत्य हैं; इसलिए वे किसी भी तरह परमार्थ तत्त्व के सम्पूर्ण प्रकाशक नहीं बन सकते। अतएव परमार्थ की दृष्टि से

देखने पर सभी मिथ्या ज्ञात होता है—धर्म मिथ्या, कर्म मिथ्या, मैं मिथ्या हूँ, तू मिथ्या है, जगत् मिथ्या है। उसी समय देखता है कि मैं ही सब कुछ हूँ; मैं ही सर्वगत आत्मा हूँ; मेरा प्रमाण मैं ही हूँ। मेरे अस्तित्व के प्रमाण के लिए फिर दूसरे प्रमाण की आवश्यकता कहाँ है? मैं—जैसा कि शास्त्रों में कहा है—'नित्यमस्मत्प्रसिद्धम्' हूँ। मैंने वास्तव में ऐसी स्थिति को प्रत्यक्ष किया है—उसका अनुभव किया है। तुम लोग भी देखो, अनुभव करो और जीवों को यह ब्रह्मतत्त्व सुनाओ जाकर। तब तो शान्ति पायेगा।

ऐसा कहते कहते स्वामीजी का मुख गम्भीर बन गया और उनका मन मानो किसी एक अज्ञात राज्य में जाकर थोड़ी देर के लिए स्थिर हो गया। कुछ समय के बाद वे फिर कहने लगे—"इस 'सर्वमतग्रासिनी, सर्वमतसमंजसा' ब्रह्मविद्या का स्वयं अनुभव कर और जगत् में प्रचार कर, उससे अपना कल्याण होगा, जीवों का भी कल्याण होगा। तुझे आज सार बात बता दी। इससे बढ़कर बात और दूसरी कोई नहीं है।"

शिष्य—महाराज, आप इस समय ज्ञान की बात कह रहे हैं; फिर कभी भक्ति की, कभी कर्म की तथा कभी योग की प्रधानता की बात कहते हैं। उससे हमारी बुद्धि में भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

स्वामीजी—असल बात यही है कि ब्रह्मज्ञ बनना ही चरम लक्ष्य है—परम पुरुषार्थ है। परन्तु मनुष्य तो हर समय ब्रह्म में स्थित नहीं रह सकता? व्युत्थान के समय कुछ लेकर तो रहना होगा? उस समय ऐसा कर्म करना चाहिए जिससे लोगों का कल्याण हो। इसीलिए तुम लोगों से कहता हूँ, अभेदबुद्धि से जीव की सेवारूपी कर्म करो। परन्तु भैया, कर्म के ऐसे दाँव-पेंच हैं

कि बड़े बड़े साधु भी इसमें आबद्ध हो जाते हैं ! इसीलिए फल की आकांक्षा से शून्य होकर कर्म करना चाहिए । गीता में यही बात कही गयी है, परन्तु यह समझ ले कि ब्रह्मज्ञान में कर्म का अनुप्रवेश भी नहीं है । सत्कर्म के द्वारा बहुत हुआ तो चित्तशुद्धि होती है । इसीलिए भाष्यकार ने ज्ञानकर्मसमुच्चय के प्रति इतना तीव्र कटाक्ष—इतना दोषारोपण किया है। निष्काम कर्म से किसी किसी को ब्रह्मज्ञान हो सकता है । यह भी एक उपाय अवश्य है। परन्तु उद्देश्य है ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति । इस बात को भलीभाँति जान ले—विचारमार्ग तथा अन्य सभी प्रकार की साधना का फल है ब्रह्मज्ञता प्राप्त करना ।

शिष्य—महाराज, अब भक्ति और राजयोग की उपयोगिता बताकर मेरे जानने की आकांक्षा की निवृत्ति कीजिये ।

स्वामीजी—उन सब पथों में साधना करते करते भी किसी किसी को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। भक्तिमार्ग के द्वारा धीरे धीरे उन्नति होकर देर में फल प्राप्त होता है—परन्तु मार्ग है सरल। योग में अनेक विघ्न हैं। सम्भव है कि मन सिद्धियों में चला जाय और असली स्वरूप में पहुँच न सके। एकमात्र ज्ञानमार्ग ही आशुफलदायक है और सभी मतों का संस्थापक होने के कारण सर्व काल में सभी देशों में समान रूप से सम्मानित है। परन्तु विचारपथ में चलते चलते भी मन ऐसे तर्कजाल में बद्ध हो सकता है, जिससे निकलना कठिन है। इसीलिए साथ ही साथ ध्यान भी करते जाना चाहिए। विचार और ध्यान के बल पर उद्देश्य में अथवा ब्रह्मतत्त्व में पहुँचना होगा । इस प्रकार साधना करने से गन्तव्य स्थल पर ठीक ठीक पहुँचा जा सकता है। यही मेरी सम्मति में सरल तथा शीघ्र फलदायक मार्ग है।

शिष्य---अब मुझे अवतारवाद के सम्बन्ध में कुछ बतलाइये।

स्वामीजी---जान पड़ता है तू एक ही दिन में सभी कुछ मार लेना चाहता है!

शिष्य---महाराज, मन का सन्देह एक ही दिन में मिट जाय तो बार बार फिर आपको तंग न करना पड़ेगा।

स्वामीजी---जिस आत्मा की इतनी महिमा शास्त्रों से जानी जाती है, उस आत्मा का ज्ञान जिनकी कृपा से एक मुहूर्त में प्राप्त होता है, वे ही हैं सचल तीर्थ---अवतार पुरुष। वे जन्म से ही ब्रह्मज्ञ हैं और ब्रह्म तथा ब्रह्मज्ञ में कुछ भी अन्तर नहीं है---'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।' आत्मा को तो फिर जाना नहीं जाता, क्योंकि यह आत्मा ही जाननेवाला और जनन करनेवाला बना हुआ है---यह बात पहले ही मैंने कही है। अतः मनुष्य का जानना उसी अवतार तक है---जो आत्मसंस्थ हैं। मानवबुद्धि ईश्वर के सम्बन्ध में जो सब से उच्च भाव (highest ideal) ग्रहण कर सकती है, वह वहीं तक है। उसके बाद और जानने का प्रश्न नहीं रहता। उस प्रकार के ब्रह्मज्ञ कभी कभी ही जगत् में पैदा होते हैं। उन्हें कम लोग ही समझ पाते हैं। वे ही शास्त्रवचनों के प्रमाणस्थल हैं---भवसागर के आलोकस्तम्भ हैं! इन अवतारों के सत्संग तथा कृपादृष्टि से एक क्षण में ही हृदय का अन्धकार दूर हो जाता है---एकाएक ब्रह्मज्ञान का स्फुरण हो जाता है। क्यों होता है अथवा किस उपाय से होता है, इसका निर्णय किया नहीं जा सकता, परन्तु होता अवश्य है। मैंने होते देखा है। श्रीकृष्ण ने आत्मसंस्थ होकर गीता कही थी। गीता में जिन जिन स्थानों में 'अहम्' शब्द का उल्लेख है---वह 'आत्मपर' जानना। 'मामेकं शरणं व्रज' अर्थात् 'आत्मसंस्थ बनो।' यह आत्मज्ञान ही गीता का

अन्तिम लक्ष्य है। योग आदि का उल्लेख उसी आत्मतत्त्व की प्राप्ति की आनुषंगिक अवतारणा है। जिन्हें यह आत्मज्ञान नहीं होता वे आत्मघाती हैं। 'विनिहन्त्यसद्ग्रहात्।' रूपरस आदि की फाँसी लगकर उनके प्राण निकल जाते हैं। तू भी तो मनुष्य है—दो दिनों के तुच्छ भोग की उपेक्षा नहीं कर सकता है? 'जायस्व-म्रियस्व' के दल में जायगा? 'श्रेय' को ग्रहण कर—'प्रेय' का त्याग कर! यह आत्मतत्त्व चाण्डाल आदि सभी को सुना। सुनाते सुनाते तेरी बुद्धि भी निर्मल हो जायगी। 'तत्त्वमसि' 'सोऽहमस्मि' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि महामन्त्र का सदा उच्चारण कर और हृदय में सिंह की तरह बल रख। भय क्या है? भय ही मृत्यु है—भय ही महापातक है। नररूपी अर्जुन को भय हुआ था—इसलिए आत्मसंस्थ होकर भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें गीता का उपदेश दिया; फिर भी क्या उसका भय चला गया था? अर्जुन जब विश्वरूप का दर्शन कर आत्मसंस्थ हुए तभी वे ज्ञानाग्नि-दग्धकर्मा बने और उन्होंने युद्ध किया।

शिष्य—महाराज, आत्मज्ञान की प्राप्ति होने पर भी क्या कर्म रह जाता है?

स्वामीजी—ज्ञानप्राप्ति के बाद साधारण लोग जिसे कर्म कहते हैं वैसा कर्म नहीं रहता। उस समय कर्म 'जगद्धिताय' हो जाता है। आत्मज्ञानी की सभी बातें जीव के कल्याण के लिए होती हैं। श्रीरामकृष्ण को देखा है—'देहस्थोऽपि न देहस्थः'—यह भाव! वैसे पुरुषों के कर्म के उद्देश्य के सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है—'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'।*

---

* वेदान्तसूत्र २।१।३३

परिच्छेद ३३

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०१ ईसवी

विषय—स्वामीजी का कलकत्ता जुबिली आर्ट एकेडेमी के अध्यापक श्री रणदाप्रसाद दासगुप्त के साथ शिल्प के सम्बन्ध में वार्तालाप—कृत्रिम पदार्थों में मन के भाव को प्रकट करना ही शिल्प का लक्ष्य होना चाहिए—भारत के बौद्ध युग का शिल्प उक्त विषय में जगत् में सर्वश्रेष्ठ है—फोटोग्राफ की सहायता प्राप्त करके यूरोपीय शिल्प की भाव-प्रकाश सम्बन्धी अवनति--भिन्न भिन्न जातीय शिल्पों में विशेषता है—जड़वादी यूरोप और अध्यात्मवादी भारत के शिल्प में क्या विशेषता है--वर्तमान भारत में शिल्प की अवनति--देश में सभी विद्या व भावों में प्राण का संचार करने के लिए श्रीरामकृष्णदेव का आगमन।

कलकत्ता जुबिली आर्ट एकेडेमी के अध्यापक और संस्थापक बाबू रणदाप्रसाद दासगुप्त महाशय को साथ लेकर शिष्य बेलुड़ मठ में आया है। रणदा बाबू शिल्पकला में निपुण, सुपण्डित तथा स्वामीजी के गुणग्राही हैं। परिचय के बाद स्वामीजी रणदा बाबू के साथ शिल्प विज्ञान के सम्बन्ध में बातें करने लगे। रणदा बाबू को प्रोत्साहित करने के लिए एक दिन जुबिली आर्ट एकेडेमी में जाने की इच्छा भी प्रकट की, परन्तु कई असुविधाओं के कारण स्वामीजी वहाँ नहीं जा सके। स्वामीजी रणदा बाबू से कहने लगे "पृथ्वी के प्रायः सभी सभ्य देशों का शिल्प-सौन्दर्य देख आया, परन्तु बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के समय इस देश में शिल्पकला का जैसा विकास देखा जाता है, वैसा और कहीं भी नहीं देखा। मुगल

बादशाहों के समय में भी इस विद्या का विशेष विकास हुआ था; उस विद्या के कीर्तिस्तम्भ के रूप में आज भी ताजमहल, जुम्मा मसजिद आदि भारतवर्ष के वक्षःस्थल पर खड़े हैं।

"मनुष्य जिस चीज का निर्माण करता है उससे किसी एक मनोभाव को व्यक्त करने का नाम ही शिल्प है। जिसमें ऐसे भाव की अभिव्यक्ति नहीं होती, उसमें रंगबिरंगी चकाचौंध रहने पर भी उसे वास्तव में शिल्प नहीं कहा जा सकता। लोटा, कटोरे, प्याली आदि नित्य व्यवहार की चीजें भी उसी प्रकार किसी विशेष भाव व्यक्त करते हुए तैयार करनी चाहिए। पैरिस प्रदर्शनी में पत्थर की बनी हुई एक विचित्र मूर्ति देखी थी। मूर्ति के परिचय के रूप में उसके नीचे ये शब्द लिखे हुए थे—Art unveiling nature अर्थात् शिल्पी किस प्रकार प्रकृति के घूंघट को अपने हाथ से हटाकर भीतर के रूपसौन्दर्य को देखता है। मूर्ति का निर्माण इस प्रकार किया है मानो प्रकृति देवी के रूप का चित्र अभी स्पष्ट चित्रित नहीं हुआ है; जितना चित्रित हुआ है, उतने के ही सौन्दर्य को देखकर मानो शिल्पी मुग्ध हो गया है। जिस शिल्पी ने इस भाव को व्यक्त करने की चेष्टा की है, उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। आप ऐसा ही कुछ मौलिक भाव व्यक्त करने की चेष्टा कीजियेगा।"

रणदा बाबू—समय आने पर मौलिक (original) भाव की मूर्ति तैयार करने की मेरी भी इच्छा है। परन्तु इस देश में उत्साह नहीं पाता। धन की कमी, उस पर फिर हमारे देश के निवासी गुणग्राही नहीं हैं।

स्वामीजी—आप यदि दिल से एक भी नयी वस्तु तैयार कर सकें, यदि शिल्प में एक भी भाव ठीक ठीक व्यक्त कर सकें तो

समय पर अवश्य ही उसका मूल्य होगा। जगत् में कभी भी सच्ची वस्तु का अपमान नहीं हुआ है। ऐसा भी सुना है कि किसी किसी शिल्पी के मरने के हजार वर्ष बाद उसकी कला का सम्मान हुआ।

रणदा बाबू—यह ठीक है। परन्तु हममें जो अकर्मण्यता आ गयी है, इससे घर का खाकर जंगल की भैंस चराने का साहस नहीं होता। इन पाँच वर्षों की चेष्टा से फिर भी मुझे कुछ सफलता मिली है। आशीर्वाद दीजिये कि प्रयत्न व्यर्थ न हो।

स्वामीजी—आप यदि हृदय से काम में लग जायँ तो सफलता अवश्य ही प्राप्त होगी। जो जिस सम्बन्ध में मन लगाकर हृदय से परिश्रम करता है, उसमें उसकी सफलता तो होती ही है, पर उसके पश्चात् ऐसा भी हो सकता है कि उस कार्य को तन्मयता से करने पर ब्रह्मविद्या तक की प्राप्ति हो जाय। जिस कार्य में मन लगाकर परिश्रम किया जाता है, उसमें भगवान भी सहायता करते हैं।

रणदा बाबू—पश्चिम के देशों तथा भारतवर्ष के शिल्प में क्या आपने कुछ अन्तर देखा ?

स्वामीजी—प्राय: सभी स्थानों में वह एक सा ही है, नवीनता का बहुधा अभाव रहता है। उन सब देशों में फोटो-यन्त्र (कैमेरा) की सहायता से आजकल अनेक प्रकार के चित्र खींचकर तस्वीरें तैयार कर रहे हैं। परन्तु यन्त्र की सहायता लेते ही नये नये भावों को व्यक्त करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। अपने मन के भाव को व्यक्त नहीं किया जा सकता। पूर्व काल के शिल्पकार अपने अपने मस्तिष्क से नये नये भाव निकालने तथा उन्हीं भावों को चित्रों के द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न किया करते थे। आजकल फ़ोटो जैसे चित्र होने के कारण मस्तिष्क के प्रयोग की शक्ति

और प्रयत्न लुप्त होते जा रहे हैं। परन्तु प्रत्येक जाति की एक एक विशेषता है। आचरण में, व्यवहार में, आहार में, विहार में, चित्र में, शिल्प में उस विशेष भाव का विकास देखा जाता है। उदाहरण के रूप में देखिये—उस देश के संगीत और नृत्य सभी में एक अजीब चुभाव (Pointedness) है। नृत्य में ऐसा जान पड़ता है मानो वे हाथ पैर पटक रहे हैं। वाद्यों की आवाज ऐसी है मानो कानों में छुरा भोंका जा रहा हो। गायन का भी यही हाल है। इधर इस देश का नृत्य मानो सजीव लहरों की थिरकन है। इसी प्रकार गीतों के गमक-मूर्च्छना में भी स्वरों का चक्र क्रमबद्ध सा (Rounded movement) चलता जान पड़ता है। वाद्य में भी वही बात है। तात्पर्य यह कि कला का पृथक् पृथक् जातियों में पृथक् पृथक् रूपों में विकास हुआ जान पड़ता है। जो जातियाँ बहुत ही जड़वादी तथा इहकाल को ही सब कुछ मानने वाली हैं, वे प्रकृति के नामरूप को ही अपना परम उद्देश्य मान लेती हैं और शिल्प में भी उसी के अनुसार भाव को प्रकट करने की चेष्टा करती हैं, परन्तु जो जाति प्रकृति के अतीत किसी भाव की प्राप्ति को ही जीवन का परम उद्देश्य मान लेती है, वह उसी भाव को प्रकृतिगत शक्ति की सहायता से शिल्प में प्रकट करने की चेष्टा करती है। प्रथम श्रेणी की जातियों का प्रकृतिगत सांसारिक भावों का तथा पदार्थसमूह का चित्रण ही कला का मूलाधार है और द्वितीय श्रेणी की जातियों की कला के विकास का मूल कारण है प्रकृति के अतीत किसी भाव को व्यक्त करना। इसी प्रकार दो भिन्न भिन्न उद्देश्यों के आधार पर कला के विकास में अग्रसर होने पर भी, दोनों श्रेणियों का परिणाम प्रायः एक ही हुआ है। दोनों ने ही अपने अपने भावानुसार कला

में उन्नति की है। उन सब देशों के एक एक चित्र देखकर आपको वास्तविक प्राकृतिक दृश्य का भ्रम होगा। इस देश के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार——प्राचीन काल में स्थापत्य-विद्या का जिस समय बहुत विकास हुआ था, उस समय की एक एक मूर्ति देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो वह आपको इस जड़ प्राकृतिक राज्य से उठाकर एक नवीन भाव-राज्य में ले जायगी। जिस प्रकार आजकल उस देश में पहले जैसे चित्र नहीं बनते, उसी प्रकार इस देश में भी नये नये भावों के विकास के लिए कलाकार प्रयत्नशील नहीं देखे जाते। यह देखिये न, आप लोगों के आर्ट स्कूल के चित्रों में मानो किसी भाव का विकास ही नहीं है। यदि आप लोग हिन्दुओं के प्रतिदिन के ध्यान करने योग्य मूर्तियों में प्राचीन भावों की उद्दीपक भावना को चित्रित करने का प्रयत्न करें, तो अच्छा हो।

रणदा बाबू——आपकी बातों से मैं बहुत ही उत्साहित हुआ हूँ। प्रयत्न करके देखूँगा—— आपके कथनानुसार कार्य करने की चेष्टा करूँगा।

स्वामीजी फिर कहने लगे——"उदाहरणार्थ, माँ काली का चित्र ही ले लीजिये। इसमें एक साथ ही कल्याणकारी तथा भयावह भावों का समावेश है, पर प्रचलित चित्रों में इन दोनों भावों का यथार्थ विकास कहीं भी नहीं देखा जाता। पर इतना ही नहीं, इन दोनों भावों में से किसी एक को भी चित्रित करने का कोई प्रयत्न नहीं कर रहा है। मैंने माँ काली की भीषण मूर्ति का कुछ भाव 'जगन्माता काली' (Kali the Mother) नामक मेरी अंग्रेजी कविता में व्यक्त करने की चेष्टा की है। क्या आप उस भाव को किसी चित्र में व्यक्त कर सकते हैं?"

रणदा बाबू—किस भाव को ?

स्वामीजी ने शिष्य की ओर देखकर अपनी कविता को ऊपर से ले आने को कहा। शिष्य के ले आने पर स्वामीजी उसे (The stars are blotted out etc.) पढ़कर रणदा बाबू को सुनाने लगे। स्वामीजी जब उस कविता का पाठ कर रहे थे, उस समय शिष्य को ऐसा लगा, मानो महाप्रलय की संहारकारी मूर्ति उनके कल्पनाचक्षु के सामने नृत्य कर रही है। रणदा बाबू भी उस कविता को सुनकर कुछ समय के लिए स्तब्ध हो गये। दूसरे ही क्षण उस चित्र को अपनी कल्पना की आँखों से देखकर रणदा बाबू 'बाप रे' कहकर भयचकित दृष्टि से स्वामीजी के मुख की ओर ताकने लगे।

स्वामीजी—क्यों, क्या इस भाव को चित्र में व्यक्त कर सकेंगे ?

रणदा बाबू—जी, प्रयत्न करूँगा,* परन्तु उस भाव की कल्पना से ही मेरा सिर चकरा जाता है।

स्वामीजी—चित्र तैयार करके मुझे दिखाइयेगा, उसके बाद उसे सर्वांगसुन्दर बनाने के लिए जो चाहिए, मैं आपको बता दूँगा।

इसके बाद स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण मिशन की मुहर के लिए साँप द्वारा घेरे हुए कमलदल विकसित ह्लद के बीच में हंस का जो छोटा सा चित्र तैयार किया था, उसे मँगवाकर रणदा बाबू को दिखाया और उसके सम्बन्ध में उन्हें अपनी राय व्यक्त करने

---

* शिष्य उस समय रणदा बाबू के साथ ही रहता था। उसे ज्ञात है कि रणदा बाबू ने घर पर लौटकर दूसरे ही दिन से उसे (प्रलय ताण्डव में उन्मत्त चण्डी की मूर्ति) चित्रित करना आरम्भ कर दिया था। आज भी वह अर्ध चित्रित मूर्ति रणदा बाबू के आर्ट स्कूल में मौजूद है, परन्तु स्वामीजी को वह फिर दिखायी नहीं गयी।

को कहा। रणदा बाबू पहले उसका मतलब समझने में असमर्थ होकर स्वामीजी से ही उसका अर्थ पूछने लगे। स्वामीजी ने समझा दिया कि चित्र का तरंगपूर्ण जलसमूह कर्म का, कमल भक्ति का और उदीयमान सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। चित्र में जो साँप का घेरा है—वह योग और जाग्रत कुण्डलिनी शक्ति का द्योतक है। और चित्र के मध्य में जो हंस की मूर्ति है उसका अर्थ है परमात्मा। अतः कर्म, भक्ति और ज्ञान, योग के साथ सम्मिलित होने से ही परमात्मा का दर्शन प्राप्त होता है—यही चित्र का तात्पर्य है।

रणदा बाबू चित्र का यह तात्पर्य सुनकर स्तब्ध हो गये। उसके बाद वे बोले, "यदि मैं आपसे कुछ समय शिल्पकला सीख सकता तो मेरी वास्तव में कुछ उन्नति हो जाती!"

इसके बाद स्वामीजी ने भविष्य में श्रीरामकृष्ण-मन्दिर और मठ को जिस प्रकार तैयार करने की उनकी इच्छा है, उसका एक खाका (कच्चा नकशा) मँगवाया। इस खाके को स्वामीजी के परामर्श से स्वामी विज्ञानानन्द ने तैयार किया था। यह खाका रणदा बाबू को दिखाते हुए वे कहने लगे—"इस भावी मठ-मन्दिर के निर्माण में प्राच्य तथा पाश्चात्य की सभी शिल्पकलाओं का समन्वय करने की मेरी इच्छा है। मैं पृथ्वी भर में घूमकर गृहशिल्प के सम्बन्ध में जितने भाव लाया हूँ, उन सभी को इस मन्दिर के निर्माण में विकसित करने की चेष्टा करूँगा। बहुत से सटे हुए स्तम्भों पर एक विराट प्रार्थनागृह तैयार होगा। उसकी दीवालों पर सैकड़ों खिले हुए कमल प्रस्फुटित होंगे। प्रार्थनागृह इतना बड़ा बनाना होगा, कि उसमें बैठकर हजार व्यक्ति एक साथ जप-ध्यान कर सकें। श्रीरामकृष्ण-मन्दिर तथा प्रार्थनागृह

को इस प्रकार एक साथ तैयार करना होगा कि दूर से देखने पर ठीक ओंकार की धारणा होगी। मन्दिर के बीच में एक राजहंस पर श्रीरामकृष्ण की मूर्ति रहेगी। द्वार पर दोनों ओर दो मूर्तियाँ इस प्रकार रहेंगी—एक सिंह और एक भेड़ मित्रता से एक दूसरे को चाट रहे हैं—अर्थात् महाशक्ति और महा[illegible] मानो प्रेम से एकत्र हो गये हैं। मन में ये सब भाव हैं। अब यदि जीवन रहा तो उन्हें कार्य में परिणत कर जाऊँगा। नहीं तो भविष्य की पीढ़ी के लोग उनको धीरे धीरे कार्य रूप में परिणत कर सकें तो करेंगे। मुझे ऐसा लगता है कि श्रीरामकृष्ण देश की सभी प्रकार की विद्या और भाव में प्राण संचारित करने के लिए ही आये थे। इसलिए श्रीरामकृष्ण के इस मठ को इस प्रकार संगठित करना होगा कि इस मठ-केन्द्र से धर्म, कर्म, विद्या, ज्ञान तथा भक्ति का संचार समस्त संसार में हो जाय। इस विषय में आप लोग मेरे सहायक बनें।"

रणदा बाबू तथा उपस्थित संन्यासी और ब्रह्मचारी स्वामीजी की बातों को सुनकर विस्मित होकर बैठे रहे। जिनका महान् एवं उदार मन सभी विषयों के सभी प्रकार के महान् भावसमूह की अदृष्टपूर्व क्रीड़ाभूमि था उन स्वामीजी की महिमा को हृदयंगम कर सब लोग एक अव्यक्त भाव में मग्न हो गये। कुछ समय के बाद स्वामीजी फिर बोले, "आप शिल्पविद्या की यथार्थ आलोचना करते हैं, इसलिए आज उस विषय पर चर्चा हो रही है। शिल्प के सम्बन्ध में इतने दिन चर्चा करके आपने उस विषय का जो कुछ सार तथा उच्च भाव प्राप्त किये हैं, वह अब मुझे सुनाइये।"

रणदा बाबू—महाराज, मैं आपको नयी बात क्या सुनाऊँगा?

आपने ही आज उस विषय में मेरी आँखें खोल दी हैं। शिल्प के सम्बन्ध में इस प्रकार ज्ञानपूर्ण बातें इस जीवन में इससे पूर्व कभी नहीं सुनी थीं। आशीर्वाद दीजिये कि आपसे जो भाव प्राप्त किये हैं, उन्हें कार्य रूप में परिणत कर सकूँ।

फिर स्वामीजी आसन से उठकर मैदान में इधर-उधर टहलते हुए शिष्य से बोले, "यह युवक बड़ा तेजस्वी है।"

शिष्य—महाराज, आपकी बात सुनकर वह विस्मित हो गया है।

स्वामीजी शिष्य की इस बात का कोई उत्तर न देकर मन ही मन गुनगुनाते हुए श्रीरामकृष्ण का एक गीत गाने लगे—"परम धन वह परश मणि" (संयत मन परम धन है जो अपनी सब इच्छाएँ पूर्ण करता है, इत्यादि)।

इस प्रकार कुछ समय तक टहलने के बाद स्वामीजी हाथ मुँह धोकर शिष्य के साथ ऊपर की मंजिल के अपने कमरे में आये और अंग्रेजी विश्वकोष (Encyclopaedia Britannica) के शिल्प सम्बन्धी अध्याय का कुछ समय तक अध्ययन किया। अध्ययन समाप्त करने पर पूर्व बंगाल की भाषा तथा उच्चारणप्रणाली के विषय में शिष्य के साथ साधारण रूप से हँसी करने लगे।

परिच्छेद ३४

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०१

विषय—स्वामीजी की देह में श्रीरामकृष्णदेव की शक्ति का संचार—पूर्व बंग की बात—नाग महाशय के घर पर आतिथ्य-स्वीकार—आचार व निष्ठा की आवश्यकता—काम-कांचन के प्रति आसक्ति त्याग देने से आत्मदर्शन।

स्वामीजी कुछ दिन हुए पूर्व बंग और आसाम की यात्रा से लौट आये हैं। शरीर अस्वस्थ है, पैर सूज गया है। शिष्य ने आकर मठ कि ऊपरी मंजिल में स्वामीजी के पास जाकर उन्हें प्रणाम किया। शारीरिक अस्वस्थता के होते हुए भी स्वामीजी के मुखमण्डल पर मुस्कराहट और दृष्टि में स्नेह झलक रहा था, जो देखनेवालों के सब प्रकार के दु:खों को भुलाकर उन्हें आत्मविस्मृत कर देता था।

शिष्य—महाराज, आपका स्वास्थ्य कैसा है?

स्वामीजी—मेरे बच्चे, मैं अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में क्या कहूँ? शरीर तो दिनोंदिन कार्य के लिए अक्षम बनता जा रहा है। बंगाल प्रान्त में आकर शरीर धारण करना पड़ा, शरीर में रोग लगा ही है। इस देश का शारीरिक गठन बिलकुल अच्छा नहीं है। अधिक कार्यभार शरीर सहन नहीं कर सकता। फिर भी जब तक शरीर है, तुम लोगों के लिए परिश्रम करूँगा। परिश्रम करते हुए ही शरीर त्याग करूँगा।

शिष्य—आप अब कुछ दिन काम करना बन्द कर विश्राम

कीजिये, तभी शरीर स्वस्थ होगा। इस शरीर की रक्षा से जगत का कल्याण होगा।

स्वामीजी—विश्राम करने को अवकाश कहाँ है, भाई? श्रीरामकृष्ण जिन्हें 'काली' 'काली' कहकर पुकारा करते थे, वही उनके शरीर त्याग के दो-तीन दिन पहले से ही इस शरीर में प्रविष्ट हो गयी है। वही मुझे इधर-उधर काम करती हुई घुमा रही है—स्थिर होकर रहने नहीं देती, अपने सुख की ओर देखने नहीं देती।

शिष्य—शक्ति-प्रवेश की बात क्या किसी रूपक के रूप में कह रहे हैं?

स्वामीजी—नहीं रे; श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के तीन-चार दिन पहले, उन्होंने मुझे एक दिन एकान्त में अपने पास बुलाया, और मुझे सामने बिठाकर मेरी ओर एक दृष्टि से एकटक देखते हुए समाधिमग्न हो गये। मैं उस समय ठीक अनुभव करने लगा उनके शरीर से एक सूक्ष्म तेज बिजली के कम्पन की तरह आकर मेरे शरीर में प्रविष्ट हो रहा है! धीरे धीरे मैं भी बाह्यज्ञान खोकर निश्चल हो गया। कितनी देर तक ऐसे भाव में रहा मुझे कुछ भी याद नहीं है। जब बाहर की चेतना हुई, तो देखा श्रीरामकृष्ण रो रहे हैं। पूछने पर उन्होंने स्नेह के साथ कहा, "आज सभी कुछ तुझे देकर मैं फकीर बन गया। तू इस शक्ति के द्वारा संसार का बहुत कल्याण करके लौट जायगा।" मुझे ऐसा लगता है, वह शक्ति ही मुझे इस काम से उस काम में घुमाती रहती है। बैठे रहने के लिए मेरा यह शरीर बना ही नहीं है।

शिष्य विस्मित होकर सुनते सुनते सोचने लगा—इन सब बातों को साधारण व्यक्ति कैसे समझेंगे, कौन जाने? इसके बाद दूसरा

प्रसंग उठाकर बोला—"महाराज, हमारा बंगाल देश (पूर्व बंग) आपको कैसा लगा ?"

स्वामीजी—देश कोई बुरा नहीं है। मैदान में देखा, पर्याप्त अन्न उत्पन्न होता है। जल-वायु भी बुरी नहीं है। पहाड़ की ओर का दृश्य भी बहुत सुन्दर है। ब्रह्मपुत्र की घाटी की शोभा अतुलनीय है। हमारी इस ओर की तुलना में लोग कुछ मजबूत तथा परिश्रमी हैं। इसका कारण, सम्भव है, यह हो कि वे मछली-मांस अधिक खाते हैं। जो कुछ करते हैं, अच्छे ढंग से करते हैं। खाद्य सामग्रियों में तेल-चर्बी का उपयोग अधिक करते हैं, वह ठीक नहीं है। तेल-चर्बी अधिक खाने से शरीर मोटा हो जाता है।

शिष्य—धर्मभाव कैसा देखा ?

स्वामीजी—धर्मभाव के सम्बन्ध में देखा देश के लोग बहुत अनुदार हैं। प्राचीन प्रथा के अनुगामी हैं। उदार भाव से धर्म प्रारम्भ करके फिर अनेक हठधर्मी बन गये हैं। ढाका के मोहिनी बाबू के मकान पर एक दिन एक लड़के ने न जाने किसका एक फोटो लाकर मुझे दिखाया और कहा, 'महाराज, कहिये तो ये कौन हैं ? अवतार हैं या नहीं ?' मैंने उसे बहुत समझाकर कहा, 'भाई, यह मैं क्या जानूं ?' तीन चार बार कहने पर भी देखा वह लड़का किसी भी तरह जिद नहीं छोड़ रहा है, अन्त में मुझे बाध्य होकर कहना पड़ा—'भाई, आज से अच्छी तरह खाया पिया करो; तब मस्तिष्क का विकास होगा—पुष्टिकर खाद्य के अभाव से तुम्हारा मस्तिष्क सूख जो गया है!' यह बात सुनकर सम्भव है—वह लड़का असन्तुष्ट हुआ हो। सो क्या करूँ भाई, बच्चों को वैसा न कहने से वे तो धीरे धीरे पागल हो जायेंगे।

शिष्य—हमारे पूर्व बंगाल में आजकल अनेक अवतारों का

उदय हो रहा है।

स्वामीजी--गुरु को लोग अवतार कह सकते हैं अथवा जो चाहें मानकर धारणा करने की चेष्टा कर सकते हैं। परन्तु भगवान् का अवतार कहीं भी तथा किसी भी समय नहीं होता। एक ढाका में ही सुना है तीन-चार अवतार पैदा हो गये हैं!

शिष्य--उस देश की महिलाएँ कैसी हैं?

स्वामीजी--महिलाएँ सर्वत्र प्रायः एक सी ही होती हैं। वैष्णव भाव ढाका में अधिक देखा। ह० की स्त्री बहुत बुद्धिमती जान पड़ी। वह बहुत आदर के साथ भोजन तैयार करके मेरे पास भेज देती थी।

शिष्य--सुना, आप नाग महाशय के घर पर गये थे?

स्वामीजी--हाँ, इतनी दूर जाकर भला मैं उन महापुरुष का जन्मस्थान न देखूँगा? नाग महाशय की स्त्री ने मुझे कितनी ही स्वादिष्ट वस्तुएँ बनाकर खिलायीं। उनका मकान कैसा सुन्दर है! मानो शान्तिआश्रम है। वहाँ पर जाकर एक तालाब में तैर लिया था। उसके बाद आकर ऐसी नींद लगी कि दिन के ढाई बज गये। मेरे जीवन में जितनी बार गाढ़ निद्रा लगी है नाग महाशय के मकान की नींद उनमें से एक है। फिर नाग महाशय की स्त्री ने प्रचुर स्वादिष्ट भोजन कराया तथा एक वस्त्र दिया। उसे सिर पर लपेटकर ढाका की ओर रवाना हुआ। देखा, नाग महाशय के चित्र की पूजा होती है। उनकी समाधि के स्थान को भली-भाँति रखना चाहिए। जैसा होना चाहिए, अभी वैसा नहीं हुआ है।

शिष्य--महाराज, नाग महाशय को उस देश के लोग ठीक तरह समझ नहीं सके।

स्वामीजी—उनके समान महापुरुष को साधारण लोग क्या समझ सकते हैं ? जिन्हें उनका सहवास प्राप्त हुआ है, वे धन्य हैं।

शिष्य—महाराज, कामाख्या में जाकर आपने क्या देखा ?

स्वामीजी—शिलाँग पहाड़ बहुत ही सुन्दर है। वहाँ पर चीफ कमिश्नर मिस्टर कॉटन के साथ साक्षात्कार हुआ था। उन्होंने मुझे पूछा—स्वामीजी, यूरोप और अमरीका घूमकर इस दूरवर्ती पर्वत के पास आप क्या देखने आये हैं ? कॉटन साहब जैसे सज्जन व्यक्ति प्राय: देखने में नहीं आते। उन्होंने मेरी अस्वस्थता की बात सुनकर सरकारी डॉक्टर भिजवाया था। वे सायं-प्रात: दोनों समय मेरी खबर लेते थे। वहाँ पर अधिक व्याख्यानादि न दे सका। शरीर बहुत ही अस्वस्थ हो गया था। रास्ते में निताई ने बहुत सेवा की।

शिष्य—वहाँ आपने धर्मभावना कैसी देखी ?

स्वामीजी—तन्त्र-प्रधान देश है; एक 'हंकर' देव का नाम सुना जो उस अंचल में अवतार मानकर पूजे जाते हैं। सुना है, उनका सम्प्रदाय बहुत व्यापक है। वह 'हंकर' देव शंकराचार्य का ही दूसरा नाम है या नहीं, समझ न सका। वे लोग त्यागी हैं—सम्भव है, तान्त्रिक संन्यासी हों अथवा शंकराचार्य का ही कोई सम्प्रदायविशेष हो।

इसके बाद शिष्य बोला, "महाराज, उस देश के लोग, सम्भव है नाग महाशय की तरह, आपको भी ठीक ठीक समझ न सके हों।"

स्वामीजी—समझें या न समझें—इस अंचल के लोगों की तुलना में उनका रजोगुण अवश्य प्रबल है; आगे चलकर उसका और भी विकास होगा। जिस प्रकार के चालचलन को इस समय सभ्यता या शिष्टाचार कहते हैं वह अभी तक उस प्रान्त में भली-

भाँति प्रविष्ट नहीं हुआ है। ऐसा धीरे धीरे होगा। सदैव राजधानी से ही अन्य विभागों में धीरे धीरे चालचलन, अदब-कायदा, आचारविचार आदि का विस्तार होता है। उस देश में भी ऐसा ही हो रहा है। जिस देश में नाग महाशय जैसे महापुरुष जन्म ग्रहण करते हैं, उस देश की फिर क्या चिन्ता? उनके प्रकाश से ही पूर्व बंग प्रकाशित हो रहा है।

शिष्य—परन्तु महाराज, साधारण लोग उन्हें उतना नहीं जानते थे। वे तो बहुत ही गुप्त रूप से रहते थे।

स्वामीजी—उस देश में लोग मेरे खाने-पीने के प्रश्न को लेकर बड़ी चर्चा किया करते थे। कहते थे—'वह क्यों खायेंगे; उसके हाथ का क्यों खायेंगे, आदि आदि।' इसलिए कहना पड़ता था—'मैं तो संन्यासी फकीर हूँ—मेरा नियम क्या? तुम्हारे शास्त्र में ही कहा है—'चरेन्माधुकरीं वृत्तिमपि म्लेच्छकुलादपि'—परन्तु भीतर धर्म की अनुभूति के लिए पहलेपहल बाहर की नियम-निष्ठा आवश्यक है। शास्त्र का ज्ञान अपने जीवन में कार्यरूप में परिणत करने के लिए वह बहुत आवश्यक है। श्रीरामकृष्ण की वह पत्रा निचोड़े हुए जल की कहानी सुनी है न?* नियमनिष्ठा केवल मनुष्य के भीतर की महाशक्ति के स्फुरण का उपाय मात्र है। जिससे भीतर की वह शक्ति जाग उठे और मनुष्य अपने स्वरूप को ठीक ठीक समझ सके, यही है सर्व शास्त्रों का उद्देश्य। सभी उपाय विधि-निषेध रूप हैं। उद्देश्य को भूलकर केवल उपाय

---

* पत्रा में लिखा रहता है—'इस वर्ष बीस इंच जल बरसेगा।' परन्तु पत्रा को निचोड़ने पर एक बूंद जल भी नहीं निकलता। इसी तरह शास्त्र में लिखा है, ऐसा ऐसा करने से ईश्वर का दर्शन होता है; वैसा न करके केवल शास्त्र के पन्ने उलटने से कुछ भी फल प्राप्त नहीं किया जा सकता।

लेकर लड़ने से क्या होगा ? जिस देश में भी जाता हूँ, देखता हूँ, उपाय लेकर ही लठ्ठबाजी चल रही है; उद्देश्य की ओर लोगों की दृष्टि नहीं है। श्रीरामकृष्ण यही दिखाने के लिए आये थे कि अनुभूति ही सार वस्तु है। हजार वर्ष गंगा-स्नान कर और हजार वर्ष निरामिष भोजन कर भी यदि आत्मविकास नहीं होता, तो सब जानना व्यर्थ हुआ। और नियमनिष्ठा पर ध्यान न रखकर यदि कोई आत्मदर्शन कर सके, तो वह अनाचार भी श्रेष्ठ नियमनिष्ठा है; परन्तु आत्मदर्शन होने पर भी, लोकसंस्थिति के लिए कुछ नियमनिष्ठा मानना ही उचित है। मुख्य बात है मन को एकनिष्ठ बनाना। एक विषय में निष्ठा होने से मन की एकाग्रता होती है अर्थात् मन की अन्य वृत्तियाँ शान्त होकर एक विषय में ही केन्द्रित हो जाती हैं। बहुतों का बाहर की नियमनिष्ठा या विधिनिषेध के झंझट में ही सारा समय बीत जाता है, फिर उसके बाद आत्मचिन्तन करना नहीं होता। दिनरात विधिनिषेधों की सीमा से आबद्ध रहने से आत्मा का प्रकाश कैसे होगा ? जो आत्मा का जितना अनुभव कर सका उसके विधिनिषेध उतने ही शिथिल हो जाते हैं। आचार्य शंकर ने भी कहा है, 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।' अतः मूल वस्तु है अनुभूति। उसे ही उद्देश्य या लक्ष्य जानना——मत-पथ रास्ता मात्र है। त्याग को ही उन्नति की कसौटी जानना। जहाँ पर काम-कांचन की आसक्ति कम देखो वह किसी भी मत या पथ का अनुगामी क्यों न हो——जान लेना, उसकी आत्मानुभूति का द्वार खुल गया है—— और हजार नियमनिष्ठा मानकर चले, हजार श्लोक सुने, पर फिर भी यदि त्याग का भाव न आया हो तो जानना, जीवन व्यर्थ है। अतएव यही अनुभूति प्राप्त करने के लिए तैयार हो

जा, शास्त्र तो बहुत पढ़ा। बोल तो उससे क्या हुआ ? कोई धन की चिन्ता करते करते धनकुबेर बन जाता है, और कोई शास्त्र-चिन्तन करते करते विद्वान बन जाता है। पर दोनों ही बन्धन हैं। पराविद्या प्राप्त करके विद्या और अविद्या से परे चला जा।

शिष्य--महाराज, आपकी कृपा से मैं सब समझता हूँ; परन्तु कर्म के चक्कर में पड़कर धारणा नहीं कर सकता।

स्वामीजी--कर्म-फर्म छोड़ दे। तूने ही पूर्व जन्म में कर्म करके इस देह को प्राप्त किया है, यह बात यदि सत्य है तो कर्म द्वारा कर्म को काटकर, तू ही फिर इसी देह में जीवन्मुक्त बनने का प्रयत्न क्यों नहीं करता ? निश्चय जान ले मुक्ति और आत्मज्ञान तेरे अपने ही हाथ में हैं। ज्ञान में कर्म का लवलेश भी नहीं है, परन्तु जो लोग जीवन्मुक्त होकर भी काम करते हैं, समझ लेना वे दूसरों के हित के लिए ही कर्म करते हैं। वे भले-बुरे परिणाम की ओर नहीं देखते। किसी वासना का बीज उनके मन में नहीं रहता। गृहस्थाश्रम में रहकर उस प्रकार यथार्थ परहित के लिए कर्म करना एक प्रकार से असम्भव समझना। समस्त हिन्दू शास्त्रों में उस विषय में एक जनक राजा का ही नाम है, परन्तु तुम लोग अब प्रतिवर्ष बच्चों को जन्म देकर घर घर में विदेह 'जनक' बनना चाहते हो !

शिष्य--आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे आत्मानुभूति की प्राप्ति इसी शरीर में हो जाय।

स्वामीजी--भय क्या है ? मन में अनन्यता आने पर, मैं निश्चित रूप से कहता हूँ, इस जन्म में ही आत्मानुभूति हो जायगी। परन्तु पुरुषकार चाहिए। पुरुषकार क्या है जानता है ? आत्मज्ञान प्राप्त करके ही रहूँगा; इसमें जो बाधा-विपत्ति सामने

आयगी उस पर अवश्य ही विजय प्राप्त करूँगा--इस प्रकार के दृढ़ संकल्प का नाम ही पुरुषकार है। माँ, बाप, भाई, मित्र, स्त्री, पुत्र, मरते हैं तो मरें, यह देह रहे तो रहे, न रहे तो न सही, में किसी भी तरह पीछे न देखूँगा। जब तक आत्मदर्शन नहीं होता तब तक इस प्रकार सभी विषयों की उपेक्षा कर, एक मन से अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होने की चेष्टा करने का नाम है पुरुषकार; नहीं तो दूसरे पुरुषकार तो पशु पक्षी भी कर रहे हैं। मनुष्य ने इस देह को प्राप्त किया है केवल उसी आत्मज्ञान को प्राप्त करने के लिए; संसार में सभी लोग जिस रास्ते से जा रहे हैं, क्या तू भी उसी स्रोत में बहकर चला जायगा? तो फिर तेरे पुरुषकार का मूल्य क्या है? सब लोग तो मरने बैठे हैं, पर तू तो मृत्यु को जीतने आया है। महावीर की तरह अग्रसर हो जा। किसी की परवाह न कर, कितने दिनों के लिए है यह शरीर? कितने दिनों के लिए हैं ये सुखदु:ख? यदि मानवशरीर को ही प्राप्त किया है, तो भीतर की आत्मा को जगा और बोल--"मैंने अभय-पद प्राप्त कर लिया है।" बोल--"मैं वही आत्मा हूँ, जिसमें मेरा क्षुद्र 'अहंभाव' लीन हो गया है।" इसी तरह सिद्ध बन जा; उसके बाद जितने दिन यह देह रहे, उतने दिन दूसरों को यह महावीर्य प्रद अभयवाणी सुना--'तत्त्वमसि,' 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।' यह होने पर तब जानूँगा कि तू वास्तव में एक सच्चा 'पूर्वी बंगाली' है।

परिच्छेद ३५

स्थल—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०१ ईसवी

विषय—स्वामीजी का मन:संयम—स्त्री-मठ की स्थापना के संकल्प के सम्बन्ध में शिष्य से बातचीत—एक ही चित्सत्ता स्त्री और पुरुष दोनों में समभाव से मौजूद है—प्राचीन युग में स्त्रियों का शास्त्र में कहाँ तक अधिकार था—स्त्री-जाति का सम्मान किये बिना किसी देश या जाति की उन्नति असम्भव है—तन्त्रोक्त वामाचार के दूषित भाव ही त्याज्य हैं—स्त्री-जाति का सम्मान व पूजा उचित व अनुष्ठेय हैं—भावी स्त्री-मठ की नियमावली—उस मठ में शिक्षा प्राप्त ब्रह्मचारिणियों के द्वारा समाज का किस प्रकार व्यापक कल्याण होगा—परब्रह्म में लिंग भेद नहीं है; केवल "मैं-तुम" के राज्य में लिंगभेद है—अत: स्त्री-जाति का ब्रह्मज्ञान होना असम्भव नहीं है—वर्तमान प्रचलित शिक्षा में अनेक त्रुटियाँ रहने पर भी वह निन्दनीय नहीं है—धर्म को शिक्षा की नींव बनानी होगी—मानव के भीतर ब्रह्म के विकास के सहायक कार्य ही सत्कार्य हैं—वेदान्त द्वारा प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान में कर्म का अत्यन्त अभाव रहने पर भी उसे प्राप्त करने में कर्म गौण रूप से सहायक होता है; क्योंकि कर्म द्वारा ही मनुष्य की चित्तशुद्धि होती है और चित्तशुद्धि न होने पर ज्ञान नहीं होता।

शनिवार सायंकाल शिष्य मठ में आया है। स्वामीजी का शरीर पूर्ण स्वस्थ नहीं है। वे शिलांग पहाड़ से अस्वस्थ होकर थोड़े दिन हुए लौटे हैं। उनके पैरों में सूजन आ गयी है, और समस्त शरीर में मानो जल का संचार हो गया है; इसलिए स्वामीजी के गुरुभाईगण बहुत ही चिन्तित हैं। बहुवाजार के श्री महानन्द वैद्य स्वामीजी का इलाज कर रहे हैं। स्वामी

निरंजनानन्द के अनुरोध से स्वामीजी ने वैद्य की दवा लेना स्वीकार किया है। आज रविवार है, आगामी मंगलवार से नमक और जल लेना बन्द करके नियमित दवा लेनी होगी।

शिष्य ने पूछा—"महाराज, यह विकट गर्मी का मौसम है। इस पर फिर आप प्रति घण्टे चार-पाँच बार जल पीते हैं। इसलिए जल पीना बन्द करके दवा लेना आपके लिए कठिन तो न होगा ?"

स्वामीजी—तू क्या कह रहा है। दवा लेने के दिन प्रातःकाल जल न पीने का दृढ़ संकल्प करूँगा, उसके बाद क्या मजाल है कि जल फिर कण्ठ से नीचे उतरे। मेरे संकल्प के कारण इक्कीस दिन जल फिर नीचे नहीं उतर सकेगा। शरीर तो मन का ही आवरण है। मन जो कहेगा, उसी के अनुसार तो उसे चलना होगा। फिर बात क्या है ? निरंजन के अनुरोध से मुझे ऐसा करना पड़ा। उन लोगों का (गुरुभाइयों का) अनुरोध तो मैं टाल नहीं सकता।

दिन के लगभग दस बजे का समय है। स्वामीजी ऊपर ही बैठे हैं। स्त्रियों के लिए जो भविष्य में मठ तैयार करेंगे उसके सम्बन्ध में शिष्य के साथ बातचीत कर रहे हैं। कह रहे हैं, 'माताजी को केन्द्र मानकर गंगा के पूर्वतट पर स्त्रियों के मठ की स्थापना करनी होगी। इस मठ में जिस प्रकार ब्रह्मचारी साधु तैयार होंगे, उसी प्रकार उस पार के स्त्रियों के मठ में भी ब्रह्मचारिणी और साध्वी स्त्रियाँ तैयार होंगी।'

शिष्य—महाराज, भारतवर्ष के इतिहास में बहुत प्राचीन काल से भी स्त्रियों के लिए तो किसी मठ की बात नहीं मिलती। बौद्ध युग में ही स्त्री-मठों की बात सुनी जाती है। परन्तु उसके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के व्यभिचार होने लगे थे। घोर

वामाचार से देश भर गया था।

स्वामीजी—इस देश में पुरुष और स्त्रियों में इतना अन्तर क्यों समझा जाता है यह समझना कठिन है। वेदान्तशास्त्र में तो कहा है, एक ही चित् सत्ता सर्वभूतों में विद्यमान है। तुम लोग स्त्रियों की निन्दा ही करते हो, परन्तु उनकी उन्नति के लिए तुमने क्या किया बोलो तो? स्मृति आदि लिखकर, नियम नीति में आबद्ध करके इस देश के पुरुषों ने स्त्रियों को एकदम बच्चा पैदा करने की मशीन बना डाला है। महामाया की साक्षात् मूर्ति—इन स्त्रियों का उत्थान न होने से क्या तुम लोगों की उन्नति सम्भव है?

शिष्य—महाराज, स्त्री-जाति साक्षात् माया की मूर्ति है। मनुष्य के अधःपतन के लिए ही मानो उनकी सृष्टि हुई है। स्त्री-जाति ही माया के द्वारा मनुष्य के ज्ञान-वैराग्य को आवृत्त कर देती है। सम्भव है इसीलिए शास्त्रों ने कहा है कि उन्हें ज्ञान-भक्ति का कभी लाभ न होगा।

स्वामीजी—किस शास्त्र में ऐसी बात है कि स्त्रियाँ ज्ञान-भक्ति की अधिकारिणी नहीं होंगी? भारत का अधःपतन उस समय हुआ जब ब्राह्मण पण्डितों ने ब्राह्मणेतर जातियों को वेदपाठ का अनधिकारी घोषित किया। और साथ ही, स्त्रियों के भी सभी अधिकार छीन लिये। नहीं तो, वैदिक युग में, उपनिषद युग में, तू देख कि मैत्रेयी, गार्गी आदि प्रातःस्मरणीय स्त्रियाँ ब्रह्मविचार में ऋषितुल्य हो गयी थीं। हजार वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में गार्गी ने गर्व के साथ याज्ञवल्क्य को ब्रह्मज्ञान के शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया था। इन सब आदर्श विदुषी स्त्रियों को जब उस समय अध्यात्म ज्ञान का अधिकार था तब फिर आज भी स्त्रियों को वह अधिकार क्यों न रहेगा? एक बार जो हुआ है, वह फिर

अवश्य ही हो सकता है। इतिहास की पुनरावृत्ति हुआ करती है। स्त्रियों की पूजा करके सभी जातियाँ बड़ी बनी हैं। जिस देश में, जिस जाति में स्त्रियों की पूजा नहीं है, वह देश, वह जाति कभी बड़ी नहीं बन सकती और न कभी बन ही सकेगी। तुम्हारी जाति का जो इतना अध:पतन हुआ है उसका प्रधान कारण है इन सब शक्ति-मूर्तियों का अपमान करना। मनु ने कहा है, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया: ॥* जहाँ पर स्त्रियों का सम्मान नहीं होता, वे दुखी रहती हैं; उस परिवार की—उस देश के उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए इन्हें पहले उठाना होगा। इनके लिए आदर्श मठ की स्थापना करनी होगी।

शिष्य—महाराज, प्रथम बार विलायत से लौटकर आपने स्टार थिएटर में भाषण देते हुए तन्त्र की कितनी निन्दा की थी। अब फिर तन्त्रों द्वारा समर्थित स्त्री-पूजा का समर्थन कर आप अपनी ही बात बदल रहे हैं।

स्वामीजी—तन्त्र का वामाचार मत बदलकर इस समय जो कुछ बना हुआ है, उसी की मैंने निन्दा की थी। तन्त्रोक्त मातृभाव की अथवा यथार्थ वामाचार की मैंने निन्दा नहीं की। भगवती मानकर स्त्रियों की पूजा करना ही तन्त्र का उद्देश्य है। बौद्ध धर्म के अध:पतन के समय वामाचार घोर दूषित हो गया था। वही दूषित भाव आजकल के वामाचार में प्रस्तुत है। अभी भी भारत के तन्त्रशास्त्र उसी भाव द्वारा प्रभावित हैं। उन सब बीभत्स प्रथाओं की ही मैंने निन्दा की थी, और अभी करता हूँ। जिस महामाया का रूपरसात्मक बाह्यविकास मनुष्य को पागल बनाये

* मनुस्मृति, ३।५६

रखता है, जिस माया का ज्ञान-भक्ति-विवेक-वैराग्यात्मक अन्त-र्विकास मनुष्य को सर्वज्ञ, सिद्धसंकल्प, ब्रह्मज्ञ बना देता है—उस प्रत्यक्ष मातृरूपा स्त्रियों की पूजा करने का निषेध मैंने कभी नहीं किया। 'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये'—इस महामाया को पूजा, प्रणाम द्वारा प्रसन्न न कर सकने पर क्या मजाल है कि ब्रह्मा, विष्णु तक उनके पंजे से छूटकर मुक्त हो जायँ ? गृहलक्ष्मियों की पूजा के उद्देश्य से उनमें ब्रह्मविद्या के विकास के निमित्त उनके लिए मठ बनवाकर जाऊँगा।

शिष्य—हो सकता है कि आपका यह संकल्प अच्छा है, परन्तु स्त्रियाँ कहाँ से मिलेंगी ? समाज के कड़े बन्धन के रहते कौन कुलवधुओं को स्त्री-मठ में जाने की अनुमति देगा ?

स्वामीजी—क्यों रे ? अभी भी श्रीरामकृष्ण की कितनी ही भक्तिमती लड़कियाँ हैं। उनसे स्त्री-मठ का प्रारम्भ करके जाऊँगा। श्रीमाताजी (श्रीमाँसारदा) उनका केन्द्र बनेंगी। श्रीरामकृष्णदेव के भक्तों की स्त्री-कन्याएँ आदि उसमें पहलेपहल निवास करेंगी, क्योंकि वे उस प्रकार के स्त्री-मठ की उपकारिता आसानी से समझ सकेंगी। उसके बाद उन्हें देखकर अन्य गृहस्थ लोग भी इस महत्कार्य के सहायक बनेंगे।

शिष्य—श्रीरामकृष्ण के भक्तगण इस कार्य में अवश्य ही सम्मिलित होंगे; परन्तु साधारण लोग इस कार्य में सहायक बनेंगे, ऐसा सरल प्रतीत नहीं होता।

स्वामीजी—जगत् का कोई भी महान् कार्य त्याग के बिना नहीं हुआ है। वटवृक्ष का अंकुर देखकर कौन समझ सकता है कि समय आने पर वह एक विराट वृक्ष बनेगा ? अब तो इसी रूप में मठ की स्थापना करूँगा। फिर देखना, एकाध पीढ़ी के बाद

दूसरे सभी देशवासी इस मठ की कद्र करने लगेंगे। ये जो विदेशी स्त्रियाँ मेरी शिष्या बनी हैं, ये ही इस कार्य में जीवन उत्सर्ग करेंगी। तुम लोग भय और कापुरुषता छोड़कर इस कार्य में लग जाओ और इस उच्च आदर्श को सभी के सामने रख दो। देखना, समय पर इसकी प्रभा से देश उज्ज्वल हो उठेगा।

शिष्य——महाराज, स्त्रियों के लिए किस प्रकार मठ बनाना चाहते हैं, कृपया विस्तार के साथ मुझे बतलाइये। मैं सुनने के लिए विशेष उत्कण्ठित हूँ।

स्वामीजी——गंगाजी के उस पार एक विस्तृत भूमिखण्ड लिया जायगा। उसमें अविवाहिता कुमारियाँ रहेंगी तथा विधवा ब्रह्मचारिणियाँ भी रहेंगी। साथ ही गृहस्थ घर की भक्तिमती स्त्रियाँ भी बीच बीच में आकर ठहर सकेंगी। इस मठ से पुरुषों का किसी प्रकार सम्बन्ध न रहेगा। पुरुष-मठ के वृद्ध साधुगण दूर से स्त्री-मठ का काम चलायेंगे। स्त्री-मठ में लड़कियों का एक स्कूल रहेगा। उसमें धर्मशास्त्र, साहित्य, संस्कृत, व्याकरण और साथ ही थोड़ीबहुत अंग्रेजी भी सिखायी जायगी। सिलाई का काम, रसोई बनाना, घर-गृहस्थी के सभी नियम तथा शिशुपालन के मोटे मोटे विषयों की शिक्षा भी दी जायगी। साथ ही जप, ध्यान, पूजा ये सब तो शिक्षा के अंग रहेंगे ही। जो स्त्रियाँ घर छोड़कर हमेशा के लिए यहीं रह सकेंगी, उनके भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध मठ की ओर से किया जायगा। जो ऐसा नहीं कर सकेंगी, वे इस मठ में दैनिक छात्राओं के रूप में आकर अध्ययन कर सकेंगी। यदि सम्भव होगा तो मठ के अध्यक्ष की अनुमति से वे यहाँ पर रहेंगी और जितने दिन रहेंगी भोजन भी पा सकेंगी। स्त्रियों से ब्रह्मचर्य का पालन कराने के लिए वृद्धा ब्रह्मचारिणियाँ छात्राओं

की शिक्षा का भार लेंगी। इस मठ में पाँच-सात वर्ष तक शिक्षा प्राप्त कर लड़कियों के अभिभावकगण उनका विवाह कर दे सकेंगे। यदि कोई अधिकारिणी समझी जायगी तो अपने अभिभावकों की सम्मति लेकर वह वहाँ पर चिरकौमार्य व्रत का पालन करती हुई ठहर सकेगी। जो स्त्रियाँ चिरकौमार्य व्रत का अवलम्बन करेंगी, वे ही समय पर मठ की शिक्षिकाएँ तथा प्रचारिकाएँ बन जायेंगी और गाँव गाँव, नगर नगर में शिक्षा-केन्द्र खोलकर स्त्रियों की शिक्षा के विस्तार की चेष्टा करेंगी। चरित्रशीला एवं धार्मिक भावसम्पन्ना प्रचारिकाओं के द्वारा देश में यथार्थ स्त्री-शिक्षा का प्रसार होगा। वे स्त्री-मठ के सम्पर्क में जितने दिन रहेंगी, उतने दिन तक ब्रह्मचर्य की रक्षा करना इस मठ का अनिवार्य नियम होगा। धर्मपरायणता, त्याग और संयम यहाँ की छात्राओं के अलंकार होंगे और सेवा-धर्म उनके जीवन का व्रत होगा। इस प्रकार आदर्श जीवन देखने पर कौन उनका सम्मान न करेगा?—और कौन उन पर अविश्वास करेगा? देश की स्त्रियों का इस प्रकार जीवन गठित हो जाने पर ही तो तुम्हारे देश में सीता, सावित्री, गार्गी का फिर से आविर्भाव हो सकेगा? देशाचार के घोर बन्धन से प्राणहीन, स्पन्दनहीन बनकर तुम्हारी लड़कियाँ कितनी दयनीय बन गयी हैं, यह तू एक बार पाश्चात्य देशों की यात्रा कर लेने पर ही समझ सकेगा। स्त्रियों की इस दुर्दशा के लिए तुम्हीं लोग जिम्मेदार हो। देश की स्त्रियों को फिर से जागृत करने का भार भी तुम्हीं पर है। इसीलिए तो मैं कह रहा हूँ कि बस काम में लग जा। क्या होगा व्यर्थ में केवल कुछ वेद-वेदान्त को रट कर?

शिष्य—महाराज, यहाँ पर शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी यदि

लड़कियाँ विवाह कर लेंगी तो फिर उनमें लोग आदर्श जीवन कैसे देख सकेंगे ? क्या यह नियम अच्छा न होगा कि जो छात्राएँ इस मठ में शिक्षा प्राप्त करेंगी, वे फिर विवाह न कर सकेंगी ?

स्वामीजी—ऐसा क्या एकदम ही होता है रे ? शिक्षा देकर छोड़ देना होगा। उसके पश्चात् वे स्वयं ही सोच समझकर जो उचित होगा करेंगी। विवाह करके गृहस्थी में लग जाने पर भी वैसी लड़कियाँ अपने पतियों को उच्च भाव की प्रेरणा देंगी और वीर पुत्रों की जननी बनेंगी। परन्तु यह नियम रखना होगा कि स्त्री-मठ की छात्राओं के अभिभावकगण पन्द्रह वर्ष की अवस्था के पूर्व उनके विवाह का नाम न लेंगे।

शिष्य—महाराज, फिर तो समाज उन सब लड़कियों की निन्दा करने लगेगा। उनसे कोई भी विवाह करना न चाहेगा।

स्वामीजी—क्यों नहीं ? तू समाज की गति को अभी तक समझ नहीं सका है। इन सब विदुषी और कुशल लड़कियों को वरों की कमी न होगी। "दशमे कन्यकाप्राप्ति..." इन सब वचनों पर आजकल समाज नहीं चल रहा है—चलेगा भी नहीं। अभी भी देख नहीं रहा है ?

शिष्य—आप चाहे जो कहें, परन्तु पहलेपहल इनके विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन अवश्य होगा।

स्वामीजी—आन्दोलन का क्या भय है ? सात्त्विक साहस से किये गये सत्कर्म में बाधा होने पर कार्य करने वालों की शक्ति और भी जाग उठेगी। जिसमें बाधा नहीं है—विरोध नहीं है वह मनुष्य को मृत्यु के पथ पर ले जाता है। संघर्ष ही जीवन का चिह्न है, समझा ?

शिष्य—जी हाँ।

स्वामीजी—परब्रह्म तत्त्व में लिंगभेद नहीं है। हमें 'मैं-तुम' की भूमि में लिंगभेद दिखायी देता है, फिर मन जितना ही अन्तर्मुख होता जाता है—उतना ही वह भेदज्ञान लुप्त होता जाता है। अन्त में, जब मन एकरस ब्रह्मतत्त्व में डूब जाता है, तब फिर यह स्त्री, वह पुरुष—आदि का ज्ञान बिलकुल नहीं रह जाता। हमने श्रीरामकृष्ण में यह भाव प्रत्यक्ष देखा है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि स्त्री-पुरुषों में बाह्य भेद रहने पर भी स्वरूप में कोई भेद नहीं है। अतः यदि पुरुष ब्रह्मज्ञ बन सके तो स्त्रियाँ क्यों न ब्रह्मज्ञ बन सकेंगी? इसीलिए कह रहा था, स्त्रियों में समय आने पर यदि एक भी ब्रह्मज्ञ बन सकी, तो उसकी प्रतिभा से हजारों स्त्रियाँ जाग उठेंगी और देश तथा समाज का कल्याण होगा, समझा?

शिष्य—महाराज, आपके उपदेश से आज मेरी आँखें खुल गयी हैं।

स्वामीजी—अभी क्या खुली हैं? जब सब कुछ उद्भासित करने वाले आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष करेगा, तब देखेगा, यह स्त्री-पुरुष के भेद का ज्ञान एकदम लुप्त हो जायगा; तभी स्त्रियाँ ब्रह्मरूपिणी ज्ञात होंगी। श्रीरामकृष्ण को देखा है—सभी स्त्रियों के प्रति मातृभाव—फिर वह चाहे किसी भी जाति की कैसी भी स्त्री क्यों न हो। मैंने देखा है न! इसीलिए मैं इतना समझाकर तुम लोगों को वैसा बनने के लिए कहता हूँ और लड़कियों के लिए गाँव गाँव में पाठशालाएँ खोलकर उन्हें शिक्षित बनाने के लिए कहता हूँ। स्त्रियाँ जब शिक्षित होंगी तभी तो उनकी सन्तान द्वारा देश का मुख उज्ज्वल होगा और देश में विद्या, ज्ञान, शक्ति, भक्ति जाग उठेगी।

शिष्य—परन्तु महाराज, मैं जहाँ तक समझता हूँ आधुनिक शिक्षा का विपरीत ही फल हो रहा है। लड़कियाँ थोड़ाबहुत पढ़ लेती हैं और बस कमीज गाऊन पहनना सीख जाती हैं। त्याग, संयम, तपस्या, ब्रह्मचर्य आदि ब्रह्मविद्या प्राप्त करने योग्य विषयों में उनकी क्या उन्नति हो रही है, यह समझ में नहीं आता।

स्वामीजी—पहलेपहल ऐसा ही हुआ करता है। देश में नये भाव का पहलेपहल प्रचार करते समय कुछ लोग उस भाव को ठीक ग्रहण नहीं कर सकते। इससे विराट समाज का कुछ नहीं बिगड़ता; परन्तु जिन लोगों ने आधुनिक साधारण स्त्री-शिक्षा के लिए भी प्रारम्भ में प्रयत्न किया था, उनकी महानता में क्या सन्देह है? असल बात यह है कि शिक्षा हो अथवा दीक्षा हो—धर्महीन होने पर उसमें त्रुटि रह ही जाती है। अब धर्म को केन्द्र बनाकर स्त्री-शिक्षा का प्रचार करना होगा। धर्म के अतिरिक्त दूसरी शिक्षाएँ गौण होंगी। धर्मशिक्षा, चरित्रगठन तथा ब्रह्मचर्य-पालन इन्हीं के लिए तो शिक्षा की आवश्यकता है। वर्तमान काल में आजतक भारत में स्त्री-शिक्षा का जो प्रचार हुआ है, उसमें धर्म को ही गौण बनाकर रखा गया है। तूने जिन सब दोषों का उल्लेख किया, वे इसी कारण उत्पन्न हुए हैं। परन्तु इसमें स्त्रियों का क्या दोष है बोल? संस्कारक स्वयं ब्रह्मज्ञ न बनकर स्त्री-शिक्षा देने के लिए अग्रसर हुए थे, इसीलिए उनमें उस प्रकार की त्रुटियाँ रह गयी हैं। सभी सत्कार्यों के प्रवर्तकों को अभीप्सित कार्य के अनुष्ठान के पूर्व कठोर तपस्या की सहायता से आत्मज्ञ हो जाना चाहिए, नहीं तो उनके काम में गलतियाँ निकलेंगी ही। समझा?

शिष्य—जी हाँ। देखा जाता है, अनेक शिक्षित लड़कियाँ

केवल नाटक उपन्यास पढ़कर ही समय बिताया करती हैं; परन्तु पूर्व बंग में लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करके भी नाना व्रतों का अनुष्ठान करती हैं। इस देश में भी क्या वैसा ही करती हैं ?

स्वामीजी——भले-बुरे लोग तो सभी देशों तथा सभी जातियों में हैं। हमारा काम है——अपने जीवन में अच्छे काम करके लोगों के सामने उदाहरण रखना। निन्दा करके कोई काम सफल नहीं होता। केवल लोग बहक जाते हैं। लोग जो चाहे कहें, विरुद्ध तर्क करके किसी को हराने की चेष्टा न करना। इस माया के जगत् में जो कुछ करेगा, उसमें दोष रहेगा ही——'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृत:'——आग रहने से ही धुआँ उठेगा। परन्तु क्या इसीलिए निश्चेष्ट होकर बैठे रहना चाहिए ? नहीं, शक्ति भर सत्कार्य करते ही रहना होगा।

शिष्य——महाराज, अच्छा काम क्या है ?

स्वामीजी——जिससे ब्रह्म के विकास में सहायता मिलती है, वही अच्छा काम है। प्रत्येक कार्य प्रत्यक्ष न हो, परोक्ष रूप में आत्म-तत्त्व के विकास के सहायक रूप में किया जा सकता है। परन्तु ऋषियों द्वारा चलाये हुए पथ पर चलने से वह आत्मज्ञान शीघ्र ही प्रकट हो जाता है और जिन कार्यों को शास्त्रों ने अन्याय कहा है, उन्हें करने से आत्मा को बन्धन होता है, जिससे कभी कभी तो जन्म-जन्मान्तर में भी वह मोहबन्धन नहीं कटता। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जीव की मुक्ति सभी देशों तथा कालों में अवश्यम्भावी है, क्योंकि आत्मा ही जीव का वास्तविक स्वरूप है। अपना स्वरूप क्या कोई स्वयं छोड़ सकता है ? तेरी छाया के साथ तू हजार वर्ष लड़कर भी क्या उसको भगा सकता है ?——वह तेरे साथ रहेगी ही।

शिष्य---परन्तु महाराज, आचार्य शंकर के मत के अनुसार कर्म भी ज्ञान का विरोधी है---उन्होंने ज्ञान-कर्म-समुच्चय का बार बार खण्डन किया है। अत: कर्म ज्ञान का प्रकाशक कैसे बन सकता है ?

स्वामीजी---आचार्य शंकर ने वैसा कहकर फिर ज्ञान के विकास के लिए कर्म को आपेक्षिक सहायक तथा चित्तशुद्धि का उपाय बताया है; परन्तु विशुद्ध ज्ञान में कर्म का अनुप्रवेश भी नहीं है; मैं भाष्यकार के इस सिद्धान्त का प्रतिवाद नहीं कर रहा हूँ। जितने दिन मनुष्य को क्रिया, कर्ता और कर्म का ज्ञान रहेगा, उतने दिन क्या मजाल है कि वह काम न करते हुए बैठा रहे ? अत: जब कर्म ही जीव का सहायक सिद्ध हो रहा है, तो जो सब कर्म इस आत्मज्ञान के विकास के लिए सहायक हैं, उन्हें क्यों नहीं करता रहता है ? कर्ममात्र ही भ्रमात्मक है---यह बात पारमार्थिक रूप से यथार्थ होने पर भी व्यावहारिक रूप में कर्म की विशेष उपयोगिता रही ही है। तू जब आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष कर लेगा, तब कर्म करना या न करना तेरी इच्छा के आधीन बन जायगा। उस स्थिति में तू जो कुछ करेगा, वही सत्कर्म बन जायगा। इससे जीव और जगत् दोनों का कल्याण होगा। ब्रह्म का विकास होने पर तेरे श्वास-प्रश्वास की तरंगें तक जीव की सहायक हो जायँगी; उस समय फिर किसी विशेष योजना के साथ कर्म करना नहीं पड़ेगा, समझा ?

शिष्य---अहा ! यह तो वेदान्त के कर्म और ज्ञान का समन्वय करनेवाली बड़ी सुन्दर मीमांसा है।

इसके पश्चात् नीचे प्रसाद पाने की घण्टी बजी और स्वामीजी ने शिष्य को प्रसाद पाने के लिए जाने को कहा। शिष्य भी

स्वामीजी के चरणकमलों में प्रणाम करके जाने के पूर्व हाथ जोड़कर बोला, "महाराज, आपके स्नेहाशीर्वाद से इसी जन्म में मुझे ब्रह्मज्ञान हो जाय।" स्वामीजी ने शिष्य के मस्तक पर हाथ रखकर कहा, "भय क्या है भाई ? तुम लोग क्या अब भी इस जगत् के लोग रह गये हो ?—न गृहस्थ, न संन्यासी-तुम तो एक नया ही रूप हो।"

परिच्छेद ३६

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०१ ईसवी

विषय—स्वामीजी का इन्द्रिसंयम, शिष्यप्रेम, रन्धन में कुशलता तथा असाधारण स्मृति-शक्ति—राय गुणाकार भारतचन्द्र व माइकेल मधुसूदन दत्त के सम्बन्ध में उनकी राय।

स्वामीजी का शरीर कुछ अस्वस्थ है। स्वामी निरंजनानन्द के विशेष अनुरोध से आज पाँच-सात दिन से वे वैद्य की दवा ले रहे हैं; इस दवा में जल पीना बिलकुल मना है। केवल दूध पीकर प्यास बुझानी पड़ रही है।

शिष्य प्रातःकाल ही मठ में आया है। स्वामीजी ने जो उस प्रकार दवा लेना शुरू किया है, यह उसने इससे पहले नहीं सुना था। स्वामीजी के चरणकमलों के दर्शन की इच्छा से वह ऊपर गया। वे उसे देखकर स्नेहपूर्वक बोले, "आ गया! अच्छा हुआ; तेरी ही बात सोच रहा था।"

शिष्य—महाराज, सुना है, आप पाँच-सात दिनों से केवल दूध पीकर ही रहते हैं?

स्वामीजी—हाँ, निरंजन के प्रबल आग्रह से वैद्य की दवा लेनी पड़ी। उनकी बात तो मैं टाल नहीं सकता।

शिष्य—आप तो घण्टे में पाँच छः बार जल पिया करते थे, उसे एकदम कैसे त्याग दिया?

स्वामीजी—जब मैंने सुना कि इस दवा का सेवन करने से जल

बन्द कर देना होगा, तब दृढ़ संकल्प कर लिया कि जल न पीऊँगा। अब फिर जल की बात मन में भी नहीं आती।

शिष्य--दवा से रोग की शान्ति तो हो रही है न?

स्वामीजी--शान्ति आदि तो नहीं जानता। गुरुभाइयों की आज्ञा का पालन किये जा रहा हूँ।

शिष्य--सम्भव है देशी वैद्यक की दवाएँ हमारे शरीर के लिए अधिक उपयोगी होती हों।

स्वामीजी--परन्तु मेरी राय है कि किसी वर्तमान चिकित्सा-विज्ञान के विशारद के हाथ से मरना भी अच्छा है। अनाड़ी लोग, जो वर्तमान शरीर-विज्ञान का कुछ भी ज्ञान नहीं रहते, केवल प्राचीन काल की पोथी-पत्रों की दुहाई देकर अंधेरे में दाँव लगा रहे हैं, यदि उन्होंने दो चार रोगियों को भला कर भी दिया, तो भी उसके हाथ से रोगमुक्त होने की आशा करना व्यर्थ है।

इसके पश्चात् स्वामीजी ने अपने हाथ से कुछ खाद्य द्रव्य पकाये। उसमें से एक वरमिसेली (Vermicelli--सिमई) थी। शिष्य ने इस जन्म में कभी वरमिसेली नहीं खायी थी। पूछने पर स्वामीजी बोले, "वे सब विलायती केचुवे हैं। मैं लन्दन से सुखाकर लाया हूँ!" मठ के संन्यासीगण सभी हँस पड़े। शिष्य यह हँसी न समझता हुआ चुपचाप बैठा रहा। वैद्यराज की दवा के साथ कठिन नियमों का पालन करने के लिए अब स्वामीजी का आहार अत्यन्त अल्प हो गया था और नींद तो बहुत दिनों से उन्हें एक प्रकार छोड़ ही बैठी थी; परन्तु इस अनाहार, अनिद्रा में भी स्वामीजी को विश्राम नहीं है। कुछ दिन हुए, मठ में नया अंग्रेजी विश्वकोष (Encyclopaedia Britannica) ख़रीदा गया है। नयी चमकीली पुस्तकों को देखकर शिष्य ने स्वामीजी से

कहा, "इतनी पुस्तकें एक जीवन में पढ़ना तो कठिन है।" उस समय शिष्य नहीं जानता था कि स्वामीजी ने उस ग्रन्थ के दस खण्डों का इसी बीच में अध्ययन समाप्त करके ग्यारहवें खण्ड का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया है।

स्वामीजी--क्या कहता है ? इन दस पुस्तकों में से मुझसे जो चाहे पूछ ले--सब बता दूंगा।

शिष्य ने विस्मित होकर पूछा, "क्या आपने इन सभी पुस्तकों को पढ़ लिया है ?"

स्वामीजी--क्या बिना पढ़े ही कह रहा हूँ ?

इसके अनन्तर स्वामीजी का आदेश प्राप्त कर शिष्य उन सब पुस्तकों से चुन चुनकर कठिन विषयों को पूछने लगा। आश्चर्य की बात है--स्वामीजी ने उन सब विषयों का मर्म तो कहा ही, पर स्थान स्थान पर पुस्तक की भाषा तक उद्धृत की। शिष्य ने उस विराट ग्रन्थ के दस खण्डों में से प्रत्येक खण्ड से दो एक विषय पूछे और स्वामीजी की असाधारण बुद्धि तथा स्मरणशक्ति को देख विस्मित होकर पुस्तकों को उठाकर रखते हुए उसने कहा, "यह मनुष्य की शक्ति नहीं है।"

स्वामीजी--देखा, एकमात्र ब्रह्मचर्य का ठीक ठीक पालन कर सकने पर सभी विद्याएँ क्षण भर में याद हो जाती हैं--मनुष्य श्रुतिधर, स्मृतिधर बन जाता है। ब्रह्मचर्य के अभाव से ही हमारे देश का सब कुछ नष्ट हो गया।

शिष्य--महाराज, आप जो भी कहें, केवल ब्रह्मचर्यरक्षा के परिणाम में इस प्रकार अलौकिक शक्ति का स्फुरण कभी सम्भव नहीं है, इसके लिए और भी कुछ चाहिए।

उत्तर में स्वामीजी ने कुछ भी नहीं कहा।

इसके बाद स्वामीजी सर्वदर्शनों के कठिन विषयों के विचार और सिद्धान्त शिष्य को सुनाने लगे। हृदय में उन सिद्धान्तों को प्रविष्ट करा देने के ही लिए मानो आज वे इन सिद्धान्तों की उस प्रकार विशद व्याख्या करके समझाने लगे। यह वार्तालाप हो ही रहा है कि इसी समय स्वामी ब्रह्मानन्द स्वामीजी के कमरे में प्रवेश करके शिष्य से बोले, "तू तो अच्छा आदमी है! स्वामीजी का शरीर अस्वस्थ है। अपने सम्भाषण के द्वारा स्वामीजी के मन को प्रफुल्लित करने के बदले तू उन सब कठिन प्रसंगों को उठाकर स्वामीजी से व्यर्थ की वात कर रहा है।" शिष्य लज्जित होकर अपनी भूल समझ गया, परन्तु स्वामीजी ने ब्रह्मानन्द महाराज से कहा, "ले रख दे अलग अपने वैद्य के नियम——ये लोग मेरी सन्तान हैं, इन्हें सदुपदेश देते देते यदि मेरी देह भी चली जाय तो क्या हानि है?" परन्तु शिष्य उसके पश्चात् फिर कोई दार्शनिक प्रश्न न करके, पूर्व बंग की भाषा पर हास्य करने लगा। स्वामीजी भी शिष्य के साथ उसमें सम्मिलित हो गये। थोड़ी देर तक यही हुआ और फिर बंग साहित्य में भारतचन्द्र के स्थान के सम्बन्ध में चर्चा शुरू हुई। उस सम्बन्ध में थोड़ाबहुत जो कुछ याद है—— यहाँ पर उल्लेख कर रहा हूँ।

पहले से स्वामीजी ने भारतचन्द्र को लेकर हँसी करना शुरू किया और उस समय के सामाजिक आचार, व्यवहार, विवाह-संस्कार आदि की भी अनेक प्रकार से हँसी उड़ाने लगे। उन्होंने कहा कि समाज में बालविवाह-प्रथा को चलाने के पक्षपाती भारतचन्द्र की कुरुचि तथा उनके अश्लीलतापूर्ण काव्य आदि बंगदेश के सिवाय अन्य किसी देश के सभ्य समाज में ऐसे मान्य नहीं हुए। फिर कहा कि लड़कों के हाथ में वह पुस्तक न पहुँचे

ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। फिर माइकेल मधुसूदन दत्त की बात चलाकर बोले, "वह एक अपूर्व मनस्वी व्यक्ति तुम्हारे देश में पैदा हुए थे। मेघनाथ-वध की तरह दूसरा काव्य बंगला भाषा में तो है ही नहीं, समस्त यूरोप में भी वैसा कोई काव्य आजकल मिलना कठिन है।"

शिष्य ने कहा, "परन्तु महाराज, माइकेल को शायद शब्दा-डम्बर बहुत प्रिय है।"

स्वामीजी—तुम्हारे देश में कोई कुछ नयी बात करे तो तुम लोग उसके पीछे पड़ जाते हो। पहले अच्छी तरह देखो कि वह आदमी क्या कह रहा है। पर ऐसा न करके ज्यों ही किसी में कोई नयी बात दिखायी दी कि लोग उसके पीछे पड़ गये। यह 'मेघनाद-वध'—जो तुम्हारी बंगला भाषा का मुकुटमणि है—उसे नीचा दिखाने के लिए एक 'छछूंदर-वध' काव्य लिखा गया! पर इससे हुआ क्या? करता रहे जो कोई जो कुछ चाहे! वही मेघनाद-वध काव्य अब हिमालय की तरह अटल होकर खड़ा है; परन्तु उसमें दोष निकालने में जो लोग व्यस्त थे, उन सब समालोचकों के मत और लेख अब न जाने कहाँ बह गये हैं! माइकेल नवीन छन्द और ओजपूर्ण भाषा में जिस काव्य की रचना कर गये हैं, उसे साधारण लोग क्या समझेंगे? इसी प्रकार यह जो जी० सी० आजकल नये छन्दों में अनेकानेक उत्कृष्ट पुस्तकें लिख रहा है, उनकी भी तो तुम्हारे बुद्धिमान पण्डितगण कितनी समालोचना कर रहे हैं—दोष निकाल रहे हैं! पर क्या जी० सी० उसकी परवाह करता है? समय आने पर ही लोग उन सब पुस्तकों का मूल्य समझेंगे।

इस प्रकार माइकेल की बात चलते चलते उन्होंने कहा,

"जा, नीचे लाइब्रेरी से मेघनाद वध-काव्य ले तो आ।" शिष्य मठ की लाइब्रेरी से मेघनाद-वध काव्य ले आया और उसे लेकर स्वामीजी ने कहा, "पढ़, देखूँ तो, तू कैसा पढ़ता है?"

शिष्य पुस्तक खोलकर प्रथम सर्ग का कुछ अंश यथासाध्य पढ़ने लगा, परन्तु उसका पढ़ना स्वामीजी को रुचिकर न लगा। अतएव उन्होंने उस अंश को स्वयं पढ़कर बताया और शिष्य से फिर उसे पढ़ने के लिए कहा। अब शिष्य को बहुत कुछ सफल होते देख उन्होंने प्रसन्न होकर पूछा, "बोल तो, इस काव्य का कौन अंश सर्वोत्कृष्ट है?"

शिष्य उत्तर देने में असमर्थ होकर चुपचाप बैठा है, यह देखकर स्वामीजी बोले, "जहाँ पर इन्द्रजित युद्ध में निहत हुआ है--मन्दोदरी शोक से कातर होकर रावण को युद्ध में जाने से रोक रही है, परन्तु रावण पुत्रशोक को मन से जबरदस्ती हटाकर महावीर की तरह युद्ध में जाना निश्चय कर प्रतिहिंसा और क्रोध की आग में स्त्री-पुत्र सब भूल कर युद्ध के लिए बाहर जाने को तैयार है—वहीं है काव्य की श्रेष्ठ कल्पना! चाहे जो हो, पर मैं अपना कर्तव्य नहीं भूल सकता; फिर दुनिया रहे या जाय--यही है महावीर का वाक्य। माइकेल ने उसी भाव में अनुप्राणित होकर काव्य के उस अंश को लिखा था।"

ऐसा कहकर स्वामीजी ग्रन्थ खोलकर उस अंश को पढ़ने लगे। स्वामीजी की वह वीर-दर्प व्यंजक पठनशैली आज भी शिष्य के मन में ज्वलन्त रूप में जाग्रत है।

परिच्छेद ३७

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०१ ईसवी

विषय—आत्मा अति निकट है, फिर भी उसकी अनुभूति आसानी से क्यों नहीं होती—अज्ञान स्थिति दूर होकर ज्ञान का प्रकाश होने पर जीव के मन में नाना प्रकार के सन्देह, प्रश्न आदि फिर नहीं उठते—स्वामीजी की ध्यानतन्मयता।

स्वामीजी अभी भी कुछ अस्वस्थ हैं; कविराज की दवा से काफी लाभ हुआ है। एक मास से अधिक समय तक केवल दूध पीकर रहने के कारण स्वामीजी के शरीर से आजकल मानो चन्द्रमा की सी कान्ति प्रस्फुटित हो रही है और उनके बड़े बड़े नेत्रों की ज्योति और भी अधिक बढ़ गयी है।

आज दो दिनों से शिष्य मठ में ही है और अपनी शक्ति भर स्वामीजी की सेवा कर रहा है। आज अमावस्या है। निश्चित हुआ है कि शिष्य और स्वामी निर्भयानन्दजी रात को बारी बारी से स्वामीजी की सेवा का भार लेंगे। सन्ध्या हो रही है। स्वामीजी की चरणसेवा करते करते शिष्य ने पूछा, "महाराज, जो आत्मा सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अणु-परमाणु में विद्यमान रहकर तथा जीव के प्राणों का प्राण बनकर उसके इतने निकट है, उसका अनुभव फिर क्यों नहीं होता ?"

स्वामीजी—क्या तू जानता है कि तेरी आँखें हैं? जब कोई आँख की बात करता है, उस समय 'मेरी आँख है' इस प्रकार की कोई धारणा होती है; परन्तु आँख में मिट्टी पड़ने पर जब आँख

किरकिराती है, तब यह ठीक ठीक समझा जाता है कि हाँ आँख है। इसी प्रकार निकट से निकट होने पर भी यह विराट आत्मा सरलता से समझ में नहीं आती। शास्त्र या गुरु के मुख से सुनकर कुछ कुछ धारणा अवश्य होती है। परन्तु जब संसार के तीव्र शोक-दुःख के कठोर आघात से हृदय व्यथित होता है, जब स्वजनों के वियोग द्वारा जीव अपने को अवलम्बनशून्य अनुभव करता है, जब भविष्य जीवन के अलंघ्य दुर्भेद्य अंधकार में उसका प्राण घबड़ा उठता है, उसी समय जीव इस आत्मा के दर्शन के लिए उन्मुख होता है। दुःख आत्मज्ञान का सहायक इसीलिए है; परन्तु धारणा रहनी चाहिए। दुःख पाते पाते कुत्ते-बिल्लियों की तरह जो लोग मरते हैं, वे भी मनुष्य हैं? सच्चे मनुष्य वही हैं जो इस सुख-दुःख के द्वन्द्व-प्रतिघातों से तंग आकर भी विवेक के बल पर उन सभी को क्षणिक मान आत्मप्रेम में मग्न रहते हैं। मनुष्य तथा दूसरे जीव-जानवरों में यही भेद है। जो चीज जितनी निकट होती है, उसकी उतनी ही कम अनुभूति होती है। आत्मा निकट से निकट है, इसीलिए असंयत चंचलचित्त जीव उसे समझ नहीं पाते। परन्तु जिनका मन वशीभूत है ऐसे शान्त और जितेन्द्रिय विचारशील जीव बहिर्जगत् की उपेक्षा करके अन्तर्जगत् में प्रवेश करते करते समय पर इस आत्मा की महिमा की उपलब्धि कर गौरवान्वित हो जाते हैं। उसी समय वह आत्मज्ञान प्राप्त करता है और 'मैं ही वह आत्मा हूँ' 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' आदि वेद के महावाक्यों का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है। समझा?

शिष्य—जी हाँ। परन्तु महाराज, इन दुःख, क्लेश और वेदनाओं के मार्ग से आत्मज्ञान को प्राप्त करने की व्यवस्था क्यों है? इससे तो सृष्टि न होती तभी अच्छा था। हम सभी तो

एक समय ब्रह्म में लीन थे। ब्रह्म की इस प्रकार सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा ही क्यों होती है ? और इस द्वन्द्व-घात-प्रतिघात में साक्षात् ब्रह्मरूपी जीव का इस जन्ममृत्युपूर्ण पथ से आना-जाना ही क्यों होता है ?

स्वामीजी——मतवाले बन जाने पर लोग कितनी बातें देखते हैं, परन्तु नशा दूर होते ही उन्हें मस्तिष्क का भ्रम समझ में आ जाता है। तू अनादि परन्तु सान्त सृष्टि के ये जो माया-प्रसूत खेल देख रहा है वह तेरी मतवाली अवस्था के कारण है। इस मतवालेपन के दूर होते ही तेरे ये सब प्रश्न नहीं रहेंगे।

शिष्य——महाराज, तो क्या सृष्टि, स्थिति आदि कुछ भी नहीं है ?

स्वामीजी——हैं क्यों नहीं ? जब तक तू इस देहबुद्धि को पकड़कर 'मैं-मैं' कर रहा है, तब तक ये सभी कुछ हैं; और जब तू विदेह, आत्मरत और आत्मक्रीड़ बन जायगा तब तेरे लिए ये सब कुछ भी नहीं रहेंगे। सृष्टि, जन्म, मृत्यु आदि हैं या नहीं——इस प्रश्न का भी उस समय फिर अवसर नहीं रहेगा। उस समय तुझे बोलना होगा——

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम् ॥

शिष्य——जगत् का ज्ञान यदि बिलकुल न रहे तो 'कुत्र लीन-मिदं जगत्' यह बात फिर कैसे कही जा सकती है ?

स्वामीजी——भाषा में उस भाव को व्यक्त करके समझाना पड़ रहा है, इसीलिए वैसा कहा गया है। जहाँ पर भाव और भाषा के प्रवेश का अधिकार नहीं है उस स्थिति को भाव और भाषा में व्यक्त करने की चेष्टा ग्रन्थकार ने की है। इसीलिए यह जगत्

बिलकुल मिथ्या है इस बात को व्यावहारिक रूप में ही कहा है; पारमार्थिक सत्ता जगत् की नहीं है। वह केवल 'अवाङ्मनस-गोचरम्' ब्रह्म की ही है। बोल, तेरा और क्या कहना है। आज तेरा तर्क शान्त कर दूँगा।

मन्दिर में आरती की घण्टी बजी। मठ के सभी लोग मन्दिर में चले। शिष्य को उसी कमरे में बैठे रहते देख स्वामीजी बोले, "मन्दिर में नहीं गया ?"

शिष्य—मुझे यहीं रहना अच्छा लग रहा है।

स्वामीजी—तो रह।

कुछ समय के बाद शिष्य कमरे के बाहर देखकर बोला, "आज अमावस्या है। चारों ओर अन्धकार छा गया है। आज कालीपूजा का दिन है।"

स्वामीजी शिष्य की उस बात पर कुछ न कहकर, खिड़की से पूर्वाकाश की ओर एकटक हो कुछ समय तक देखते रहे और बोले, "देख रहा है, अन्धकार की कैसी अद्‌भुत गम्भीर शोभा है !" और यह कहकर उस गम्भीर तिमिरराशि के बीच देखते देखते स्तम्भित होकर खड़े रहे। अब सब कुछ शान्त है, केवल दूर मन्दिर के भक्तगणों द्वारा पठित श्रीरामकृष्ण-स्तव शिष्य को सुनायी दे रहा है। शिष्य ने स्वामीजी में यह गम्भीरता पहले कभी नहीं देखी थी, और साथ ही गम्भीर अन्धकार से आवृत्त बहिः-प्रकृति का निस्तब्ध स्थिर भाव देखकर शिष्य का मन एक अपूर्व भय से आकुल हो उठा। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होने पर स्वामीजी धीरे धीरे गाने लगे, "निबिड़ आँधारे माँ, तोर चमके अरूपराशि" इत्यादि।

गीत समाप्त होने पर स्वामीजी कमरे के भीतर जाकर बैठ

गये और बीच बीच में "माँ माँ" "काली काली" कहने लगे।
उस समय कमरे में और कोई न था, केवल शिष्य स्वामीजी की आज्ञा का पालन करने के लिए प्रस्तुत था।

स्वामीजी का उस समय का मुख देखकर शिष्य को ऐसा लगा मानो वे किसी एक दूर देश में निवास कर रहे हैं। चंचल शिष्य उनका उस प्रकार का भाव देखकर व्यथित होकर बोला, "महाराज, अब बातचीत कीजिये।"

स्वामीजी मानो उसके मन के भाव को समझकर ही मृदु हास्य करते हुए उससे बोले, "जिसकी लीला इतनी मधुर है, उस आत्मा की सुन्दरता और गम्भीरता कैसी होगी, सोच तो!" उनका वह गम्भीर भाव अभी भी उसी प्रकार देखकर शिष्य बोला, "महाराज, उन सब बातों की अब और आवश्यकता नहीं है। मैंने भी न जाने क्यों आपसे अमावस्या और कालीपूजा की बात की—उस समय से आप में न जाने कैसा परिवर्तन हो गया है।" स्वामीजी शिष्य की मानसिक स्थिति को समझकर गाना गाने लगे—"कखन कि रंगे थाको माँ श्यामा सुधातरंगिणी" इत्यादि।

गाना समाप्त होने पर स्वामीजी ने कहा, "यह काली ही लीलारूपी ब्रह्म है। श्रीरामकृष्ण का 'साँप का चलना और साँप का स्थिर भाव'—नहीं सुना?"

शिष्य—जी हाँ।

स्वामीजी—अबकी बार स्वस्थ होने पर हृदय का रक्त देकर माँ की पूजा करूँगा। रघुनन्दन ने कहा है, 'नवम्यां पूजयेत् देवी कृत्वा रुधिरकर्दमम्'—अब मैं वही करूँगा। माँ की पूजा छाती का रक्त देकर करनी पड़ती है, तभी वह प्रसन्न होती है और

तभी माँ के पुत्र वीर होंगे--महावीर होंगे। निरानन्द में, दुःख में, प्रलय में, महाप्रलय में माँ के लड़के निडर बने रहेंगे।

यह बातचीत चल रही थी कि इसी समय नीचे प्रसाद पाने की घण्टी बजी। घण्टी सुनकर स्वामीजी बोले, "जा, नीचे प्रसाद पाकर जल्दी आना।" शिष्य नीचे उतर गया।

परिच्छेद ३८

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०१ ईसवी

विषय—यह देखकर कि इच्छा के अनुसार कार्य अग्रसर नहीं हो रहा है स्वामीजी के चित्त में खेद—वर्तमान काल में देश में किस प्रकार आदर्श का आदर होना कल्याणकर है—महावीर का आदर्श—देश में वीर की कठोर-प्राणता के योग्य सभी विषयों के आदर का प्रचलन करना होगा—सभी प्रकार की दुर्बलताओं का परित्याग करना होगा—स्वामीजी के शब्दों की अपूर्व शक्ति का उदाहरण—लोगों को शिक्षा देने के लिए शिष्य को प्रोत्साहित करना—सभी की मुक्ति न होने पर व्यष्टि की मुक्ति सम्भव नहीं, इस मत की आलोचना व प्रतिवाद—धारावाहिक कल्याण-चिन्तन द्वारा जगत् का कल्याण करना।

स्वामीजी आजकल मठ में ही ठहर रहे हैं। शरीर कुछ अधिक स्वस्थ नहीं है; परन्तु प्रातःकाल और सायंकाल घूमने निकलते हैं। आज शनिवार; शिष्य मठ में आया है। स्वामीजी के चरण-कमलों में प्रणाम करके कुशल प्रश्न पूछ रहा है।

स्वामीजी—इस शरीर की तो यही स्थिति है। तुममें से तो कोई भी मेरे काम में हाथ बँटाने के लिए अग्रसर नहीं हो रहा है। मैं अकेला क्या करूँगा बोल ? बंगाल प्रान्त की भूमि में यह शरीर पैदा हुआ है। इस अस्वस्थ शरीर से क्या और अधिक कामकाज चल सकता है ? तुम लोग सब यहाँ पर आते हो—शुद्ध पात्र हो, तुम लोग यदि मेरे इस काम में सहायक न बनोगे तो मैं अकेला क्या करूँगा बोलो ?

शिष्य---महाराज, ये सब ब्रह्मचारी, त्यागी पुरुषगण आपके पीछे खड़े हैं। मैं समझता हूँ, आपके काम में इनमें से प्रत्येक व्यक्ति जीवनदान भी देने को तैयार है, फिर भी आप ऐसी बात क्यों कर रहे हैं?

स्वामीजी---वास्तव में मैं चाहता हूँ---युवक बंगालियों का एक दल। वे ही देश की आशा हैं। चरित्रवान्, बुद्धिमान, दूसरों के लिए सर्वस्व भी त्याग देने वाले तथा आज्ञाकारी युवकों पर ही मेरा भविष्य का कार्य निर्भर है। उन्हींसे मुझे भरोसा है जो मेरे भावों को जीवन में प्रत्यक्ष परिणत कर अपना और देश का कल्याण करने में जीवनदान कर सकेंगे। नहीं तो, झुण्ड के झुण्ड कितने ही लड़के आ रहे हैं और आयेंगे, पर उनके मुख का भाव तमोपूर्ण है। हृदय में उद्यम की आकांक्षा नहीं, शरीर में शक्ति नहीं और मन में साहस नहीं। इन्हें लेकर क्या काम होगा? नचिकेता की तरह श्रद्धावान दस बारह लड़के पाने पर मैं देश की चिन्ता और प्रयत्न को नवीन पथ पर परिचालित कर सकता हूँ।

शिष्य---महाराज, इतने युवक आपके पास आ रहे हैं, उनमें से आप क्या इस प्रकार किसीको भी नहीं देख रहे हैं?

स्वामीजी---जिन्हें अच्छे आधार समझता हूँ, उनमें से किसी ने विवाह कर लिया है, या कोई संसार का मान, यश, धन कमाने की इच्छा पर बिक गया है। किसी किसी का शरीर ही कमजोर है। इसके अतिरिक्त अधिकांश युवक उच्च भाव ग्रहण करने में ही असमर्थ हैं। तुम लोग मेरा भाव ग्रहण करने योग्य हो अवश्य परन्तु तुम लोग भी तो कार्यक्षेत्र में उस योग्यता को अभी तक प्रकट नहीं कर सक रहे हो। इन सब कारणों से समय समय पर मन में बड़ा दु:ख होता है; ऐसा लगता है कि दैव-विडम्बना से शरीर

धारण कर कुछ भी कार्य न कर सका। अवश्य, अभी भी बिलकुल निराश नहीं हुआ हूँ, क्योंकि श्रीरामकृष्ण की इच्छा होने पर इन सब लड़कों में से ही समय पर ऐसे धर्मवीर और कर्मवीर निकल सकते हैं जो भविष्य में मेरा अनुसरण कर कार्य कर सकेंगे।

शिष्य--मैं समझता हूँ, सभी को एक न एक दिन आपके उदार भावों को ग्रहण करना ही होगा! यह मेरा दृढ़ विश्वास है, क्योंकि साफ देख रहा हूँ--सभी ओर सभी विषयों में आप ही की भाव-धारा प्रवाहित हो रही है। क्या जीवसेवा, क्या देश-कल्याणव्रत, क्या ब्रह्मविद्या की चर्चा, क्या ब्रह्मचर्य, सभी क्षेत्रों में आपका भाव प्रविष्ट होकर सभी में कुछ नवीनता का संचार कर रहा है और देशवासियों में से कोई प्रकट में आपका नाम लेकर और कोई आपका नाम छिपाकर अपने नाम से आप ही के उस भाव और मत का सभी विषयों में सर्वसाधारण में प्रचार कर रहे हैं।

स्वामीजी--मेरा नाम न भी लें, पर मेरा भाव लेने से ही पर्याप्त होगा। काम-कांचन त्याग करके भी निन्यान्नबे प्रतिशत साधु नामयश के मोह में आबद्ध हो जाते हैं। Fame—that last infirmity of noble mind—नाम की आकांक्षा ही उच्च अन्तःकरण की अन्तिम दुर्बलता है, पढ़ा है न? फल की कामना बिलकुल छोड़कर काम किये जाना होगा। भला-बुरा तो लोग कहेंगे ही, परन्तु उच्च आदर्श को सामने रखकर हमें सिंह की तरह काम करते जाना होगा। इसमें 'निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु'--विद्वान लोग निन्दा या स्तुति कुछ भी क्यों न करें।

शिष्य--हमारे लिए इस समय किस आदर्श का ग्रहण करना उचित है?

स्वामीजी--महावीर के चरित्र को ही तुम्हें इस समय आदर्श

मानना पड़ेगा। देखो न, वे राम की आज्ञा से समुद्र लाँघकर चले गये! जीवन-मृत्यु की फिर परवाह कहाँ? महा जितेन्द्रिय, महा बुद्धिमान, दास्यभाव के उस महान् आदर्श से तुम्हें अपना जीवन गठित करना होगा; वैसा करने पर दूसरे भावों का विकास स्वयं हो जायगा। दुविधा छोड़कर गुरु की आज्ञा का पालन और ब्रह्मचर्य की रक्षा—यही है सफलता का रहस्य! 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'—अवलम्बन करने योग्य और दूसरा पथ नहीं है। एक ओर हनुमानजी के जैसा सेवाभाव और दूसरी ओर उसी प्रकार त्रैलोक्य को भयभीत कर देने वाला सिंह जैसा विक्रम। राम के हित के लिए उन्होंने जीवन तक विसर्जन कर देने में कभी जरा भी संकोच नहीं किया। राम की सेवा के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों के प्रति उपेक्षा, यहाँ तक कि ब्रह्मत्व, शिवत्व तक की प्राप्ति में उपेक्षा! केवल रघुनाथ के उपदेश का पालन ही जीवन का एकमात्र व्रत रहा। उसी प्रकार एकनिष्ठ होना चाहिए। खोल-करताल बजाकर उछल-कूद मचाने से देश पतन के गर्त में जा रहा है। एक तो यह पेट-रोग के मरीजों का दल है—और उस पर इतनी उछल-कूद—भला कैसे सहन होगी? कामगन्ध-विहीन उच्च साधना का अनुकरण करने जाकर देश घोर तमोगुण से भर गया है। देश देश में, गाँव गाँव में—जहाँ भी जायगा, देखेगा, खोल-करताल ही बज रहे हैं! दुन्दुभी नगाड़े क्या देश में तैयार नहीं होते? तुरही भेरी क्या भारत में नहीं मिलती? वही सब गुरुगम्भीर ध्वनि लड़कों को सुना। बचपन से जनाने बाजे सुन सुनकर, कीर्तन सुन सुनकर, देश स्त्रियों का देश बन गया है। इससे अधिक और क्या अध:पतन होगा! कविकल्पना भी इस चित्र को चित्रित करने में हार मान गयी है। डमरू श्रृंग बजाना

होगा, नगाड़े में ब्रह्मरुद्रताल का दुन्दुभीनाद उठाना होगा, 'महावीर', 'महावीर', की ध्वनि तथा 'हर हर बम बम' शब्द से दिग्दिगन्त कम्पित कर देना होगा। जिन सब गीतवाद्यों से मनुष्य के हृदय के कोमल भाव समूह उद्दीप्त हो जाते हैं, उन सब को थोड़े दिनों के लिए अब बन्द रखना होगा। खयाल टप्पा बन्द करके ध्रुपद का गाना सुनने का अभ्यास लोगों को कराना होगा। वैदिक छन्दों के उच्चारण से देश में प्राण-संचार कर देना होगा। सभी विषयों में वीरता की कठोर महाप्राणता लानी होगी। इस प्रकार आदर्श का अनुसरण करने पर ही इस समय जीव का तथा देश का कल्याण होगा। यदि तू अकेला उस भाव से अपने जीवन को तैयार कर सका, तो तुझे देखकर हजारों लोग वैसा करना सीख जायँगे। परन्तु देखना, आदर्श से कभी एक पग भी न हटना! कभी साहस न छोड़ना। खाते, सोते, पहनते, गाते, भोग में, रोग में सदैव तीव्र उत्साह एवं साहस का ही परिचय देना होगा, तभी तो महाशक्ति की कृपा होगी ?

शिष्य—महाराज, कभी कभी न जाने कैसा साहसशून्य बन जाता हूँ।

स्वामीजी—उस समय ऐसा सोचा कर—'मैं किसकी सन्तान हूँ, उनका आश्रय लेकर भी मेरी ऐसी दुर्बलता तथा साहस-हीनता ?' उस दुर्बलता और साहसहीनता के मस्तक पर लात मारकर, 'मैं वीर्यवान हूँ, मैं मेधावान हूँ, मैं ब्रह्मविद् हूँ, मैं प्रज्ञावान हूँ, कहता कहता उठ खड़ा हो। 'मैं अमुक अमुक का शिष्य हूँ, काम-काँचन को जीतनेवाले श्रीरामकृष्ण के साथी का साथी हूँ'—इस प्रकार का अभिमान रखेगा तभी कल्याण होगा। जिसे यह अभिमान नहीं है, उसके भीतर ब्रह्म नहीं जागता।

रामप्रसाद का गाना नहीं सुना ? वे कहा करते थे, 'मैं—जिसकी स्वामिनी हैं माँ महेश्वरी—वह मैं इस संसार में भला किससे डर सकता हूँ ?' इस प्रकार अभिमान सदा मन में जागृत रखना होगा। तब फिर दुर्बलता, साहसहीनता पास न आयगी। कभी भी मन में दुर्बलता न आने देना। महावीर का स्मरण किया कर—महामाया का स्मरण किया कर; देखेगा, सब दुर्बलता, सारी कापुरुषता उसी समय चली जायगी।

ऐसा कहते कहते स्वामीजी नीचे आ गये। मठ के विस्तीर्ण आँगन में जो आम का वृक्ष है, उसी के नीचे एक छोटी सी खटिया पर वे अक्सर बैठा करते थे, आज भी वहाँ पर आकर पश्चिम की ओर मुँह करके बैठ गये। उनकी आँखों से उस समय भी महावीर का भाव निकल रहा था। वहीं बैठे बैठे उन्होंने शिष्य से उपस्थित संन्यासी तथा ब्रह्मचारीगणों को दिखाकर कहा—

"यह देख प्रत्यक्ष ब्रह्म ! इसकी उपेक्षा करके जो लोग दूसरे विषय में मन लगाते हैं उन्हें धिक्कार ! हाथ पर रखे हुए आँवले की तरह यह देख ब्रह्म ! देख नहीं रहा है ?—यही, यही !"

स्वामीजी ने ये बातें ऐसे हृदयस्पर्शी भाव के साथ कहीं कि सुनते ही उपस्थित सभी लोग, "चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे।" सभी तसवीर की तरह स्थिर खड़े रह गये।—स्वामीजी भी एकाएक गम्भीर ध्यान में मग्न हो गये। अन्य सब लोग भी बिलकुल शान्त हैं; किसी के मुँह से कोई बात नहीं निकलती ! स्वामी प्रेमानन्द उस समय गंगाजी से कमण्डलु में जल भरकर मन्दिर में आ रहे थे। उन्हें देखकर भी स्वामीजी "यही प्रत्यक्ष ब्रह्म—यही प्रत्यक्ष ब्रह्म" कहने लगे। वह बात सुनकर उस समय उनके भी हाथ का कमण्डलु हाथ में ही रह गया; एक गहरे

नशे के चक्कर में मग्न होकर वे भी उसी समय ध्यानावस्थित हो गये। इस प्रकार करीब पन्द्रह-बीस मिनट व्यतीत हो गये। तब स्वामीजी ने प्रेमानन्द को पुकारकर कहा, "जा अब श्रीरामकृष्ण की पूजा में जा।" स्वामी प्रेमानन्द को तब चेतना प्राप्त हुई। धीरे धीरे सभी का मन फिर 'मैं-मेरे' के राज्य में उतर आया और सभी अपने अपने कार्य में लग गये।

उस दिन का वह दृश्य शिष्य अपने जीवन में कभी भूल नहीं सकता। स्वामीजी की कृपा से और शक्ति के बल से उसका चंचल मन भी उस दिन अनुभूति-राज्य के अत्यन्त निकट आ गया था। इस घटना के साक्षी के रूप में बेलुड़ मठ के संन्यासीगण अभी भी मौजूद हैं। स्वामीजी की उस दिन की वह अपूर्व क्षमता देखकर उपस्थित सभी लोग विस्मित हो गये थे। क्षण भर में उन्होंने सभी के मनों को समाधि के अतल जल में डुबो दिया था।

उस शुभ दिन का स्मरण कर शिष्य अभी भी भावाविष्ट हो जाता है और उसे ऐसा लगता हैं, पूज्यपाद आचार्य की कृपा से उसे भी एक दिन के लिए ब्रह्मभाव को प्रत्यक्ष करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

थोड़ी देर बादं शिष्य के साथ स्वामीजी टहलने चले। जाते जाते शिष्य से बोले, "देखा, आज कैसा हुआ ? सभी को ध्यानस्थ होना पड़ा। वे सब श्रीरामकृष्ण की सन्तान हैं न, इसीलिए कहने के साथ ही उन्हें अनुभूति हो गयी थी।"

शिष्य--महाराज, मेरे जैसे व्यक्तियों का मन भी उस समय जब निर्विषय बन गया था, तो संन्यासीगण का फिर क्या कहना? आनन्द से मानो मेरा हृदय फटा जा रहा था। परन्तु अब उस भाव का कुछ भी स्मरण नहीं है--मानों वह सब स्वप्न ही था।

स्वामीजी——समय पर सब हो जायगा; इस समय काम कर। इन महा मोहग्रस्त जीवों के कल्याण के लिए किसी न किसी काम में लग जा। फिर तू देखेगा वह सब अपने आप हो जायगा।

शिष्य——महाराज, उतने कर्मों में प्रवेश करते भय होता है—— उतना सामर्थ्य भी नहीं है। शास्त्र में भी कहा है, 'गहना कर्मणो गतिः।'

स्वामीजी——तुझे क्या अच्छा लगता है?

शिष्य——आप जैसे सर्व शास्त्रों के ज्ञाता के साथ निवास तथा तत्त्व-विचार करूँगा और श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा इसी शरीर में ब्रह्मतत्त्व को प्रत्यक्ष करूँगा। इसके अतिरिक्त किसी भी बात में मेरा मन नहीं लगता। ऐसा लगता है, मानो और दूसरा कुछ करने का सामर्थ्य ही मुझमें नहीं है।

स्वामीजी——जो अच्छा लगे, वही करता जा। अपने सभी शास्त्र-सिद्धान्त लोगों को बता दे, इसीसे बहुतों का उपकार होगा। शरीर जितने दिन है उतने दिन काम किये बिना तो कोई रह ही नहीं सकता। अत: जिस काम से दूसरों का उपकार होता है वही करना उचित है। तेरे अपने अनुभवों तथा शास्त्र के सिद्धान्तवाक्यों से अनेक जिज्ञासुओं का उपकार हो सकता है और हो सके तो यह सब लिखता भी जा। उससे अनेकों का कल्याण हो सकेगा।

शिष्य——पहले मुझे ही अनुभव हो, तब तो लिखूँगा। श्रीराम-कृष्ण कहा करते थे, 'चपरास हुए बिना कोई किसी की बात नहीं सुनता।'

स्वामीजी——तू जिन सब साधनाओं तथा विचार-स्थितियों में से अग्रसर हो रहा है, जगत् में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो अभी

उन्हीं स्थितियों में पड़े हैं, उन स्थितियों को पार कर वे अग्रसर नहीं हो सकते हैं। तेरा अनुभव और विचारप्रणाली लिखी होने पर उनका भी तो उपकार होगा। मठ में साधुओं के साथ जो 'चर्चा' करता है उन विषयों को सरल भाषा में लिखकर रखने से, बहुतों का उपकार हो सकता है।

शिष्य——आप जब आदेश कर रहे हैं, तो उस विषय में चेष्टा करूँगा।

स्वामीजी——जिस साधन-भजन या अनुभूति द्वारा दूसरों का उपकार नहीं होता, महामोह में फँसे हुए जीवों का कल्याण नहीं होता, काम-कांचन की सीमा से मनुष्य को बाहर निकलने में सहायता नहीं मिलती, ऐसे साधन-भजन से क्या लाभ ? क्या तू समझता है कि एक भी जीव के बन्धन में रहते हुए तेरी मुक्ति होगी ? जितने दिन जितने जन्म तक उसका उद्धार नहीं होगा, उतनी बार तुझे भी जन्म लेना पड़ेगा——उसकी सहायता करने तथा उसे ब्रह्म का अनुभव कराने के लिए। प्रत्येक जीव तो तेरा ही अंग है। इसीलिए दूसरों के लिए कर्म कर। अपने स्त्री-पुत्रों को अपना जानकर जिस प्रकार तू उनके सभी प्रकार के मंगल की कामना करता है उसी प्रकार प्रत्येक जीव के प्रति जब तेरा वैसा ही आकर्षण होगा, तब समझूंगा तेरे भीतर ब्रह्म जागृत हो रहा है——उससे एक मिनट भी पहले नहीं। जाति-वर्ण का विचार छोड़कर इस विश्व के मंगल की कामना जाग्रत होने पर ही समझूँगा कि तू आदर्श की ओर अग्रसर हो रहा है।

शिष्य——यह तो महाराज, बड़ी कठिन बात है कि सभी की मुक्ति हुए बिना व्यक्तिगत मुक्ति नहीं होगी। ऐसा विचित्र सिद्धान्त तो कभी भी नहीं सुना।

स्वामीजी—एक श्रेणी के वेदान्तवादियों का ऐसा ही मत है—वे कहते हैं, 'व्यष्टि की मुक्ति, मुक्ति का वास्तव स्वरूप नहीं है। समष्टि की मुक्ति ही मुक्ति है।' हाँ, इस मत के दोषगुण अवश्य दिखाये जा सकते हैं।

शिष्य—वेदान्तमत में व्यष्टिभाव ही तो बन्धन का कारण है। वही उपाधिगत चित् सत्ता काम्य कर्म आदि के कारण बद्ध सी प्रतीत होती है। विचार के बल से उपाधिरहित होने पर—निर्विषय हो जाने पर प्रत्यक् चिन्मय आत्मा का बन्धन रहेगा कैसे? जिसकी जीव जगत् आदि की बुद्धि है, उसे ऐसा लग सकता है कि सभी की मुक्ति हुए बिना उसकी मुक्ति नहीं है; परन्तु श्रवण आदि के बल पर मन निरुपाधिक होकर जब प्रत्यक्-ब्रह्ममय होता है, उस समय उसकी दृष्टि में जीव ही कहाँ और जगत् ही कहाँ? कुछ भी नहीं रहता। उसकी मुक्ति को रोकनेवाला कोई नहीं हो सकता।

स्वामीजी—हाँ, तू जो कह रहा है, वह अधिकांश वेदान्तवादियों का सिद्धान्त है। वह निर्दोष भी है। उससे व्यक्तिगत मुक्ति रुकती नहीं, परन्तु जो व्यक्ति सोचता है कि मैं ब्रह्मा से लेकर समस्त जगत् को अपने साथ लेकर मुक्त हो जाऊँगा, उसकी महाप्राणता का एक बार चिन्तन तो कर!

शिष्य—महाराज, वह उदार भाव का परिचायक अवश्य है, परन्तु शास्त्रविरुद्ध लगता है।

स्वामीजी शिष्य की बातें सुन न सके। ऐसा प्रतीत हुआ कि पहले से ही वे अन्यमनस्क हो किसी दूसरी बात को सोच रहे थे। फिर कुछ समय के बाद बोल उठे, 'अरे हाँ, तो हम लोग क्या बात कर रहे थे? मैं तो मानो बिलकुल भूल ही गया हूँ।' शिष्य

ने जब उस विषय की फिर याद दिला दी तो स्वामीजी बोले, "दिन रात ब्रह्म-विषय का अनुसन्धान किया कर। एकाग्र मन से ध्यान किया कर और शेष समय में या तो कोई लोकहितकर काम किया कर या मन ही मन सोचा कर कि 'जीवों का--जगत् का उपकार हो। सभी की दृष्टि ब्रह्म की ओर लगी रहे।' इस प्रकार लगातार चिन्ता की लहरों के द्वारा ही जगत् का उपकार होगा। जगत् का कोई भी सदनुष्ठान व्यर्थ नहीं जाता, चाहे वह कार्य हो या चिन्तन। तेरे चिन्तन से ही प्रभावित होकर सम्भव है कि अमरीका के किसी व्यक्ति को ज्ञानप्राप्ति हो।"

शिष्य--महाराज, मेरा मन जिससे इसी जन्म में वास्तव में निर्विषय बने--ऐसा मुझे आशीर्वाद दीजिये।

स्वामीजी--ऐसा होगा क्यों नहीं? तन्मयता रहने पर अवश्य होगा।

शिष्य--आप मन को तन्मय बना सकते हैं; आप में वह शक्ति है, मैं जानता हूँ। पर महाराज, मुझे भी वैसा कर दीजिये--यही प्रार्थना है।

इस प्रकार वार्तालाप होते होते शिष्य के साथ स्वामीजी मठ में आकर उपस्थित हुए। उस समय दशमी की चाँदनी में मठ का बगीचा मानो रजत-प्रवाह से स्नान कर रहा था। शिष्य उल्लसित मन से स्वामीजी के पीछे पीछे मठ-मन्दिर में उपस्थित होकर आनन्द से टहलने लगा। स्वामीजी ऊपर विश्राम करने चले गये।

परिच्छेद ३९

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०१ ईसवी

विषय—मठ के सम्बन्ध में नैष्ठिक हिन्दुओं की पूर्व धारणा—मठ में दुर्गापूजा व उस धारणा की निवृत्ति—अपनी जननी के साथ स्वामीजी का कालीघाट का दर्शन व उस स्थान के उदार भाव के सम्बन्ध में मत प्रकट करना—स्वामीजी जैसे ब्रह्मज्ञ पुरुष द्वारा देव-देवी की पूजा करना सोचने की बात है—महापुरुष धर्म की रक्षा के लिए ही जन्म ग्रहण करते हैं—ऐसा मत रखने पर कि देव-देवी की पूजा नहीं करनी चाहिए, स्वामीजी कभी उस प्रकार न करते—स्वामीजी जैसा सर्वगुणसम्पन्न ब्रह्मज्ञ महापुरुष इस युग में और दूसरा पैदा नहीं हुआ—उनके द्वारा प्रदर्शित पथ पर अग्रसर होने से ही देश व जीव का निश्चित कल्याण है।

बेलुड़ मठ स्थापित होते समय निष्ठावान हिन्दुओं में से अनेक व्यक्ति मठ के आचार-व्यवहार की तीव्र आलोचना किया करते थे; प्रधानत: इसी विषय पर कि विलायत से लौटे हुए स्वामीजी द्वारा स्थापित मठ में हिन्दुओं के आचार-नियमों का उचित रूप से पालन नहीं होता है अथवा वहाँ खाद्य-अखाद्य का विचार नहीं है। अनेकानेक स्थानों में चर्चा चलती थी और उस बात पर विश्वास करते हुए शास्त्र को न जानने वाले हिन्दू नामधारी छोटे बड़े अनेक लोग उस समय सर्वत्यागी संन्यासियों के कार्यों की व्यर्थ निन्दा किया करते थे। गंगाजी पर नाव पर सैर करने वाले अनेक लोग भी बेलुड़ मठ को देखकर अनेक प्रकार से व्यंग किया करते थे और कभी कभी तो मिथ्या अश्लील बातें करते हुए

निष्कलंक स्वामीजी के स्वच्छ शुभ्र चरित्र की आलोचना करने से भी बाज न आते थे। नाव पर चढ़कर मठ में आते समय शिष्य ने कभी कभी ऐसी समालोचना अपने कानों से सुनी है। उसके मुख से उन सब समालोचनाओं को सुनकर स्वामीजी कभी कभी कहा करते थे, "हाथी चले बाजार, कुत्ते भौंके हजार। साधुन को दुर्भाव नहीं, चाहे निन्दे संसार।" कभी कहते थे, "देश में किसी नवीन भाव के प्रचार होते समय उसके विरुद्ध प्राचीनपन्थियों का मोर्चा स्वभावत: ही रहता है। जगत् के सभी धर्मसंस्थापकों को इस परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ा है।" फिर कभी कहा करते थे, "अन्यायपूर्ण अत्याचार न होने पर जगत् के कल्याणकारी भाव-समूह समाज के हृदय में आसानी से प्रविष्ट नहीं हो सकते।" अत: समाज के तीव्र कटाक्ष और समालोचना को स्वामीजी अपने नवभाव के प्रचार के लिए सहायक मानते थे। उसके विरुद्ध कभी प्रतिवाद न करते थे और न अपने शरणागत गृही तथा संन्यासियों को ही प्रतिवाद करने देते थे। सभी से कहते थे, "फल की आकांक्षा को छोड़कर काम करता जा, एक दिन उसका फल अवश्य ही मिलेगा।" स्वामीजी के श्रीमुख से यह वचन सदा ही सुना जाता था, "न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।"

हिन्दू समाज की यह तीव्र समालोचना स्वामीजी की लीला की समाप्ति से पूर्व किस प्रकार मिट गयी, आज उसी विषय में कुछ लिखा जा रहा है। १९०१ ईसवी के मई या जून मास में एक दिन शिष्य मठ में आया। स्वामीजी ने शिष्य को देखते ही कहा, "अरे, एक रघुनन्दन रचित 'अष्टाविंशति-तत्त्व' की प्रति मेरे लिए ले आना।"

शिष्य---बहुत अच्छा महाराज! परन्तु रघुनन्दन की स्मृति---

जिसे आजकल का शिक्षित सम्प्रदाय कुसंस्कार की टोकरी बताया करता है, उसे लेकर आप क्या करेंगे ?

स्वामीजी—क्यों ? रघुनन्दन अपने समय के एक प्रकाण्ड विद्वान थे। वे प्राचीन स्मृतियों का संग्रह करके हिन्दुओं के लिए कालोपयोगी नित्यनैमित्तिक क्रियाओं को लिपिबद्ध कर गये हैं। इस समय सारा बंगाल प्रान्त तो उन्हीं के अनुशासन पर चल रहा है। यह बात अवश्य है कि उनके रचित हिन्दूजीवन के गर्भाधान से लेकर श्मशान तक के आचार-नियमों के कठोर बन्धन से समाज उत्पीड़ित हो गया था। अन्य विषयों की तो बात ही क्या, शौच-पेशाब के लिए जाते, खाते-पीते, सोते-जागते, प्रत्येक समय, सभी को नियमबद्ध कर डालने की चेष्टा उन्होंने की थी। समय के परिवर्तन से वह बन्धन दीर्घ काल तक स्थायी न रह सका। सभी देशों में, सभी काल में कर्मकाण्ड, सामाजिक रीति-नीति सदा ही परिवर्तित होते रहते हैं। एकमात्र ज्ञानकाण्ड ही परिवर्तित नहीं होता। वैदिक युग में भी देख, कर्मकाण्ड धीरे धीरे परिवर्तित हो गया, परन्तु उपनिषद का ज्ञान-प्रकरण आज तक भी एक ही भाव में मौजूद है, सिर्फ उनकी व्याख्या करनेवाले अनेक हो गये हैं।

शिष्य—आप रघुनन्दन की स्मृति लेकर क्या करेंगे ?

स्वामीजी—इस बार मठ में दुर्गा-पूजा करने की इच्छा हो रही है। यदि खर्च की व्यवस्था हो जाय, तो महामाया की पूजा करूँगा। इसीलिए दुर्गोत्सव-विधि पढ़ने की इच्छा हुई है। तू अगले रविवार को जब आयगा, तो उस पुस्तक की एक प्रति लेता आ।

शिष्य—बहुत अच्छा।

दूसरे रविवार को शिष्य स्वामीजी के लिए रघुनन्दनकृत अष्टाविंशति-तत्त्व खरीदकर मठ में ले आया। वह ग्रन्थ आज भी मठ के पुस्तकालय में मौजूद है। स्वामीजी पुस्तक को पाकर बहुत ही खुश हुए और उसी दिन से पढ़ना भी प्रारम्भ करके चार-पाँच दिनों में उसे पूरा कर डाला। एक सप्ताह के बाद शिष्य के साथ साक्षात्कार होने पर बोले, "मैंने तेरी दी हुई रघुनन्दन की स्मृति पूरी पढ़ डाली है। यदि हो सका तो इस बार माँ की पूजा करूँगा।"

शिष्य के साथ स्वामीजी की उपरोक्त बातें दुर्गापूजा के दो-तीन मास पहले हुई थीं। उसके बाद उन्होंने उस सम्बन्ध में और कोई भी बात मठ के किसी भी व्यक्ति के साथ नहीं की। उनके उस समय के आचरणों को देखकर शिष्य को ऐसा लगता था कि उन्होंने उस विषय में और कुछ भी नहीं सोचा। पूजा के दस-बारह दिन पहले तक शिष्य ने मठ में इसकी कोई चर्चा नहीं सुनी कि इस वर्ष मठ में प्रतिमा लाकर पूजा होगी और न पूजा के सम्बन्ध में कोई आयोजन ही मठ में देखा। स्वामीजी के एक गुरुभाई ने इसी बीच में एक दिन स्वप्न में देखा कि माँ दशभुजा दुर्गा गंगाजी के ऊपर से दक्षिणेश्वर की ओर से मठ की ओर चली आ रही हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल जब स्वामीजी ने मठ के सब लोगों के सामने पूजा करने का संकल्प व्यक्त किया तब उन्होंने भी अपने स्वप्न की बात प्रकट की। स्वामीजी इस पर आनन्दित होकर बोले, "जैसे भी हो इस बार मठ में पूजा करनी होगी।" पूजा करने का निश्चय हुआ और उसी दिन एक नाव किराये पर लेकर स्वामीजी, स्वामी प्रेमानन्द एवं ब्रह्मचारी कृष्णलाल बागबाजार में गये। उनके वहाँ जाने का उद्देश

यह था कि बागबाजार में ठहरी हुईं श्रीरामकृष्ण-भक्तों की जननी श्रीमाताजी के पास कृष्णलाल ब्रह्मचारी को भेजकर उस विषय में उनकी अनुमति ले लेना तथा उन्हें यह सूचित कर देना कि उन्हीं के नाम पर संकल्प करके वह पूजा सम्पन्न होगी, क्योंकि सर्वत्यागी संन्यासियों को किसी प्रकार पूजा या अनुष्ठान 'संकल्प-पूर्वक' करने का अधिकार नहीं है।

श्रीमाताजी ने स्वीकृति दे दी और ऐसा निश्चय हुआ कि 'माँ' की पूजा का 'संकल्प' उन्हींके नाम पर होगा। स्वामीजी भी इस पर विशेष आनन्दित हुए और उसी दिन कुम्हार टोली में जाकर प्रतिमा बनाने के लिए पेशगी देकर मठ में लौट आये। स्वामीजी की यह पूजा करने की बात सर्वत्र फैल गयी और श्रीरामकृष्ण के गृही भक्तगण उस बात को सुनकर उस विषय में आनन्द के साथ सम्मिलित हुए।

स्वामी ब्रह्मानन्द को पूजा की सामग्रियों का संग्रह करने का भार सौंपा गया। निश्चित हुआ कि कृष्णलाल ब्रह्मचारी पुजारी बनेंगे। स्वामी रामकृष्णानन्द के पिता साधकश्रेष्ठ श्री ईश्वरचन्द्र भट्टाचार्य महाशय तन्त्रधारक के पद पर नियुक्त हुए। मठ में आनन्द समाता नहीं था। जिस स्थान पर आजकल श्रीरामकृष्ण का जन्ममहोत्सव होता है, उसी स्थान के उत्तर में मण्डप तैयार हुआ। षष्ठी के बोधन के दो-एक दिन पहले कृष्णलाल, निर्भयानन्द आदि संन्यासी तथा ब्रह्मचारीगण नाव पर माँ की मूर्ति को मठ में ले आये। ठाकुर-घर के नीचे की मंजिल में माँ की मूर्ति को रखने के साथ ही मानो आकाश टूट पड़ा——मूसलाधार पानी बरसने लगा। स्वामीजी यह सोचकर निश्चिन्त हुए कि माँ की प्रतिमा निर्विघ्नतापूर्वक मठ में पहुँच गयी है। अब पानी बरसने

से भी कोई हानि नहीं है।

इधर स्वामी ब्रह्मानन्द के प्रयत्न से मठ द्रव्यसामग्रियों से भर गया। यह देखकर कि पूजा के सामग्रियों में कोई कमी नहीं है स्वामीजी स्वामी ब्रह्मानन्द आदि की प्रशंसा करने लगे। मठ के दक्षिण की ओर जो बगीचेवाला मकान है––जो पहले नीलाम्बर बाबू का था, वह एक महीने के लिए किराये से लेकर पूजा के दिन से उसमें श्रीमाताजी को लाकर रखा गया। अधिवास की सायंकालीन पूजा स्वामीजी के समाधि-मन्दिर के सामने वाले बिल्ववृक्ष के नीचे सम्पन्न हुई। उन्होंने उसी बिल्ववृक्ष के नीचे बैठकर एक दिन जो गाना गाया था, 'बिल्ववृक्ष के नीचे बोधन बिछाकर गणेश के लिए गौरी का आगमन' आदि, वह आज अक्षरश: पूर्ण हुआ।

श्रीमाताजी की अनुमति लेकर ब्रह्मचारी कृष्णलाल महाराज सप्तमी के दिन पुजारी के आसन पर विराजे। कौलाग्रणी तन्त्र एवं मन्त्रों के विद्वान् ईश्वरचन्द्र भट्टाचार्य महाशयने भी श्रीमाताजी के आदेश के अनुसार देव-गुरु बृहस्पति की तरह तन्त्रधारक का आसन ग्रहण किया। यथाविधि 'माँ' की पूजा समाप्त हुई। केवल श्रीमाताजी की अनिच्छा के कारण मठ में पशुबलि नहीं हुई। बली के रूप में शक्कर का नैवेद्य तथा मिठाइयों की ढेरियाँ प्रतिमा के दोनों ओर शोभायमान हुईं।

गरीब-दु:खी दरिद्रों को साकार ईश्वर मानकर तृप्तिदायक भोजन कराना इस पूजा का प्रधान अंग माना गया था। इसके अतिरिक्त बेलुड़, बालि और उत्तरपाड़ा के परिचित तथा अपरिचित अनेक ब्राह्मण पण्डितों को भी आमन्त्रित किया गया था, जो आनन्द के साथ सम्मिलित हुए थे। तब से मठ के प्रति उन लोगों

का पूर्व विद्वेष दूर हो गया और उन्हें ऐसा विश्वास हुआ कि मठ के संन्यासी वास्तव में हिन्दू संन्यासी हैं।

कुछ भी हो, महासमारोह के साथ तीन दिनों तक महोत्सव के कलरव से मठ गूंज उठा। नौबत की सुरीली तान गंगाजी के दूसरे तट पर प्रतिध्वनित होने लगी। नगाड़े के रुद्रताल के साथ कलनादिनी भागीरथी नृत्य करने लगी। "दीयतां नीयतां भुज्यताम्"—इन शब्दों के अतिरिक्त मठ के संन्यासियों के मुख से उन तीन दिनों तक अन्य कोई बात सुनने में नहीं आयी। जिस पूजा में साक्षात् श्रीमाताजी स्वयं उपस्थित हैं, जो स्वामीजी की संकल्पित है, देहधारी देवतुल्य महापुरुषगण जिसका कार्य सम्पन्न करनेवाले हैं, उस पूजा के निर्दोष होने में आश्चर्य की कौनसी बात है! तीन दिनों की पूजा निर्विघ्न हुई। गरीब दुखि:यों के भोजन की तृप्ति को सूचित करनेवाले कलरव से मठ तीन दिन परिपूर्ण रहा।

महाष्टमी की पूर्व रात्रि में स्वामीजी को ज्वर आ गया था। इसलिए वे दूसरे दिन पूजा में सम्मिलित नहीं हो सके। वे सन्धि-क्षण में उठकर बिल्वपत्र द्वारा महामाया के श्रीचरणों में तीन बार अंजलि देकर अपने कमरे में लौट आये थे। नवमी के दिन वे स्वस्थ हुए और श्रीरामकृष्णदेव नवमी की रात को जो अनेक गीत गाया करते थे, उनमें से दो-एक गीत उन्होंने स्वयं भी गाये। मठ में उस रात्रि को आनन्द मानो उमड़ा पड़ता था।

नवमी के दिन पूजा के बाद श्रीमाताजी के द्वारा यज्ञ का दक्षिणान्त कराया गया। यज्ञ का तिलक धारण कर तथा संकल्पित पूजा समाप्त कर स्वामीजी का मुखमण्डल दिव्य भाव से परिपूर्ण हो उठा था। दशमी के दिन सायंकाल के बाद "माँ" की प्रतिमा

का गंगाजी में विसर्जन किया गया और उसके दूसरे दिन श्रीमाताजी भी स्वामीजी आदि संन्यासियों को आशीर्वाद देकर बागबाजार में अपने निवास्थान पर लौट गयीं।

दुर्गापूजा के बाद उसी वर्ष स्वामीजी ने मठ में प्रतिमा मँगवाकर श्रीलक्ष्मी-पूजन तथा श्यामा-पूजन भी शास्त्रविधि के अनुसार करवाया था। उन पूजाओं में भी ईश्वरचन्द्र भट्टाचार्य महाशय तन्त्रधारक तथा कृष्णलाल महाराज पुजारी थे।

श्यामा-पूजा के अनन्तर स्वामीजी की जननी ने एक दिन मठ में कहला भेजा कि उन्होंने बहुत दिन पहले एक समय "मन्नत" की थी कि एक दिन स्वामीजी को साथ लेकर कालीघाट में जाकर वे महामाया की पूजा करेंगी, अतएव उसे पूरा करना बहुत ही आवश्यक है। जननी के आग्रहवश स्वामीजी मार्गशीर्ष मास के अन्त में शरीर अस्वस्थ होते हुए भी एक दिन कालीघाट में गये थे। उस दिन कालीघाट में पूजा करके मठ में लौटते समय शिष्य के साथ उनका साक्षात्कार हुआ और वहाँ पर किस प्रकार पूजा आदि की गयी, यह वृत्तान्त शिष्य को रास्ते भर सुनाते आये। वही वृत्तान्त यहाँ पर पाठकों की जानकारी के लिए उद्धृत किया है—

बचपन में एक बार स्वामीजी बहुत अस्वस्थ हो गये थे। उस समय उनकी जननी ने "मन्नत" की थी कि पुत्र के रोगमुक्त होने पर वे उसे कालीघाट में ले जाकर "माँ" की विशेष रूप से पूजा करेंगी और श्रीमन्दिर में उसे "लोट-पोट" करा लायेंगी। उस "मन्नत" की बात इतने दिनों तक उन्हें भी याद न थी। इस समय स्वामीजी का शरीर अस्वस्थ होने से उनकी माता को उस बात का स्मरण हुआ और वह उन्हें उसी भाव से कालीघाट में ले

गयीं। कालीघाट में जाकर स्वामीजी कालीगंगा में स्नान करके जननी के आदेश के अनुसार भीगे वस्त्रों को पहने ही "माँ" के मन्दिर में प्रविष्ट हुए और मन्दिर में श्रीश्रीकालीमाता के चरण-कमलों के सामने तीन बार लौट-पोट हुए। उसके बाद मन्दिर के बाहर निकलकर सात बार मन्दिर की प्रदक्षिणा की। फिर सभा-मण्डप के पश्चिम की ओर खुले चबूतरे पर बैठकर स्वयं ही हवन किया। अमित-बलशाली तेजस्वी संन्यासी के यज्ञ-सम्पादन को देखने के लिए "माँ" के मन्दिर में उस दिन बड़ी भीड़ हुई थी। शिष्य के मित्र कालीघाटनिवासी श्रीगिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय भी, जो शिष्य के साथ अनेक बार स्वामीजी के पास आये थे, उस दिन वहाँ गये थे तथा उस यज्ञ को उन्होंने स्वयं देखा था। गिरीन्द्र बाबू आज भी उस घटना का वर्णन करते हुए कहा करते हैं कि जलते हुए अग्निकुण्ड में बार बार घृताहुति देते हुए उस दिन स्वामीजी दूसरे ब्रह्मा की तरह प्रतीत होते थे। जो भी हो, पूर्वोक्त रूप से शिष्य को घटना सुनाकर अन्त में स्वामीजी बोले, "कालीघाट में अभी भी कैसा उदार भाव देखा; मुझे विलायत से लौटा हुआ 'विवेकानन्द' जानकर भी वहाँ के अधिकारियों ने मन्दिर में प्रवेश करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की, वल्कि उन्होंने बड़े आदर के साथ मन्दिर के भीतर ले जाकर इच्छानुसार पूजा करने में सहायता की।"

इसी प्रकार जीवन के अन्तिम भाग में भी स्वामीजी ने हिन्दुओं की अनुष्ठेय पूजापद्धति के प्रति आन्तरिक एवं बाह्यिक विशेष सम्मान प्रदर्शित किया था। जो लोग उन्हें केवल वेदान्तवादी या ब्रह्मज्ञानी बताया करते हैं उन्हें स्वामीजी के इन पूजानुष्ठान आदि पर विशेष रूप से चिन्तन करना चाहिए। "मैं शास्त्रमर्यादा को

विनष्ट करने के लिए नहीं, पूर्ण करने के लिए ही आया हूँ," "I have come to fulfil and not to destroy"—कथन की सार्थकता को स्वामीजी इस प्रकार अपने जीवन में अनेक समय प्रतिपादित कर गये हैं। वेदान्तकेसरी श्रीशंकराचार्य ने वेदान्त के घोष से पृथ्वी को कम्पित करके भी जिस प्रकार हिन्दुओं के देव-देवियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने में कमी नहीं की तथा भक्ति द्वारा प्रेरित होकर नाना स्तोत्र एवं स्तुतियों की रचना की थी, उसी प्रकार स्वामीजी भी सत्य तथा कर्तव्य को समझकर ही पूर्वोक्त अनुष्ठानों के द्वारा हिन्दूधर्म के प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शित कर गये हैं। रूप, गुण तथा विद्या में, भाषणपटुता, शास्त्रों की व्याख्या, लोककल्याणकारी कामना में तथा साधना एवं जितेन्द्रियता में स्वामीजी के समान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महापुरुष वर्तमान शताब्दी में और कोई भी पैदा नहीं हुआ। भारत के भावी वंशधर इस बात को धीरे धीरे समझ सकेंगे। उनकी संगति प्राप्त करके हम धन्य एवं मुग्ध हुए हैं। इसीलिए इस शंकरतुल्य महापुरुष को समझने के लिए तथा उनके आदर्श पर जीवन को गठित करने के लिए जाति का विचार छोड़कर हम भारत के सभी नर-नारियों को बुला रहे हैं। ज्ञान में शंकर, सहृदयता में बुद्ध, भक्ति में नारद, ब्रह्मज्ञता में शुकदेव, तर्क में बृहस्पति, रूप में कामदेव, साहस में अर्जुन और शास्त्रज्ञान में व्यास जैसे स्वामीजी को सम्पूर्ण रूप से समझने का समय उपस्थित हुआ है। इसमें अब सन्देह नहीं कि सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न स्वामीजी का जीवन ही वर्तमान युग में आदर्श के रूप में एकमात्र अनुकरणीय है। इस महासमन्वयाचार्य की सभी मतों में समता करा देने वाली ब्रह्मविद्या के तमोविनाशक किरण-समूह द्वारा समस्त पृथ्वी आलोकित हुई है। बन्धुओ, पूर्वाकाश

में इस तरुण अरुण छटा का दर्शन कर उठो, नव-जीवन के प्राण-स्पन्दन का अनुभव करो ।

परिच्छेद ४०

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०२ ईसवी

विषय—श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव भविष्य में सुन्दर बनाने की योजना—शिष्य को आशीर्वाद, "जब यहाँ पर आया है तो अवश्य ही ज्ञान प्राप्त होगा"—गुरु शिष्य की कुछ कुछ सहायता कर सकते हैं—अवतारी पुरुषगण एक मिनट में जीव के सभी बन्धनों को मिटा दे सकते हैं—'कृपा' का अर्थ—देह-त्याग के बाद श्रीरामकृष्ण का दर्शन—पवहारी बाबा व स्वामीजी का प्रसंग।

आज श्रीरामकृष्णदेव का महामहोत्सव है—जिस उत्सव को स्वामीजी अन्तिम बार देख गये हैं। इस उत्सव के बाद बंगला आषाढ़ मास के बीसवें दिन रात्रि के लगभग नौ बजे, उन्होंने इहलौकिक लीला समाप्त की। उत्सव के कुछ पहले से स्वामीजी का शरीर अस्वस्थ है। ऊपर से नीचे नहीं उतरते, चल नहीं सकते, पैर सूज गये हैं। डाक्टरों ने अधिक बातचीत करने की मनाई की है।

शिष्य श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में संस्कृत भाषा में एक स्तोत्र की रचना करके उसे छपवाकर लाया है। आते ही स्वामीजी के पादपद्मों का दर्शन करने के लिए ऊपर गया है। स्वामीजी फर्श पर अर्धशायित स्थिति में बैठे थे। शिष्य ने आते ही स्वामीजी के पादपद्मों पर अपना मस्तक रखा और धीरे धीरे उन पर हाथ फेरने लगा। स्वामीजी शिष्य द्वारा रचित स्तव का पाठ करने के पूर्व उससे बोले, "बहुत धीरे धीरे पैरों पर हाथ फेर तो, पैरों में बहुत दर्द हो रहा है।" शिष्य वैसा ही करने लगा।

स्तव पाठ करके स्वामीजी प्रसन्न होकर बोले, "बहुत अच्छा बना है।"

हाय ! शिष्य उस समय क्या जानता था कि उसकी रचना की प्रशंसा स्वामीजी इस जन्म में फिर न कर सकेंगे ।

स्वामीजी की शारीरिक अस्वस्थता इतनी बढ़ी हुई जानकर शिष्य का मुख म्लान हो गया और वह रुलासा हो गया ।

स्वामीजी शिष्य के मन की बात समझकर बोले, "क्या सोच रहा है? शरीर धारण किया है, तो नष्ट भी हो जायगा। तू यदि लोगों में मेरे भावों को कुछ कुछ भी प्रविष्ट करा सका, तो समझूँगा कि मेरा शरीर धारण करना सार्थक हुआ है ।"

शिष्य—हम क्या आपकी दया के योग्य हैं ? अपने गुणों के कारण आपने स्वयं दया करके जो कर दिया है, उसीसे अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ ।

स्वामीजी—सदा याद रखना, 'त्याग' ही है मूलमन्त्र ! इस मन्त्र में दीक्षा प्राप्त किये बिना, ब्रह्मा आदि की भी मुक्ति का उपाय नहीं है ।

शिष्य—महाराज, आपके श्रीमुख से यह बात प्रतिदिन सुनकर इतने दिनों में भी उसकी धारणा नहीं हुई है। संसार के प्रति आसक्ति न गयी। क्या यह कम खेद की बात है ? आश्रित दीन सन्तान को आशीर्वाद दीजिये, जिससे शीघ्र ही उसके हृदय में उसकी धारणा हो जाय ।

स्वामीजी—त्याग अवश्य आयगा, परन्तु जानता है न— 'कालेनात्मनि विन्दति'—समय आये बिना नहीं आता। पूर्व जन्म के संस्कार कट जाने पर ही त्याग प्रकट होगा ।

इन बातों को सुनकर शिष्य बड़े कातर भाव से स्वामीजी के

चरणकमल पकड़कर कहने लगा, "महाराज, इस दीन दास को जन्म जन्म में अपने चरणकमलों में शरण दें——यही एकान्तिक प्रार्थना है। आपके साथ रहने पर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में भी मेरी इच्छा नहीं होती।"

उत्तर में स्वामीजी कुछ भी न कहकर, अन्यमनस्क होकर न जाने क्या सोचने लगे। मानो वे सुदूर भविष्य में अपने जीवन के चित्र को देखने लगे। कुछ समय के बाद फिर बोले, "लोगों की भीड़ देखकर क्या होगा ? आज मेरे पास ही ठहर। और निरंजन को बुलाकर द्वार पर बैठा दे ताकि कोई मेरे पास आकर मुझे तंग न करे !" शिष्य ने दौड़कर स्वामी निरंजनानन्द को स्वामीजी का आदेश बतला दिया। स्वामी निरंजनानन्द भी सभी कामों को छोड़कर सिर पर पगड़ी बाँध हाथ में डण्डा लेकर स्वामीजी के कमरे के दरवाजे के सामने आकर बैठ गये।

इसके बाद कमरे का दरवाजा बन्द करके शिष्य फिर स्वामीजी के पास आया। 'मन भरकर स्वामीजी की सेवा कर सकेगा'—— ऐसा सोचकर आज उसका मन आनन्दित है। स्वामीजी की चरणसेवा करते करते वह बालक की तरह मन की सभी बातें स्वामीजी के पास खोलकर कहने लगा। स्वामीजी भी हँसते हुए उसके प्रश्नों का उत्तर धीरे धीरे देने लगे।

स्वामीजी——मैं समझता हूँ, अब श्रीरामकृष्ण का उत्सव आगे इस प्रकार न होकर दूसरे रूप में हो तो अच्छा हो——एक ही दिन नहीं, बल्कि चार-पाँच दिन तक उत्सव रहे। पहले दिन——शास्त्र आदि का पाठ तथा प्रवचन हो। दूसरे दिन——वेदवेदान्त आदि पर विचार एवं मीमांसा हो। तीसरे दिन——प्रश्नोत्तर की बैठक हो। उसके पश्चात् चौथे दिन——सम्भव हो तो व्याख्यान आदि हों और फिर

अन्तिम दिन ऐसा ही महोत्सव हो। दुर्गापूजा जैसे चार दिन होती है वैसे ही हो। वैसा उत्सव करने पर अन्तिम दिन को छोड़कर दूसरे दिन सम्भव है श्रीरामकृष्ण की भक्तमण्डली के अतिरिक्त दूसरे लोग अधिक संख्या में न आयें। सो न भी आयें तो क्या ! बहुत लोगों की भीड़ होने पर ही श्रीरामकृष्ण के मत का प्रचार होगा ऐसी बात तो है नहीं।

शिष्य——महाराज, आपकी यह बहुत अच्छी कल्पना है; अगले साल वैसा ही किया जायगा। आपकी इच्छा है तो सब हो जायगा।

स्वामीजी——अरे भाई, वह सब करने में मन नहीं लगता। अब से तुम लोग वह सब किया करो।

शिष्य——महाराज, इस वार कीर्तन के अनेक दल आये हैं।

यह बात सुनकर स्वामीजी उन्हें देखने के लिए कमरे के दक्षिण वाली खिड़की का रेलिंग पकड़कर उठ खड़े हुए और आये हुए अगणित भक्तों की ओर देखने लगे। थोड़ी देर देखकर वे फिर बैठ गये। शिष्य समझ गया कि खड़े होने से उन्हें कष्ट हुआ है। अत: वह उनके मस्तक पर धीरे धीरे पंखा झलने लगा।

स्वामीजी——तुम लोग श्रीरामकृष्ण की लीला के अभिनेता हो ! इसके बाद——हमारी बात तो छोड़ ही दो——तुम लोगों का भी संसार नाम लेगा। ये जो सब स्तव स्तोत्र लिख रहा है, इसके बाद लोग भक्ति-मुक्ति प्राप्त करने के लिए इन्हीं सब स्तवों का पाठ करेंगे। याद रखना, आत्मज्ञान की प्राप्ति ही परम साध्य है। अवतारी पुरुषरूपी जगद्गुरु के प्रति भक्ति होने पर समय आते ही वह ज्ञान स्वयं ही प्रगट हो जाता है।

शिष्य विस्मित होकर सुनने लगा।

शिष्य——तो महाराज, क्या मुझे भी उस ज्ञान की प्राप्ति

हो सकेगी ?

स्वामीजी—श्रीरामकृष्ण के आशीर्वाद से तुझे अवश्य ज्ञान-भक्ति प्राप्त होगी। परन्तु गृहस्थाश्रम में तुझे कोई विशेष सुख न होगा।

शिष्य स्वामीजी की इस बात पर दुःखी हुआ और यह सोचने लगा कि फिर स्त्री-पुत्रों की क्या दशा होगी।

शिष्य—यदि आप दया करके मन के बन्धनों को काट दें तो उपाय है, नहीं तो इस दास के उद्धार का दूसरा कोई उपाय नहीं है। आप श्रीमुख से कह दीजिये ताकि इसी जन्म में मुक्त हो जाऊँ।

स्वामीजी—भय क्या है ? जब यहाँ पर आ गया है, तो अवश्य हो जायगा।

शिष्य स्वामीजी के चरणकमलों को पकड़कर रोता हुआ कहने लगा, "प्रभो, अब मेरा उद्धार करना ही होगा।"

स्वामीजी—कौन उसका उद्धार कर सकता है बोल ? गुरु केवल कुछ आवरणों को हटा सकते हैं। उन आवरणों के हटते ही आत्मा अपनी महिमा में स्वयं ज्योतिष्मान होकर सूर्य की तरह प्रकट हो जाती है।

शिष्य—तो फिर शास्त्रों में कृपा की बात क्यों सुनते हैं ?

स्वामीजी—कृपा का मतलब क्या है जानता है ? जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार किया है, उनके भीतर एक महाशक्ति खेलने लगती है। ऐसे महापुरुष को केन्द्र बनाकर थोड़ी दूर तक व्यासार्द्ध लेकर जो एक वृत्त बन जाता है, उस वृत्त के भीतर जो लोग आ पड़ते हैं, वे उनके भाव से अनुप्राणित हो जाते हैं। अर्थात् वे उस महापुरुष के भाव में अभिभूत हो जाते हैं। अतः साधनभजन न करके भी वे अपूर्व आध्यात्मिक फल के अधिकारी बन जाते हैं। से यदि कृपा कहता है तो कह ले।

शिष्य——महाराज, क्या इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार कृपा नहीं होती ?

स्वामीजी——वह भी है। जब अवतार आते हैं, तब उनकी लीला के साथ साथ मुक्त एवं मुमुक्षु पुरुषगण उनकी लीला की सहायता करने के लिए देह धारण करके आते हैं। करोड़ों जन्मों का अन्धकार हटाकर केवल अवतार ही एक ही जन्म में मुक्त कर दे सकते हैं, इसी का अर्थ है कृपा। समझा ?

शिष्य——जी हाँ; परन्तु जिन्हें उनका दर्शन प्राप्त नहीं हुआ, उनके उद्धार का क्या उपाय है ?

स्वामीजी——उनका उपाय है——उन्हें पुकारना। पुकार पुकारकर अनेक लोग उनका दर्शन पाते हैं, ठीक हमारे जैसे शरीर में उनका दर्शन करते हैं और उनकी कृपा प्राप्त करते हैं।

शिष्य——महाराज, श्रीरामकृष्ण के शरीर छूट जाने के बाद क्या आपको उनका दर्शन प्राप्त हुआ था ?

स्वामीजी——श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद मैंने कुछ दिन गाजीपुर में पवहारी बाबा का संग किया था। उस समय पवहारी बाबा के आश्रम के निकट एक बगीचे में मैं रहता था। लोग उसे भूत का बगीचा कहा करते थे, परन्तु मुझे भय न लगता था। जानता तो है कि मैं ब्रह्मदैत्य, भूत-फूत से नहीं डरता। उस बगीचे में नीबू के अनेक पेड़ थे और वे फलते भी खूब थे। मुझे उस समय पेट की सख्त बीमारी थी, और इस पर वहाँ रोटी के अतिरिक्त और कुछ भिक्षा में भी नहीं मिलता था। इसलिए हाजमे के लिए नीबू का रस खूब पीता था। पवहारी बाबा के पास आना-जाना बहुत ही अच्छा लगता था। वे भी मुझे बहुत प्यार करने लगे। एक दिन मन में आया, श्रीरामकृष्णदेव के पास

इतने दिन रहकर भी मैंने इस रुग्ण शरीर को दृढ़ बनाने का कोई उपाय तो नहीं पाया। सुना है, पवहारी बाबा हठयोग जानते हैं। उनसे हठयोग की क्रिया सीखकर देह को दृढ़ बनाने के लिए अब कुछ दिन साधना करूँगा। जानता तो है, मेरा पूर्व बंगाल का रुख है—जो मन में आयगा, उसे करूँगा ही। जिस दिन मैंने पवहारी बाबा से दीक्षा लेने का इरादा किया उसकी पिछली रात को एक खटिया पर सोकर पड़ा पड़ा सोच रहा था, इसी समय देखता हूँ, श्रीरामकृष्ण मेरी दाहिनी ओर खड़े होकर एक दृष्टि से मेरी ओर टकटकी लगाये हैं; मानो वे विशेष दु:खी हो रहे हैं। जब मैंने उनके चरणों में सर्वस्व समर्पण कर दिया है तो फिर किसी दूसरे को गुरु बनाऊँ ? यह बात मन में आते ही लज्जित होकर मैं उनकी ओर ताकता रह गया। इसी प्रकार शायद दो-तीन घण्टे बीत गये। परन्तु उस समय मेरे मुख से कोई भी बात नहीं निकली। उसके बाद एकाएक वे अन्तर्हित हो गये। श्रीरामकृष्ण को देखकर मन न जाने कैसा हो गया ! इसीलिए उस दिन के लिए दीक्षा लेने का संकल्प स्थगित रखना पड़ा। दो एक दिन बाद फिर पवहारी बाबा से मन्त्र लेने का संकल्प उठा। उस दिन भी रात को फिर श्रीरामकृष्ण प्रकट हुए—ठीक पहले दिन की ही तरह। इस प्रकार लगातार इक्कीस दिन तक उनका दर्शन पाने के बाद दीक्षा लेने का संकल्प एकदम त्याग दिया। मन में सोचा जब भी मन्त्र लेने का विचार करता हूँ, तभी इस प्रकार दर्शन होता है, तब मन्त्र लेने पर तो इष्ट के बदले अनिष्ट ही हो जायगा।

शिष्य—महाराज, श्रीरामकृष्ण के देह-त्याग के बाद क्या उनके साथ आपका कोई वार्तालाप भी हुआ था ?

स्वामीजी इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर चुपचाप बैठे रहे।

थोड़ी देर बाद शिष्य से बोले, "श्रीरामकृष्ण का दर्शन जिन लोगों को प्राप्त हुआ है, वे धन्य हैं। 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था।' तुम लोग भी उनका दर्शन प्राप्त करोगे। अब जब तुम लोग यहाँ आ गये हो तो अब तुम लोग भी यहीं के आदमी हो गये हो! 'राम-कृष्ण' नाम धारण करके कौन आया था, कोई नहीं जानता। ये जो उनके अंतरंग——संगी-साथी हैं——इन्होंने भी उनका पता नहीं पाया। किसी किसी ने कुछ कुछ पाया है, पर बाद में सभी समझेंगे। ये राखाल आदि जो लोग उनके साथ आये हैं इनसे भी कभी कभी भूल हो जाती है। दूसरों की फिर क्या कहूँ?"

इस प्रकार बात चल रही थी। इसी समय स्वामी निरंजनानन्द ने दरवाजा खटखटाया। शिष्य ने उठकर निरंजनानन्द स्वामी से पूछा, "कौन आया है?" स्वामी निरंजनानन्द बोले, "भगिनी निवेदिता और अन्य दो अँग्रेज महिलाएँ।" शिष्य ने स्वामीजी से यह बात कही। स्वामीजी बोले, "वह अलखल्ला दे तो।" जब शिष्य ने वह उन्हें ला दिया, तो वे सारा शरीर ढककर बैठे और शिष्य ने दरवाजा खोल दिया। भगिनी निवेदिता तथा अन्य अंग्रेज महिलाएँ प्रवेश करके फर्श पर ही बैठ गयीं और स्वामीजी का कुशल-समाचार आदि पूछकर साधारण वार्तालाप करके ही चली गयीं। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "देखा, ये लोग कैसे सभ्य हैं? बंगाली होते, तो अस्वस्थ देखकर भी कम से कम आधा घण्टा मुझे बकवाते!"

दिन के करीब ढाई बजे का समय है, लोगों की बड़ी भीड़ है। मठ की जमीन में तिल रखने तक का स्थान नहीं है। कितना कीर्तन हो रहा है, कितना प्रसाद बाँटा जा रहा है——कुछ कहा नहीं जाता! स्वामीजी ने शिष्य के मन की बात समझकर कहा, "एक बार जाकर

देख आ, मगर बहुत जल्द लौटना !" शिष्य भी आनन्द के साथ बाहर जाकर उत्सव देखने लगा। स्वामी निरंजनानन्द द्वार पर पहले की तरह बैठे रहे। लगभग दस मिनट के बाद शिष्य लौटकर स्वामीजी को उत्सव की भीड़ की बातें सुनाने लगा।

स्वामीजी—कितने आदमी होंगे ?

शिष्य—कोई पचास हजार !

शिष्य की बात सुनकर, स्वामीजी उठकर खड़े हुए और उस जन-समूह को देखकर बोले, "नहीं बहुत होंगे तो करीब तीस हजार !"

उत्सव की भीड़ धीरे धीरे कम होने लगी। दिन के साढ़े चार बजे के करीब स्वामीजी के दरवाजे खिड़कियाँ आदि सब खोल दिये गये। परन्तु उनका शरीर अस्वस्थ होने के कारण उनके पास किसी को जाने नहीं दिया गया।

परिच्छेद ४१

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०२ ईसवी

विषय—स्वामीजी जीवन के अन्तिम दिनों में किस भाव से मठ में रहा करते थे—उनकी दरिद्रनारायणसेवा—देश के गरीब-दु:खियों के प्रति उनकी जीती-जागती सहानुभूति ।

पूर्व बंग से लौटने के बाद स्वामीजी मठ में ही रहा करते थे और मठ के घरेलू कार्यों की देख-रेख करते तथा कभी कभी कोई कोई काम अपने हाथ से ही करते हुए समय बिताते थे । वे कभी अपने हाथ से मठ की जमीन खोदते, कभी पेड़, बेल, फल-फूलों के बीज बोया करते, और कभी कभी यदि कोई नौकर-चाकर अस्वस्थ हो जाने के कारण किसी कमरे में झाड़ू न लगा सका तो वे अपने हाथ से ही झाड़ू लेकर उस कमरे की झाड़-बुहार करने लगते थे । यदि कोई यह देखकर कहता, "महाराज, आप क्यों ?" —तो उसके उत्तर में कहा करते थे, "इससे क्या ? गन्दगी रहने पर मठ के सभी लोगों को रोग हो जायगा !" उस समय उन्होंने मठ में कुछ गाय, हंस, कुत्ते और बकरियाँ पाल रखी थीं। एक बड़ी बकरी को 'हंसी' कहकर पुकारा करते थे और उसी के दूध से प्रात:काल चाय पीते थे। बकरी के एक छोटे बच्चे को 'मटरू' कहकर पुकारते थे और उन्होंने प्रेम से उसके गले में घुंघरू पहना दिये थे। बकरी का वह बच्चा प्यार पाकर स्वामीजी के पीछे पीछे घूमा करता था और स्वामीजी उसके साथ पाँच वर्ष के बच्चे की तरह दौड़कर खेला करते थे । मठ देखने के लिए नये नये आये

हुए व्यक्ति विस्मित होकर कहा करते थे— "क्या ये ही विश्व-विजयी स्वामी विवेकानन्द हैं !" कुछ दिन बाद 'मटरू' के मर जाने पर स्वामीजी ने दु:खी होकर शिष्य से कहा था—"देख, मैं जिससे भी जरा प्यार करने जाता हूँ, वही मर जाता है ।"

मठ की जमीन की सफाई तथा मिट्टी खोदने और बराबर करने के लिए प्रति वर्ष ही कुछ स्त्री-पुरुष सन्थाल कुली आया करते थे । स्वामीजी उनके साथ कितना हँसते-खेलते रहते थे और उनके सुख-दु:ख की बातें सुना करते थे । एक दिन कलकत्ते से कुछ विख्यात व्यक्ति मठ में स्वामीजी के दर्शन करने के लिए आये । उस दिन स्वामीजी उन सन्थालों के साथ बातचीत में ऐसे मग्न थे कि स्वामी सुबोधानन्द ने जब आकर उन्हें उन सब व्यक्तियों के आने का समाचार दिया, तब उन्होंने कहा, "मैं इस समय मिल न सकूँगा, इनके साथ बड़े मजे में हूँ ।" और वास्तव में उस दिन स्वामीजी उन सब दीन-दु:खी सन्थालों को छोड़कर उन व्यक्तियों के साथ मिलने न गये ।

सन्थालों में एक व्यक्ति का नाम था 'केष्टा' । स्वामीजी केष्टा को बड़ा प्यार करते थे । बात करने के लिए आने पर केष्टा कभी कभी स्वामीजी से कहा करता था, "अरे स्वामी बाप, तू हमारे काम के समय यहाँ पर न आया कर—तेरे साथ बात करने से हमारा काम बन्द हो जाता है और बूढ़ा बाबा आकर फटकार बताता है ।" यह सुनकर स्वामीजी की आँखें भर आती थीं और वे कहा करते थे, "नहीं, बूढ़ा बाबा (स्वामी अद्वैतानन्द) फटकार नहीं बतायेगा, तू अपने देश की दो बातें बता—" और यह कहकर उसके पारिवारिक सुख-दु:खों की बातें छेड़ देते थे ।

एक दिन स्वामीजी ने केष्टा से कहा, "अरे तुम लोग हमारे

यहाँ खाना खाओगे ?" केष्टा बोला, "हम अब और तुम लोगों का छुआ नहीं खाते हैं, अब ब्याह जो हो गया है। तुम्हारा छुआ नमक खाने से जात जायगी रे बाप।" स्वामीजी बोले, "नमक क्यों खायगा रे ? बिना नमक डालकर तरकारी पका देंगे, तब तो खायगा न ?" केष्टा उस बात पर राजी हो गया। इसके बाद स्वामीजी के आदेश से मठ में उन सब सन्थालों के लिए पूरी, तरकारी, मिठाई, दही आदि का प्रबन्ध किया गया और वे उन्हें बिठाकर खिलाने लगे। खाते खाते केष्टा बोला, "हाँ रे स्वामी बाप, तुमने ऐसी चीजें कहाँ से पायी हैं—हम लोगों ने कभी ऐसा नहीं खाया।" स्वामीजी ने उन्हें सन्तोषपूर्वक भोजन कराकर कहा, "तुम लोग तो नारायण हो—आज मैंने नारायण को भोग दिया।" स्वामीजी जो दरिद्र-नारायण की सेवा की बात कहा करते थे, उसे वे इसी प्रकार स्वयं करके दिखा गये हैं।

भोजन के बाद जब सन्थाल लोग आराम करने गये, तब स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "इन्हें देखा, मानो साक्षात् नारायण हैं—ऐसा सरल चित्त—ऐसा निष्कपट सच्चा प्रेम, कभी नहीं देखा था।"

इसके बाद मठ में संन्यासियों को सम्बोधित कर कहने लगे, "देखो, ये लोग कैसे सरल हैं। इनका दुःख थोड़ाबहुत दूर कर सकोगे ? नहीं तो भगवे वस्त्र पहनने से फिर क्या हुआ ? परहित के लिए सर्वस्व अर्पण—इसी का नाम वास्तविक संन्यास है। इन्हें कभी अच्छी चीजें खाने को नहीं मिलीं। मन में आता है—मठ आदि सब बेच दूँ, इन सब गरीब-दुःखी दरिद्र-नारायणों में बाँट दूँ। हमने वृक्षतल को ही तो आश्रयस्थान बना रखा है। हाय ! देश के लोग पेट भर भोजन भी नहीं पा रहे हैं, फिर हम किस

मुँह से अन्न खा रहे हैं ? उस देश में जब गया था—माँ से कितना कहा, 'माँ ! यहाँ पर लोग फूलों की सेज पर सो रहे हैं, तरह तरह के खाद्य-पेयों का उपभोग कर रहे हैं, उन्होंने कौनसा भोग बाकी रखा है !—और हमारे देश के लोग भूखों मर रहे हैं—माँ, उनके उद्धार का कोई उपाय न होगा ?' उस देश में धर्म-प्रचारार्थ जाने का मेरा एक यह भी उद्देश्य था कि मैं इस देश के लिए अन्न का प्रबन्ध कर सकूँ।

"देश के लोग दो वक्त दो दाने खाने को नहीं पाते, यह देखकर कभी कभी मन में आता है—छोड़ दे शंख बजाना, घण्टी हिलाना, छोड़ दे लिखना-पढ़ना और स्वयं मुक्त होने की चेष्टा—हम सब मिलकर गाँव गाँव में घूमकर चरित्र और साधना के बल पर धनिकों को समझाकर, धन संग्रह करके ले आयें और दरिद्र-नारायण की सेवा करके जीवन बिता दें।

"देश इन गरीब दुखियों के लिए कुछ नहीं सोचता है रे ? जो लोग हमारे राष्ट्र की रीढ़ हैं—जिनके परिश्रम से अन्न पैदा हो रहा है—जिन मेहतर डोमों के एक दिन के लिए भी काम बन्द करने पर शहर भर में हाहाकार मच जाती है—हाय ! हम क्यों न उनके साथ सहानुभूति करें, सुख-दुःख में सान्त्वना दें ! क्या देश में ऐसा कोई भी नहीं है रे ! यह देखो न—हिन्दुओं की सहानुभूति न पाकर मद्रास प्रान्त में हजारों पेरिया ईसाई बने जा रहे हैं, पर ऐसा न समझना कि वे केवल पेट के लिए ईसाई बनते हैं। असल में हमारी सहानुभूति न पाने के कारण वे ईसाई बनते हैं। हम दिन रात उन्हें केवल यही कहते रहे हैं, 'छुओ मत, छुओ मत।' देश में क्या अब दया धर्म है भाई ? केवल छुआछूत-पन्थियों का दल रह गया है ! ऐसे आचार के मुख पर मार

झाड़ू, मार लात ! इच्छा होती है तेरे छुआछूत-पन्थ की सीमा को तोड़कर अभी चला जाऊँ—'जहाँ कहीं भी पतित, गरीब, दीन दरिद्र हों, आ जाओ' यह कह कहकर, उन सभी को श्रीरामकृष्ण के नाम पर बुला लाऊँ। इन लोगों के बिना उठे माँ नहीं जागेगी। हम यदि इनके लिए अन्न-वस्त्र की सुविधा न कर सके, तो फिर हमने क्या किया ? हाय ! ये लोग दुनियादारी कुछ भी नहीं जानते हैं, इसीलिए तो दिनरात परिश्रम करके भी अन्न-वस्त्र का प्रबन्ध नहीं कर पाते। आओ हम सब मिलकर इनकी आँखें खोल दें—मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ, इनके और मेरे भीतर एक ही ब्रह्म—एक ही शक्ति विद्यमान है, केवल विकास की न्यूनाधिकता है। सभी अंगों में रक्त का संचार हुए बिना किसी भी देश को कभी उठते देखा है ? एक अंग के दुर्बल हो जाने पर, दूसरे अंग के सबल होने से भी उस देह से कोई बड़ा काम फिर नहीं होता इस बात को निश्चित जान लेना।"

शिष्य—महाराज, इस देश के लोगों में कितने भिन्न भिन्न धर्म हैं, कितने विभिन्न भाव हैं—इन सब का आपस में मेल हो जाना तो बड़ा ही कठिन प्रतीत होता है।

स्वामीजी (कुछ रोषपूर्वक)—यदि किसी काम को कठिन मान लेगा तो फिर यहाँ न आना। श्रीरामकृष्ण की इच्छा से सब कुछ ठीक हो जायगा। तेरा काम है जाति-वर्ण का विचार छोड़कर दीन-दुःखियों की सेवा करना उसका परिणाम क्या होगा, क्या न होगा यह सोचना तेरा काम नहीं है। तेरा काम है, सिर्फ काम करते जाना; फिर सब अपने आप ही हो जायगा। मेरे काम की पद्धति है गढ़कर तैयार करना। जो है, उसे तोड़ना नहीं। जगत् का इतिहास पढ़कर देख, एक एक महापुरुष एक एक

समय में एक एक देश के मानो केन्द्र के रूप में खड़े हुए थे। उनके भाव से अभिभूत होकर सैकड़ों हजारों लोग जगत् का कल्याण कर गये हैं। तुम बुद्धिमान लड़के हो। यहाँ पर इतने दिनों से आ रहे हो, इस अवसर में तुमने क्या किया बोलो तो? दूसरों के लिए क्या एक जन्म भी नहीं दे सकते? दूसरे जन्म में आकर फिर वेदान्त आदि पढ़ लेना। इस जन्म में दूसरों की सेवा में यह देह दे जा, तब जानूँगा कि मेरे पास आना सफल हुआ है।

इन बातों को कहकर स्वामीजी फिर गम्भीर चिन्ता में मग्न हो गये। थोड़ा समय बीतने के बाद वे बोले, "मैंने इतनी तपस्या करके यही सार समझा है कि जीव जीव में वे अधिष्ठित हैं; इसके अतिरिक्त ईश्वर और कुछ भी नहीं हैं। जो जीवों के प्रति दया करता है वही व्यक्ति ईश्वर की सेवा कर रहा है।"

अब सन्ध्या हो गयी थी। स्वामीजी दूसरी मंजिल पर गये और बिस्तर पर लेटकर शिष्य से बोले, "दोनो पैरों को जरा दबा तो दे।" शिष्य आज की बातचीत से भयभीत और स्तम्भित होकर स्वयं आगे नहीं बढ़ रहा था। अतएव अब साहस पाकर बड़ी खुशी से स्वामीजी की चरणसेवा करने बैठा। थोड़ी देर बाद स्वामीजी ने उसे सम्बोधित कर कहा, "आज मैंने जो कुछ कहा है, उन बातों को मन में गूँथकर रखना। कहीं भूल न जाना।"

परिच्छेद ४२

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०२ ईसवी का प्रारम्भ

विषय— वराहनगर मठ में श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्यों का साधनभजन—मठ की पहली स्थिति—स्वामीजी के जीवन के कुछ दु:ख के दिन—संन्यास के कठोर नियम।

आज शनिवार है। शिष्य सन्ध्या के पहले ही मठ में आ गया है। मठ में आजकल साधनभजन, जप, तप का बहुत जोर है। स्वामीजी ने आज्ञा दी है कि ब्रह्मचारी और संन्यासी सभी को खूब सबेरे उठकर मन्दिर में जाकर जप-ध्यान करना होगा। स्वामीजी की निद्रा तो एक प्रकार नहीं के ही समान है, प्रात:काल तीन बजे से ही बिस्तर से उठकर बैठे रहते हैं। एक घण्टा खरीदा गया है—तड़के सभी को जगाने के लिए मठ के प्रत्येक कमरे के पास जाकर जोर जोर से वह घण्टा बजाया जाता है।

शिष्य ने मठ में आकर स्वामीजी को प्रणाम किया। प्रणाम स्वीकार करते ही वे बोले, "ओ रे, मठ में आजकल कैसा साधन-भजन हो रहा है; सभी लोग तड़के और सायंकाल बहुत देर तक जप-ध्यान करते हैं। वह देख, घण्टा लाया गया है; उसीसे सब को जगाया जाता है। अरुणोदय से पहले सभी को नींद छोड़कर उठना पड़ता है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'प्रात:काल और सायंकाल मन सात्त्विक भावों से पूर्ण रहता है, उसी समय एकाग्र मन से ध्यान करना चाहिए।"

"श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद हम वराहनगर के मठ में कितना जप-ध्यान किया करते थे। सुबह तीन बजे सब जाग उठते थे। शौच आदि के बाद कोई स्नान करके और कोई कपड़े बदलकर मन्दिर में जाकर बैठे हुए जप-ध्यान में डूब जाया करते थे। उस समय हम लोगों में क्या ही वैराग्य का भाव था! दुनिया है या नहीं इसका पता ही न था। शशी (स्वामी रामकृष्णानन्द) चौबीस घण्टे श्रीरामकृष्ण की सेवा करता रहता था, वह घर की गृहिणी की तरह था। भिक्षा माँगकर श्रीरामकृष्ण के भोग आदि की और हम लोगों के खिलाने-पिलाने की सारी व्यवस्था वह स्वयं ही करता था। ऐसे दिन भी गये हैं, जब सबेरे से चार-पाँच बजे शाम तक जप-ध्यान चलता रहता था। शशी खाना लेकर बहुत देर तक बैठे रहकर अन्त में किसी तरह से घसीटकर हमें जप-ध्यान से उठा दिया करता था। अहा, शशी की कैसी निष्ठा देखी है!"

शिष्य—महाराज, मठ का खर्च उन दिनों कैसे चलता था?

स्वामीजी—कैसे चलता था, क्या प्रश्न है रे? हम साधु-संन्यासी लोग हैं! भिक्षा माँगकर जो आता था, उसीसे सब चला करता था। आज सुरेश बाबू, बलराम बाबू नहीं हैं; वे दो व्यक्ति आज होते तो इस मठ को देखकर कितने आनन्दित होते! सुरेश बाबू का नाम सुना है न? उन्हें एक प्रकार से इस मठ के संस्थापक ही कहना चाहिए। वे ही वराहनगर मठ का सारा खर्च चलाते थे। सुरेश मित्र उस समय हम लोगों के लिए बहुत सोचा करते थे। उनकी भक्ति और विश्वास की तुलना नहीं हो सकती।

शिष्य—महाराज, सुना है उनकी मृत्यु के समय आप लोग उनसे मिलने के लिए अधिक नहीं जाया करते थे।

स्वामीजी---उनके रिश्तेदार जाने देते तब न ? जाने दे, उनमें अनेक बातें हैं। परन्तु इतना जान लेना, संसार में तू जीवित है या मर गया है, इससे तेरे स्वजनों को कोई विशेष हानि-लाभ नहीं है। तू यदि कुछ सम्पत्ति छोड़कर जा सका तो देख लेना तेरी मृत्यु से पहले ही उस पर घर में डण्डेबाजी शुरू हो जायगी ! तेरी मृत्युशय्या पर तुझे सान्त्वना देनेवाला कोई नहीं है---स्त्री-पुत्र तक नहीं। इसी का नाम संसार है।

मठ की पूर्वस्थिति के सम्बन्ध में स्वामीजी फिर बोलने लगे--"पैसे की कमी के कारण कभी कभी तो मैं मठ उठा देने के लिए झगड़ा किया करता था; परन्तु शशी को उस विषय में किसी भी तरह सहमत न करा सकता था। शशी को हमारे मठ का केन्द्रस्वरूप समझना। कभी कभी मठ में ऐसा अभाव हुआ है कि कुछ भी नहीं रहता था। भिक्षा माँगकर चावल लाया गया तो नमक नहीं है। कभी केवल नमक और चावल था, फिर भी किसी की परवाह नहीं, जप-ध्यान के प्रबल वेग में उस समय हम सब बह रहे थे। कुन्दरू का पत्ता उबाला हुआ और नमक-भात, यही लगातार महीनों तक चला---ओह ! वे कैसे दिन थे ! परन्तु यह बात निश्चित सत्य है कि तेरे अन्दर यदि कुछ चीज रहे तो बाह्य परिस्थिति जितनी ही विपरीत होगी, भीतर की शक्ति का उतना ही उन्मेष होगा। परन्तु अब जो मठ में खाट, बिछौना, खाने-पीने आदि की अच्छी व्यवस्था की है, इसका कारण यह है कि उन दिनों हम लोग जितना सहन कर सके हैं, उतना क्या आजकल के लोग जो संन्यासी बनकर यहाँ आ रहे हैं, सहन कर सकेंगे ? हमने श्रीरामकृष्ण का जीवन देखा है, इसीलिए हम दु:ख या कष्ट की विशेष परवाह नहीं किया करते थे। आजकल के लड़के उतनी

कठोर साधना न कर सकेंगे । इसीलिए रहने के लिए थोड़ा स्थान और दो दाने अन्न की व्यवस्था की गयी है । 'मोटा भात, मोटा वस्त्र' पाने पर लड़के सब साधनभजन में मन लगायेंगे और जीव के हित के लिए जीवन का उत्सर्ग करना सीखेंगे ।"

शिष्य---महाराज, मठ के ये सब खाट-बिछौने देखकर बाहर के लोग अनेक विरुद्ध बातें करते हैं ।

स्वामीजी---करने दे न । हँसी उड़ाने के बहाने ही सही, यहाँ की बात एक बार मन में तो लायेंगे ! शत्रुभाव से जल्द मुक्ति होती है । श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'लोग पोक---लोग तो कीड़े मकोड़े हैं ।' इसने क्या कहा, उसने क्या कहा, क्या यही सुनकर चलना होगा ? छीः छीः ।

शिष्य---महाराज आप कभी कहते हैं, 'सब नारायण हैं, दीन-दुःखी मेरे नारायण हैं' और फिर कभी कहते हैं, 'लोग तो कीड़े मकोड़े हैं ।' इसका मतलब मैं नहीं समझ पाता ।

स्वामीजी---सभी जो नारायण हैं, इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है, परन्तु सभी नारायण तो बदनाम नहीं करते न ? बेचारे गरीब दुःखी लोग मठ का इन्तजाम आदि देखकर तो कभी बदनाम नहीं करते ? हम सत्कार्य करते जायेंगे, जो बदनाम करेंगे उन्हें करने दो । हम उनकी ओर देखेंगे भी नहीं---इसी भाव से कहा गया है 'लोग तो कीड़े मकोड़े हैं ।' जिसका ऐसा उदासीन रुख है, उसका सब कुछ सिद्ध हो जाता है । हाँ, किसी किसी का जरा विलम्ब से होता है परन्तु होता है निश्चित । हम लोगों का ऐसा ही उदासीन रुख था, इसीलिए थोड़ाबहुत हो पाया है । नहीं तो देखते ही हो, हमारे कैसे दुःख के दिन बीते हैं ! एक बार तो ऐसा हुआ कि भोजन न पाकर रास्ते के किनारे

एक मकान के बरामदे पर बेहोश होकर पड़ा था; सिर पर थोड़ी देर वर्षा का जल गिरता रहा, तब होश में आया था। एक दूसरे अवसर पर दिन भर खाने को न पाकर कलकत्ते में यह काम, वह काम करता हुआ घूम-घामकर रात को दस ग्यारह बजे मठ में आया तब कुछ खा सका और ऐसा सिर्फ एक दिन ही नहीं हुआ !

इन बातों को कहकर स्वामीजी अन्यमनस्क होकर थोड़ी देर बैठे रहे। बाद में फिर कहने लगे—

"ठीक ठीक संन्यास क्या आसानी से होता है रे ? ऐसा कठिन आश्रम और दूसरा नहीं है। जरा ही नीति-विरुद्ध पैर पड़े कि पहाड़ से एकदम घाटी में गिरे—हाथ-पैर सब टकराकर चकनाचूर हो गये। एक दिन मैं आगरा से वृन्दावन पैदल जा रहा था। पास में एक फूटी कौड़ी भी नहीं थी। मैं वृन्दावन से करीब एक कोस की दूरी पर था; देखा, रास्ते के किनारे एक व्यक्ति बैठकर तम्बाकू पी रहा है। उसे देखकर मुझे भी तम्बाकू पीने की इच्छा हुई। मैंने उससे कहा, 'अरे भाई, जरा मुझे भी चिलम देगा ?' वह मानो सकुचाता हुआ बोला, 'महाराज, हम भँगी हैं।' यह सुनकर मैं पीछे हट गया और बिना तम्बाकू पिये ही फिर रास्ता चलने लगा—संस्कार ही है न ? पर थोड़ी दूर जाकर मन में विचार आया, 'अरे मैंने तो संन्यास लिया है; जाति, कुल, मान—सब कुछ छोड़ दिया है, फिर भी उस व्यक्ति ने जब अपने को भंगी बताया तो मैं पीछे क्यों हट गया ? उसका छुआ हुआ तम्बाकू भी न पी सका !' ऐसा सोचकर मन व्याकुल हो उठा। उस समय करीब दो फर्लांग रास्ता चल आया था। पर फिर लौटकर उसी मेहतर के पास आया, देखा कि अब भी वह व्यक्ति वहीं पर बैठा है। मैंने

जाकर जल्दी से कहा, 'अरे भैया, एक चिलम तम्बाकू भर कर ले आ।' उसने फिर कहा कि वह मेहतर है। पर मैंने उसकी मनाही की कोई परवाह न की और कहा, 'चिलम में तम्बाकू देना ही पड़ेगा।' वह क्या करता? अन्त में उसने चिलम भर कर मुझे दे दी। फिर आनन्द से तम्बाकू पीकर मैं वृन्दावन आया। अतएव संन्यास लेने पर इस बात की परीक्षा लेनी होती है कि वह व्यक्ति स्वयं जाति-वर्ण के परे चला गया है या नहीं। ठीक ठीक संन्यास-व्रत की रक्षा करना बड़ा कठिन है, कहने और करने में जरा भी फर्क होने की गुंजाइश नहीं है।"

शिष्य--महाराज, आप हमारे सामने कभी गृहस्थ का आदर्श और कभी त्यागी का आदर्श रखते हैं; हम जैसों को उनमें से किसका अवलम्बन करना उचित है?

स्वामीजी--सब सुनता जाया कर, उसके बाद जो अच्छा लगे उसीको ले लेना। फिर बुलडॉग नामक कुत्ते की तरह दृढ़ता के साथ पकड़कर पड़े रहना।

इस प्रकार वार्तालाप होते होते स्वामीजी शिष्य के साथ नीचे उतर आये और कभी बीच बीच में "शिव शिव" कहते कहते और फिर कभी गुनगुनाकर "कब किस रंग में रहती हो माँ श्यामा सुधातरंगिनी" आदि गीत गाते हुए टहलने लगे।

परिच्छेद ४३

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०२ ईसवी

विषय—बेलुड़ मठ में जप-ध्यान का अनुष्ठान—विद्यारूपिणी कुण्डलिनी के जागरण से आत्मदर्शन—ध्यान के समय एकाग्र होने का उपाय—मन की सविकल्प व निर्विकल्प स्थिति—कुण्डलिनी को जगाने का उपाय—भाव-साधना के पथ में विपत्तियाँ—कीर्तन आदि के बाद कई लोगों में पाशविक प्रवृति की वृद्धि क्यों होती है—ध्यान का प्रारम्भ किस प्रकार करना चाहिए—ध्यान आदि के साथ निष्काम कर्म करने का उपदेश।

शिष्य पिछली रात को स्वामीजी के कमरे में ही सोया था। रात्रि के चार बजे स्वामीजी शिष्य को जगाकर बोले, "जा, घण्टा लेकर सब साधु-ब्रह्मचारियों को जगा दे।" आदेश के अनुसार शिष्य ने पहले ऊपरवाले साधुओं के पास घण्टा बजाया। फिर उन्हें उठते देख नीचे जाकर घण्टा बजाकर सब साधु-ब्रह्मचारियों को जगाया। साधुगण जल्दी ही शौच आदि से निवृत्त होकर, कोई कोई स्नान करके अथवा कोई कपड़ा बदलकर, मन्दिर में जप-ध्यान करने के लिए प्रविष्ट हुए।

स्वामीजी के निर्देश के अनुसार स्वामी ब्रह्मानन्द के कानों के पास बहुत जोर जोर से घण्टा बजाने से वे बोल उठे, "इस बांगाल 'बुद्धू' की शरारत के कारण मठ में रहना कठिन हो गया है।" शिष्य ने जब स्वामीजी से वह बात कही तो स्वामीजी खूब हँसते हुए बोले, "तूने ठीक किया।"

इसके बाद स्वामीजी भी मुँह-हाथ धोकर शिष्य के साथ मन्दिर में प्रविष्ट हुए।

स्वामी ब्रह्मानन्द आदि संन्यासीगण मन्दिर में ध्यानस्थ बैठे थे। स्वामीजी के लिए अलग आसन रखा हुआ था; वे उत्तर की ओर मुँह करके उस पर बैठते हुए सामने एक आसन दिखाकर शिष्य से बोले, "जा वहाँ पर बैठकर ध्यान कर।" ध्यान के लिए बैठकर कोई मन्त्र जपने लगे, तो कोई अन्तर्मुख होकर शान्त भाव से बैठे रहे। मठ का वातावरण मानो स्तब्ध हो गया। अभी तक अरुणोदय नहीं हुआ था। आकाश में तारे चमक रहे थे।

स्वामीजी आसन पर बैठने के थोड़ी ही देर बाद एकदम स्थिर, शान्त, निःस्पन्द होकर सुमेरु की तरह निश्चल हो गये और उनका श्वास बहुत धीरे धीरे चलने लगा। शिष्य विस्मित होकर स्वामीजी की वह निश्चल निवात-निष्कम्प दीपशिखा की तरह स्थिति को एकटक देखने लगा। जब तक स्वामीजी न उठेंगे, तब तक किसी को आसन छोड़कर उठने की आज्ञा नहीं है। इसलिए थोढ़ी देर बाद पैर में झुनझुनी आने पर तथा उठने की इच्छा होने पर भी वह स्थिर होकर बैठा रहा।

लगभग डेढ़ घण्टे के बाद स्वामीजी "शिव शिव" कहकर ध्यान समाप्त कर उठ गये। उस समय उनकी आँखें आरक्त हो उठी थीं, मुख गम्भीर, शान्त एवं स्थिर था। श्रीरामकृष्ण को प्रणाम करके स्वामीजी नीचे उतरे और मठ के आँगन में टहलते हुए घूमने लगे। थोड़ी देर बाद शिष्य से बोले, "देखा, साधुगण आजकल कैसे जप-ध्यान करने हैं ? ध्यान गम्भीर होने पर कितने ही आश्चर्यजनक अनुभव होते हैं। मैंने वराहनगर के मठ में ध्यान करते करते एक दिन ईड़ा-पिंगला नाड़ियाँ देखी थीं। जरा चेष्टा करने से ही देखा जा सकता है। उसके बाद सुषुम्ना का दर्शन पाने पर जो कुछ देखना चाहेगा, वही देखा जा सकता है। दृढ़ गुरुभक्ति होने पर

साधन, भजन, ध्यान, जप सब स्वयं ही आ जाते हैं।'' चेष्टा की आवश्यकता नहीं होती। 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।'

''भीतर नित्यशुद्धबुद्धमुक्त आत्मारूपी सिंह विद्यमान है; ध्यान-धारणा करके उनका दर्शन पाते ही माया की दुनिया उड़ जाती है। सभी के भीतर वे समभाव से विद्यमान हैं; जो जितना साधनभजन करता है उसके भीतर उतनी ही जल्द कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है। वह शक्ति मस्तक में उठते ही दृष्टि खुल जाती है—आत्म-दर्शन प्राप्त हो जाता है।

शिष्य—महाराज, शास्त्र में उन बातों को केवल पढ़ा ही है। प्रत्यक्ष तो कुछ भी नहीं हुआ!

स्वामीजी—'कालेनात्मनि विन्दति'—समय पर अवश्य ही होगा। अन्तर इतना ही है कि किसी का जल्द और किसी का जरा देर में होता है। लगे रहना चाहिए, चिपके रहना चाहिए। इसीका नाम यथार्थ पुरुषकार है। तेल की धार की तरह मन को एक ओर लगाये रखना चाहिए। जीव का मन अनेकानेक विषयों से विक्षिप्त हो रहा है, ध्यान के समय भी पहलेपहल मन विक्षिप्त होता है। मन में जो चाहे क्यों न उठें, क्या भाव उठ रहे हैं, उन्हें उस समय स्थिर हो देखना चाहिए। उसी प्रकार देखते देखते मन स्थिर हो जाता है और फिर मन में चिन्ता की तरंगें नहीं रहतीं। वह तरंगसमूह ही है मन की 'संकल्पवृत्ति'। इससे पूर्व जिन विषयों का तीव्र भाव से चिन्तन किया है, उनका एक मानसिक प्रवाह रहता है, इसीलिए वे विषय ध्यान के समय मन में उठते हैं। उनका उठना या ध्यान के समय स्मरण होना ही इसका प्रमाण है कि साधक का मन धीरे, धीरे स्थिरता की ओर जा रहा है। मन कभी कभी किसी भाव को लेकर एकवृत्तिस्थ हो जाता है—उसी का नाम

है सविकल्प ध्यान। और मन जिस समय सभी वृत्तियों से शून्य हो जाता है उस समय निराधार एक अखण्ड बोधरूपी प्रत्यक् चैतन्य में लीन हो जाता है। इसी का नाम वृत्तिशून्य निर्विकल्प समाधि है। हमने श्रीरामकृष्ण में ये दोनों समाधियाँ बार बार देखी हैं। उन्हें ऐसी स्थितियों को कोशिश करके लाना नहीं पड़ता था। बल्कि अपने आप ही एकाएक वैसा हो जाया करता था। वह एक आश्चर्यजनक घटना होती थी! उन्हें देखकर ही तो ये सब ठीक समझ सका। प्रतिदिन अकेले ध्यान करना; सब रहस्य स्वयं ही खुल जायगा। विद्यारूपिणी महामाया भीतर सो रही हैं, इसलिए कुछ जान नहीं सक रहा है। यह कुण्डलिनी ही है वह शक्ति। ध्यान करने के पूर्व जब नाड़ी शुद्ध करेगा, तब मन ही मन मूलाधार स्थित कुण्डलिनी पर जोर जोर से आघात करना और कहना, 'जागो माँ! जागो माँ!' धीरे धीरे इन सब का अभ्यास करना होगा। भावप्रवणता को ध्यान के समय एकदम दबा देना, उसमें बड़ा भय है। जो लोग अधिक भावप्रवण हैं, उनकी कुण्डलिनी फड़फड़ाती हुई ऊपर तो उठ जाती है, परन्तु वह जितने शीघ्र ऊपर जाती है, उतने ही शीघ्र नीचे भी उतर आती है। जब उतरती है तो साधक को एकदम गर्त में ले जाकर छोड़ती है। भावसाधना के सहायक कीर्तन आदि में यही एक बड़ा दोष है। नाच-कूदकर सामयिक उत्तेजना से उस शक्ति की ऊर्ध्वगति अवश्य हो जाती है, परन्तु स्थायी नहीं होती। निम्नगामी होते समय जीव की प्रबल काम-प्रवृत्ति की वृद्धि होती है। मेरे अमरीका के भाषण सुनकर सामयिक उत्तेजना से स्त्री-पुरुषों में अनेकों का यही भाव हुआ करता था। कोई तो जड़ की तरह बन जाते थे। मैंने पीछे पता लगाया था, उस स्थिति के बाद ही कई लोगों की काम-प्रवृत्ति की अधिकता होती थी। सतत ध्यान-

धारणा का अभ्यास न होने के कारण ही वैसा होता है।

शिष्य—महाराज, ये सब गुप्त साधनरहस्य किसी शास्त्र में मैंने नहीं पढ़े। आज नयी बात सुनी।

स्वामीजी— सभी साधनरहस्य क्या शास्त्र में हैं ! वे सब गुरुशिष्य-परम्परा से गुप्तभाव से चले आ रहे हैं। खूब सावधानी के साथ ध्यान करना, सामने सुगन्धित फूल रखना, धूप जलाना। जिससे मन पवित्र हो, पहलेपहल वही करना। गुरु-इष्ट का नाम करते करते कहा कर, 'जीव जगत् सभी का मंगल हो।' उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ऊर्ध्व, अध: सभी दिशाओं में शुभ संकल्प की चिन्ताओं को बिखेरकर ध्यान में बैठा कर। ऐसा पहलेपहल करना चाहिए। उसके बाद स्थिर होकर बैठकर (किसी भी ओर मुँह करके बैठने से कार्य हो सकता है) मन्त्र देते समय जैसा मैंने कहा है, उसी प्रकार ध्यान किया कर। एक दिन भी क्रम न तोड़ना। कामकाज की झंझट रहे तो कम से कम पन्द्रह मिनट तो अवश्य ही कर लेना। एकनिष्ठा न रहने से कुछ नहीं होता।

अब स्वामीजी ऊपर जाते जाते कहने लगे, "अब तुम लोगों की थोड़े ही में आत्मदृष्टि खुल जायगी। जब तू यहाँ पर आ पड़ा है, तो मुक्ति-फुक्ति तो तेरी मुट्ठी में है। इस समय ध्यान आदि करने के अतिरिक्त इस दु:खपूर्ण संसार के कष्टों को दूर करने के लिए भी कमर कसकर काम में लग जा। कठोर साधना करते करते मैंने इस शरीर का मानो नाश कर डाला है। इस हड्डी-माँस के पिंजड़े में अब कुछ नहीं रहा। अब तुम लोग काम में लग जाओ। मैं जरा विश्राम करूँ। और कुछ नहीं कर सकता है तो ये सब जितने शास्त्र आदि पढ़े हैं, उन्हीं की बातें जीव को जाकर सुना। इससे बढ़कर और कोई दान नहीं है। ज्ञानदान सर्वश्रेष्ठ दान है।"

परिच्छेद ४४

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०२ ईसवी

विषय—मठ में कठिन विधि-नियमों का प्रचलन—"आत्माराम की डिबिया" व उसकी शक्ति की परीक्षा—स्वामीजी के महत्त्व के सम्बन्ध में शिष्य का स्वामी प्रेमानन्द के साथ वार्तालाप—पूर्व बंग में अद्वैतवाद का प्रचार करने के लिए स्वामीजी का शिष्य को प्रोत्साहित करना और विवाहित होते हुए भी धर्मलाभ का अभयदान—श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्यों के बारे में स्वामीजी का विश्वास—नाग महाशय का सिद्धसंकल्पत्व।

स्वामीजी अभी मठ में ही ठहरे हैं। शास्त्रचर्चा के लिए मठ में प्रतिदिन प्रश्नोत्तर-क्लास चल रहा है। इस क्लास में स्वामी शुद्धानन्द, विरजानन्द व स्वरूपानन्द प्रधान जिज्ञासु हैं। इस प्रकार शास्त्रालोचना का निर्देश स्वामीजी "चर्चा" शब्द द्वारा किया करते थे और संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों को सदैव यह "चर्चा" करने के लिए उत्साहित करते थे। किसी दिन गीता, किसी दिन भागवत, तो किसी दिन उपनिषद् या ब्रह्मसूत्र-भाष्य की चर्चा हो रही है। स्वामीजी भी प्रायः प्रतिदिन वहाँ पर उपस्थित रहकर प्रश्नों की मीमांसा कर रहे हैं। स्वामीजी के आदेश पर एक ओर जैसी कठोर नियम के साथ ध्यान-धारणा चल रही है दूसरी ओर उसी प्रकार शास्त्रचर्चा के लिए प्रतिदिन उक्त क्लास चल रहा है। उनकी आज्ञा को मानते हुए सभी उनके चलाये हुए नियमों का अनुसरण करके चल रहे हैं। मठनिवासियों के भोजन, शयन, पाठ, ध्यान आदि सभी इस समय

कठोर नियम द्वारा बद्ध हैं। कभी किसी दिन उस नियम का यदि कोई जरा भी उल्लंघन करता था, तो नियम की मर्यादा को तोड़ने के कारण उस दिन के लिए उसे मठ में भोजन नहीं दिया जाता। उस दिन उसे गाँव से भिक्षा माँगकर लानी पड़ती थी और भिक्षा में प्राप्त अन्न को मठभूमि में स्वयं ही पकाकर खाना पड़ता था। फिर संघ-निर्माण के लिए स्वामीजी की दूरदृष्टि केवल मठ-निवासियों के लिए दैनिक नियम बनाकर ही नहीं रुक गयी, बल्कि भविष्य में मठ में जो रीति-नीति तथा कार्यप्रणाली जारी रहेगी उसकी भलीभाँति आलोचना करके उसके सम्बन्ध में विस्तार के साथ अनुशासनसमूहों को भी तैयार किया गया है। उसकी पाण्डुलिपि आज भी बेलुड़ मठ में यत्नपूर्वक रखी गयी है।

प्रतिदिन स्नान के बाद स्वामीजी मन्दिर में जाते हैं, श्रीरामकृष्ण का चरणामृत पान करते हैं, उनके श्रीपादुकाओं को मस्तक से स्पर्श करते हैं और श्रीरामकृष्ण की भस्मास्थिपूर्ण डिबिया के सामने साष्टांग प्रणाम करते हैं। इस डिबिया को वे बहुधा "आत्माराम की डिबिया" कहा करते थे। इसके कुछ दिन पूर्व उस "आत्माराम की ड़िबिया" को लेकर एक विशेष घटना घटी। एक दिन स्वामीजी उसे मस्तक द्वारा स्पर्श करके ठाकुर-घर से बाहर आ रहे थे—इसी समय एकाएक उनके मन में आया, वास्तव में क्या इसमें आत्माराम श्रीरामकृष्ण का वास है? परीक्षा करके देखूँगा, ऐसा सोचकर मन ही मन उन्होंने प्रार्थना की, "हे प्रभो, यदि तुम राजधानी में उपस्थित अमुक महाराजा को आज से तीन दिन के भीतर आकर्षित करके मठ में ला सको तो समझूँगा कि तुम वास्तव में यहाँ पर हो।" मन ही मन ऐसा कहकर वे

ठाकुर-घर से बाहर निकल आये और उस विषय में किसी से कुछ भी न कहा। थोड़ी देर बाद वे उस बात को बिलकुल भूल गये। दूसरे दिन वे किसी काम से थोड़े समय के लिए कलकत्ता गये। तीसरे प्रहर मठ में लौटकर उन्होंने सुना कि सचमुच ही उस महाराजा ने मठ के निकटवर्ती ग्रॅण्ड ट्रंक रोड पर से जाते जाते रास्ते में गाड़ी रोककर स्वामीजी की तलाश में मठ में आदमी भेजा था और यह जानकर कि वे मठ में उपस्थित नहीं हैं, मठदर्शन के लिए नहीं आये। यह समाचार सुनते ही स्वामीजी को अपने संकल्प की याद आ गयी और बड़े विस्मय से अपने गुरुभाइयों के पास उस घटना का वर्णन कर उन्होंने "आत्माराम की डिबिया" की विशेष यत्न के साथ पूजा करने का उन्हें आदेश दिया।

आज शनिवार है। शिष्य तीसरे प्रहर मठ में आते ही इस घटना के बारे में जान गया है। स्वामीजी को प्रणाम करके बैठते ही उसे ज्ञात हुआ कि वे उसी समय घूमने निकलेंगे। स्वामी प्रेमानन्द को साथ चलने के लिए तैयार होने को कहा है। शिष्य की बहुत इच्छा है कि वह स्वामीजी के साथ जाय, परन्तु स्वामीजी की अनुमति पाये बिना जाना उचित नहीं है यह सोचकर वह बैठा रहा। स्वामीजी अलखल्ला तथा गेरुआ कनटोप पहनकर एक मोटा डण्डा हाथ में लेकर बाहर निकले। पीछे पीछे स्वामी प्रेमानन्द चले। जाने के पहले शिष्य की ओर ताककर बोले, "चल, चलेगा ?" शिष्य कृतकृत्य होकर स्वामी प्रेमानन्द के पीछे पीछे चल दिया।

न जाने क्या सोचते सोचते स्वामीजी कुछ अनमने से होकर चलने लगे। धीरे धीरे ग्रॅण्ड ट्रंक रोड पर आ पहुँचे। शिष्य ने स्वामीजी का उक्त प्रकार का भाव देखकर कुछ बातचीत आरम्भ

करके उनकी चिन्ता को भंग करने का साहस किया; पर उसमें सफलता न पाकर वह प्रेमानन्द महाराज के साथ अनेक प्रकार से वार्तालाप करते करते उनसे पूछने लगा, "महाराज, स्वामीजी के महत्त्व के बारे में श्रीरामकृष्ण आप लोगों से क्या कहा करते थे, कृपया बतलाइये।" उस समय स्वामीजी थोड़ा आगे आगे चल रहे थे।

स्वामी प्रेमानन्द—बहुत कुछ कहा करते थे; तुझे एक दिन में क्या बताऊँ ? कभी कहा करते थे, 'नरेन अखण्ड के घर से आया है।' कभी कहा करते थे, 'नरेन मेरी ससुराल है।' फिर कभी कहा करते थे, 'ऐसा व्यक्ति जगत् में न कभी आया है और न आयगा।' एक दिन बोले थे, 'महामाया उनके पास जाते डरती है।' वास्तव में वे उस समय किसी देवी-देवता के सामने सिर न झुकाते थे। श्रीरामकृष्ण ने एक दिन श्रीजगन्नाथदेव का प्रसाद सन्देश (एक प्रकार की मिठाई) के भीतर भरकर उन्हें खिला दिया था। बाद में श्रीरामकृष्ण की कृपा से सब देखसुनकर धीरे धीरे उन्होंने सब माना।

शिष्य—मेरे साथ रोज कितनी हँसी करते हैं, परन्तु इस समय ऐसे गम्भीर बने हैं कि बात करने में भी भय हो रहा है।

स्वामी प्रेमानन्द—असली बात तो यह है कि महापुरुषगण कब किस भाव में रहते हैं यह समझना हमारी मन-बुद्धि के परे है। श्रीरामकृष्ण के जीवित काल में देखा है, नरेन को दूर से देखकर वे समाधिमग्न हो जाते थे। जिन लोगों की छुई हुई चीजों को खाने से वे दूसरों को मना करते थे उनकी छुई हुई चीजें अगर नरेन खा लेता तो कुछ न कहते थे। कभी कहा करते थे, 'माँ, उसके अद्वैत ज्ञान को दबाकर रख, मेरा बहुत काम है।' इन

सब बातों को अब कौन समझेगा---और किससे कहूँ ?

शिष्य---महाराज, वास्तव में कभी कभी ऐसा मालूम होता है कि वे मनुष्य नहीं हैं परन्तु फिर बातचीत, युक्ति-विचार करते समय मनुष्य जैसे लगते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो किसी आवरण द्वारा उस समय वे अपने स्वरूप को समझने नहीं देते !

स्वामी प्रेमानन्द---श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'वह (नरेन) जब जान जायगा कि वह स्वयं कौन है, तो फिर इस शरीर में नहीं रहेगा, चला जायगा।' इसीलिए कामकाज में नरेन का मन लगा रहने पर हम निश्चिन्त रहते हैं। उसे अधिक ध्यान-धारणा करते देखकर हमें भय लगता है।

अब स्वामीजी मठ की ओर लौटने लगे। उस समय स्वामी प्रेमानन्द और शिष्य को पास पास देखकर उन्होंने पूछा, "क्यों रे, तुम दोनों की आपस में क्या बातचीत हो रही थी ?" शिष्य ने कहा, "यही सब श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में नाना प्रकार की बातें हो रही थीं।" उत्तर सुनकर स्वामीजी फिर अनमने होकर चलते चलते मठ में लौट आये और मठ के आम के पेड़ के नीचे जो कैम्प खटिया उनके बैठने के लिए बिछी हुई थी, उस पर आकर बैठ गये। थोड़ी देर विश्राम करने के बाद हाथ-मुँह धोकर वे ऊपर के बरामदे में गये और टहलते टहलते शिष्य से कहने लगे, "तू अपने प्रदेश में वेदान्त का प्रचार क्यों नहीं करने लग जाता ? वहाँ पर तान्त्रिक मत का बड़ा जोर है। अद्वैतवाद के सिंहनाद से पूर्व बंगाल प्रदेश को हिला दे तो देखूँ। तब जानूँगा कि तू वेदान्तवादी है। उस प्रदेश में पहलेपहल एक वेदान्त की संस्कृत पाठशाला खोल दे---उसमें उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि सब पढ़ा। लड़कों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा दे और शास्त्रार्थ करके

तान्त्रिक पण्डितों को हरा दे ! सुना है, तुम्हारे प्रदेश में लोग केवल न्यायशास्त्र की किटिरमिटिर पढ़ते हैं । उसमें है क्या ? व्याप्तिज्ञान और अनुमान—इसी पर तो नैय्यायिक पण्डितों का महीनों तक शास्त्रार्थ चलता है ! उससे आत्मज्ञान-प्राप्ति में क्या कोई विशेष सहायता मिलती है, बोल ! वेदान्त द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मतत्त्व का पठनपाठन हुए विना क्या देश के उद्धार का और कोई उपाय है रे ? तू अपने ही देश में या नाग महाशय के मकान पर ही सही एक चतुष्पाठी (पाठशाला) खोल दे । उसमें इन सब सत्‌शास्त्रों का पठनपाठन होगा और श्रीरामकृष्ण के जीवन-चरित्र की चर्चा होगी । ऐसा करने पर तेरे अपने कल्याण के साथ ही साथ कितने दूसरे लोगों का भी कल्याण होगा । तेरी कीर्ति भी होगी ।"

शिष्य—महाराज, मैं नाम-यश की आकांक्षा नहीं रखता । फिर भी आप जैसा कह रहे हैं, कभी कभी मेरी भी ऐसी इच्छा अवश्य होती है । परन्तु विवाह करके घर-गृहस्थी में ऐसा जकड़ गया हूँ कि कहीं मन की बात मन ही में न रह जाय ।

स्वामीजी—विवाह किया है तो क्या हुआ ? माँ-बाप, भाई-बहिन को अन्नवस्त्र देकर जैसे पाल रहा है, वैसे ही स्त्री का पालन कर, बस । धर्मोपदेश देकर उसे भी अपने पथ में खींच ले । महामाया की विभूति मानकर सम्मान की दृष्टि से देखा कर । धर्म के पालन में 'सहधर्मिणी' माना कर और दूसरे समय जैसे अन्य दस व्यक्ति देखते हैं, वैसे ही तू भी देखा कर । इस प्रकार सोचते सोचते देखेगा कि मन की चंचलता एकदम मिट जायगी । भय क्या है ?

स्वामीजी की अभयवाणी सुनकर शिष्य को कुछ विश्वास हुआ ।

भोजन के बाद स्वामीजी अपने बिस्तर पर जा बैठे । अन्य

सब लोगों का अभी प्रसाद पाने का समय नहीं हुआ; इसलिए शिष्य को स्वामीजी की चरणसेवा करने का अवसर मिल गया।

स्वामीजी भी उसे मठ के सब निवासियों के प्रति श्रद्धावान बनने का आदेश देने के सिलसिले में कहने लगे, "ये जो सब श्रीरामकृष्ण की सन्तानों को देख रहा है वे सब अद्‌भुत त्यागी हैं, इनकी सेवा करके लोगों की चित्तशुद्धि होगी—आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष होगा। 'परिप्रश्नेन सेवया'—गीता का कथन सुना है न? इनकी सेवा किया कर। तभी सब कुछ हो जायगा। तुझ पर इनका कितना प्रेम है, जानता है?

शिष्य—परन्तु महाराज, इन लोगों को समझना बहुत ही कठिन मालूम होता है। एक एक व्यक्ति का एक एक भाव।

स्वामीजी—श्रीरामकृष्ण कुशल बागवान थे न! इसीलिए तरह तरह के फूलों से संघरूपी गुलदस्ते को तैयार कर गये हैं। जहाँ का जो कुछ अच्छा है, सब इसमें आ गया है—समय पर और भी कितने आयेंगे। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'जिसने एक दिन के लिए भी निष्कपट चित्त से ईश्वर को पुकारा है, उसे यहाँ पर आना पड़ेगा।' जो लोग यहाँ पर हैं, वे एक एक महान् सिंह हैं। ये मेरे पास दबकर रहते हैं, इसीलिए कहीं इन्हें मामूली आदमी न समझ लेना। ये ही लोग जब निकलेंगे तो इन्हें देखकर लोगों को चैतन्य प्राप्त होगा। इन्हें अनन्त भावमय श्रीरामकृष्ण के शरीर का अंश जानना। मैं इन्हें उसी भाव से देखता हूँ। वह जो राखाल है, उसके सदृश धर्मभाव मेरा भी नहीं है। श्रीरामकृष्ण उसे मानस-पुत्र मानकर गोदी में लेते थे, खिलाते थे—एक साथ सोते थे। वह हमारे मठ की शोभा है—हमारा बादशाह है। बाबूराम, हरि, सारदा, गंगाधर, शरद, शशी, सुबोध

आदि की तरह ईश्वर-पद-विश्वासी लोग पृथ्वी भर में ढूँढ़ने पर भी शायद न पा सकेगा। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति धर्म-शक्ति का मानो एक एक केन्द्र है। समय आने पर उन सब की शक्ति का विकास होगा।

शिष्य विस्मित होकर सुनने लगा; स्वामीजी ने फिर कहा, "परन्तु तुम्हारे प्रदेश से नाग महाशय के अतिरिक्त और कोई न आया। और दो एक जनों ने श्रीरामकृष्ण को देखा था, पर वे उन्हें समझ न सके। नाग महाशय की बात याद करके स्वामीजी थोड़ी देर के लिए स्थिर रह गये। स्वामीजी ने सुना था, एक समय नाग महाशय के घर में गंगाजी का फव्वारा निकल पड़ा था। उस बात का स्मरण कर वे शिष्य से बोले, "अरे, वह घटना क्या थी, बोल तो ?"

शिष्य—महाराज, मैंने भी उस घटना के बारे में सुना है—पर आँखों नहीं देखी। सुना है, एक बार महावारुणी योग में अपने पिताजी को साथ लेकर नाग महाशय कलकत्ता आने के लिए तैयार हुए, परन्तु भीड़ में गाड़ी न पाकर तीन चार दिन नारायणगंज में ही रहकर घर लौट आये। लाचार हो नाग महाशय ने कलकत्ता जाने का इरादा छोड़ दिया और अपने पिताजी से कहा, 'यदि मन शुद्ध हो तो माँ गंगा यहीं पर आ जायँगी।' इसके बाद महावारुणी योग के समय पर मकान के आँगन की जमीन फोड़कर एक जल का फव्वारा फूट निकला था—ऐसा सुना है। जिन्होंने देखा था, उनमें से अनेक व्यक्ति अभी तक जीवित हैं। मुझे उनका संग प्राप्त होने के बहुत दिन पहले यह घटना हुई थी।

स्वामीजी—इसमें फिर आश्चर्य की क्या बात है ? वे सिद्ध-

संकल्प महापुरुष थे; उनके लिए वैसा होने में मैं कुछ भी आश्चर्य नहीं मानता।

यह कहते कहते स्वामीजी ने करवट बदल ली और उन्हें नींद आने लगी।

यह देखकर शिष्य प्रसाद पाने के लिए उठकर चला गया।

परिच्छेद ४५

स्थान—कलकत्ते से मठ में जाते हुए नाव पर
वर्ष—१९०२ ईसवी

विषय—स्वामीजी की अहंकारशून्यता—काम-कांचन को बिना छोड़े श्रीरामकृष्ण को ठीक ठीक समझना असम्भव है—श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग भक्त कौन लोग हैं—सर्वत्यागी संन्यासी भक्तगण ही सर्वकाल में जगत् में अवतारी महापुरुषों के भावों का प्रचार करते हैं—गृही भक्तगण श्रीरामकृष्ण के बारे में जो कुछ कहते हैं, वह भी आंशिक रूप से सत्य हैं—महान् श्रीरामकृष्ण के भाव की एक बूंद धारण कर सकने पर मनुष्य धन्य हो जाता है—संन्यासी भक्तों को श्रीरामकृष्ण द्वारा विशेष रूप से उपदेश दान—समय आने पर समस्त संसार श्रीरामकृष्ण के उदार भाव को ग्रहण करेगा—श्रीरामकृष्ण की कृपा को प्राप्त करनेवाले साधुओं की सेवा-वन्दना मनुष्य के लिए कल्याणदायी है।

शिष्य ने आज तीसरे प्रहर कलकत्ते के गंगातट पर टहलते टहलते देखा कि थोड़ी दूरी पर एक संन्यासी अहिरी टोला घाट की ओर अग्रसर हो रहे हैं। वे जैसे पास आये तो देखा, वे साधु और कोई नहीं हैं—उसी के गुरुदेव स्वामी विवेकानन्दजी ही हैं। स्वामीजी के बाँये हाथ में शाल के पत्ते के दोने में भुना हुआ चनाचूर है, बालक की तरह खाते खाते वे आनन्द से चले आ रहे हैं। जगत् विख्यात स्वामीजी को उस रूप में रास्ते पर चनाचूर खाते हुए आते देख शिष्य विस्मित होकर उनकी अहंकारशून्यता की बात सोचने लगा। वे जब समीप आये तो शिष्य ने उनके चरणों में प्रणत होकर उनके एकाएक कलकत्ता आने का कारण पूछा।

स्वामीजी---एक काम से आया था। चल, तू मठ में चलेगा! थोड़ा भुना हुआ चना खा न? अच्छा नमक-मसालेदार है।

शिष्य ने हँसते हँसते प्रसाद लिया और मठ में जाना स्वीकार किया।

स्वामीजी---तो फिर एक नाव देख।

शिष्य भागता हुआ किराये से नाव लेने दौड़ा। किराये के सम्बन्ध में माझिओं के साथ बातचीत चल रही है, इसी समय स्वामीजी भी वहाँ पर आ पहुँचे। नाववाले ने मठ पर पहुँचा देने के लिए आठ आने माँगे। शिष्य ने दो आने कहा। "इन लोगों के साथ क्या किराये के बारे में लड़ रहा है?" यह कहकर स्वामीजी ने शिष्य को चुप किया और माझी से कहा, "चल, आठ आने ही दूँगा" और नाव पर चढ़े। भाटे के प्रबल वेग के कारण नाव बहुत धीरे धीरे चलने लगी और मठ तक पहुँचते पहुँचते करीब डेढ़ घण्टा लग गया। नाव में स्वामीजी को अकेला पाकर शिष्य को नि:संकोच होकर सारी बातें उनसे पूछ लेने का अच्छा अवसर मिल गया। इसी वर्ष के २० आषाढ़ (बंगला) को स्वामीजी ने देहत्याग किया। उस दिन गंगाजी पर स्वामीजी के साथ शिष्य का जो वार्तालाप हुआ था, वही यहाँ पाठकों को उपहार के रूप में दिया जाता है।

श्रीरामकृष्ण के गत जन्मोत्सव में शिष्य ने उनके भक्तों की महिमा का कीर्तन करके जो स्तव छपवाया था, उसके सम्बन्ध में प्रसंग उठाकर स्वामीजी ने उससे पूछा, "तूने अपने रचित स्तव में जिन जिन का नाम लिया है, कैसे जाना कि वे सभी श्रीरामकृष्ण की लीला के साथी हैं?"

शिष्य---महाराज! श्रीरामकृष्ण के संन्यासी और गृही

भक्तों के पास इतने दिनों से आना-जाना कर रहा हूँ, उन्हींके मुख से सुना है कि वे सभी श्रीरामकृष्ण के भक्त हैं।

स्वामीजी—श्रीरामकृष्ण के भक्त हो सकते हैं परन्तु सभी भक्त तो उनकी लीला के साथियों में अन्तर्भूत नहीं हैं? उन्होंने काशीपुर के बगीचे में हम लोगों से कहा था, 'माँ ने दिखा दिया, ये सभी लोग यहाँ के (मेरे) अन्तरंग नहीं हैं।' स्त्री तथा पुरुष दोनों प्रकार के भक्तों के सम्बन्ध में उन्होंने उस दिन ऐसा कहा था।

उसके बाद वे अपने भक्तों में जिस प्रकार ऊँच नीच श्रेणियों का निर्देश किया करते थे, उसी बात को कहते कहते धीरे धीरे स्वामीजी शिष्य को भलीभाँति समझाने लगे कि गृहस्थ और संन्यासी जीवन में कितना अन्तर है।

स्वामीजी—कामिनी-कांचन का सेवन भी करेगा और श्रीरामकृष्ण को भी समझेगा—ऐसा भी कभी हुआ या हो सकता है? इस बात पर कभी विश्वास न करना। श्रीरामकृष्ण के भक्तों में से अनेक व्यक्ति इस समय अपने को 'ईश्वर कोटि' 'अन्तरंग' आदि कहकर प्रचार कर रहे हैं। उनका त्याग-वैराग्य तो कुछ भी न ले सके, परन्तु कहते क्या हैं कि वे सब श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग भक्त हैं! उन सब बातों को झाड़ू मारकर निकाल दिया कर। जो त्यागियों के बादशाह हैं उनकी कृपा प्राप्त करके क्या कोई कभी काम-कांचन के सेवन में जीवन व्यतीत कर सकता है?

शिष्य—तो क्या महाराज, जो लोग दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के पास उपस्थित हुए थे, उनमें से सभी लोग उनके भक्त नहीं हैं?

स्वामीजी—यह कौन कहता है? सभी लोग उनके पास आना-जाना करके धर्म की अनुभूति की ओर अग्रसर हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे। वे सभी उनके भक्त हैं। परन्तु असली बात यह है कि

सभी लोग उनके अन्तरंग नहीं हैं। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'अवतार के साथ दूसरे कल्प के सिद्ध ऋषिगण देह धारण करके जगत् में पधारते हैं। वे ही भगवान के साक्षात् पार्षद हैं। उन्हींके द्वारा भगवान कार्य करते हैं या जगत् में धर्मभाव का प्रचार करते हैं।' यह जान ले—अवतार के संगी-साथी एकमात्र वे लोग हैं जो दूसरों के लिए सर्वत्यागी हैं—जो भोगसुख को काक-विष्ठा की तरह छोड़कर 'जगद्धिताय' 'जीवहिताय' आत्मोत्सर्ग करते हैं। भगवान ईसा मसीह के सभी शिष्यगण सन्यासी हैं। शंकरचार्य, रामानुजाचार्य, श्रीचैतन्य महाप्रभु व बुद्धदेव की साक्षात् कृपा को प्राप्त करनेवाले सभी साथी सर्वत्यागी संन्यासी हैं। ये सर्वत्यागी ही गुरुपरम्परा के अनुसार जगत् में ब्रह्मविद्या का प्रचार करने आये हैं। किसने कब सुना है—काम-कांचन के दास बने रहकर भी कोई मनुष्य जनता का उद्धार करने या ईश्वरप्राप्ति का उपाय बताने में समर्थ हुआ है? स्वयं मुक्त न होने पर दूसरों को कैसे मुक्त किया जा सकता है? वेद, वेदान्त, इतिहास, पुराण सर्वत्र देख सकेगा—संन्यासीगण ही सर्व काल में सभी देशों में लोकगुरु के रूप में धर्म का उपदेश देते रहे हैं। यही इतिहास भी बतलाता है। History repeats itself—यथा पूर्वं तथा परम्—अब भी वही होगा। महासमन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण की संन्यासी सन्तान ही लोकगुरु के रूप में जगत् में सर्वत्र पूजित हो रही है और होगी। त्यागी के अतिरिक्त दूसरों की बात सूनी आवाज की तरह शून्य में विलीन हो जायगी। मठ के यथार्थ त्यागी संन्यासीगण ही धर्मभाव की रक्षा और प्रचार के महा केन्द्रस्वरूप बनेंगे। समझा?

शिष्य—तो फिर श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ भक्तगण जो उनकी बातों का भ न्न भिन्न प्रकार से प्रचार कर रहे हैं, क्या वह सत्य नहीं है?

स्वामीजी—एकदम झूठा नहीं कहा जा सकता; परन्तु वे श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं, वह सब आंशिक सत्य है; जिसमें जितनी क्षमता है वह श्रीरामकृष्ण का उतना अंश ही लेकर चर्चा कर रहा है। वैसा करना बुरा नहीं है। परन्तु उनके भक्तों में यदि ऐसा किसी ने समझा हो कि वह जो समझा है अथवा कह रहा है, वही एकमात्र सत्य है, तो वह बेचारा दया का पात्र है। श्रीरामकृष्ण को कोई कह रहे हैं—तान्त्रिक कौल; कोई कहते हैं—चैतन्यदेव नारदीय भक्ति का प्रचार करने के लिए पैदा हुए थे; कोई कहते हैं—श्रीरामकृष्ण की साधना उनके अवतारत्व में विश्वास की विरोधी है; कोई कहते हैं—संन्यासी बनना श्रीरामकृष्ण की राय में ठीक नहीं है, इत्यादि। इसी प्रकार की कितनी ही बातें गृही भक्त के मुख से सुनेगा—उन सब बातों पर ध्यान न देना। श्रीरामकृष्ण क्या हैं, वे कितने ही पूर्व अवतारों के जमे हुए भावराज्य के अधिराज हैं—इस बात को प्राणपण से तपस्या करके भी मैं रत्ती भर नहीं समझ सका। इसलिए उनके सम्बन्ध में संयत होकर ही बात करना उचित है। जो जैसा पात्र है, उसे वे उतना ही देकर पूर्ण कर गये हैं। उनके भाव-समुद्र की एक बूँद को भी यदि धारण कर सके तो मनुष्य देवता बन सकता है। सर्व भावों का इस प्रकार समन्वय जगत् के इतिहास में क्या और कहीं भी ढूँढ़ने पर मिल सकता है? इसीसे समझ ले, उनके रूप में कौन देह धारण कर आये थे। अवतार कहने से तो उन्हें छोटा कर दिया जाता है। जब वे अपने संन्यासी सन्तानों को उपदेश दिया करते थे, तब बहुधा वे स्वयं उठकर चारों ओर खोज करके देख लेते थे कि वहाँ पर कोई गृहस्थ तो नहीं है। और जब देख लेते कि कोई नहीं है, तभी ज्वलन्त भाषा में त्याग और

तपस्या की महिमा का वर्णन करते थे। उसी संसार-वैराग्य की प्रचण्ड उद्दीपना से ही तो हम संसारत्यागी उदासीन हैं।

शिष्य---महाराज, वे गृहस्थ और संन्यासियों के बीच इतना अन्तर रखते थे ?

स्वामीजी---यह उनके गृही भक्तों से पूछकर देख। यही क्यों नहीं समझ लेता कि उनकी जो सब सन्तान ईश्वर-प्राप्ति के लिए ऐहिक जीवन के सभी भोगों का त्याग करके पहाड़, पर्वत, तीर्थ तथा आश्रम आदि में तपस्या करते हुए देह का क्षय कर रही है वह बड़ी है अथवा वे लोग जो उनकी सेवा, वन्दना, स्मरण, मनन कर रहे हैं और साथ ही संसार के मायामोह में ग्रस्त हैं ? जो लोग आत्मज्ञान में, जीव सेवा में जीवन देने को अग्रसर हैं, जो बचपव से ऊर्ध्वरेता हैं, जो त्याग, वैराग्य के मूर्तिमान चल विग्रह हैं वे बड़े हैं अथवा वे लोग, जो मक्खी की तरह एक बार फूल पर बैठते हैं पर दूसरे ही क्षण विष्ठा पर बैठ जाते हैं ?---यह सब स्वयं ही समझकर देख।

शिष्य---परन्तु महाराज, जिन्होंने उनकी (श्रीरामकृष्ण की) कृपा प्राप्त कर ली है, उनकी फिर गृहस्थी कैसी ? वे घर पर रहें या संन्यास ले लें दोनों ही बराबर हैं, मुझे तो ऐसा ही लगता है।

स्वामीजी---जिन्हें उनकी कृपा प्राप्त हुई है, उनकी मन-बुद्धि फिर किसी भी तरह संसार में आसक्त नहीं हो सकती। कृपा की परीक्षा तो है---काम-कांचन में अनासक्ति। वही यदि किसी की न हुई तो उसने श्रीरामकृष्ण की कृपा कभी ठीक ठीक प्राप्त नहीं की।

पूर्व प्रसंग इसी प्रकार समाप्त होने पर शिष्य ने दूसरी बात

उठाकर स्वामीजी से पूछा, "महाराज, आपने जो देशविदेश में इतना परिश्रम किया है, उसका क्या परिणाम हुआ ?"

स्वामीजी—क्या हुआ ? —इसका केवल थोड़ा ही भाग तुम लोग देख सकोगे। समयानुसार समस्त संसार को श्रीरामकृष्ण का उदार भाव ग्रहण करना पड़ेगा। इसकी अभी सूचना मात्र हुई है। इस प्रबल बाढ़ के वेग में सभी को बह जाना पड़ेगा।

शिष्य—आप श्रीरामकृष्ण के बारे में और कुछ कहिये। उनका प्रसंग आपके श्रीमुख से सुनने में अच्छा लगता है।

स्वामीजी—यही तो कितना दिनरात सुन रहा है। उनकी उपमा वे ही हैं। उनकी तुलना है रे ?

शिष्य—महाराज, हम तो उन्हें देख नहीं सकते। हमारे उद्धार का क्या उपाय है !

स्वामीजी—उनकी कृपा को साक्षात् प्राप्त करने वाले जब इन सब साधुओं का सत्संग कर रहा है, तो फिर उन्हें क्यों नहीं देखा, बोल ? वे अपनी त्यागी सन्तानों में विराजमान हैं। उनकी सेवा-वन्दना करने पर, वे कभी न कभी अवश्य प्रकट होंगे। समय आने पर सब देख सकेगा।

शिष्य—अच्छा महाराज, आप श्रीरामकृष्ण की कृपा प्राप्त किये हुए दूसरे सभी की बात कहते हैं। परन्तु आपके सम्बन्ध में वे जो कुछ कहा करते थे, वह बात तो आप कभी भी नहीं कहते ?

स्वामीजी—अपनी बात और क्या कहूँगा ? देख तो रहा है—मैं उनके दैत्य दानवों में से कोई एक होऊँगा। उनके सामने ही कभी कभी उन्हे भला-बुरा कह देता था। वे सुनकर हँस देते थे।

यह कहते कहते स्वामीजी का मुखमण्डल गम्भीर हो गया, गंगाजी की ओर शून्य मन से देखते हुए कुछ देर तक स्थिर

होकर बैठे रहे। धीरे धीरे शाम हो गयी। नाव भी धीरे धीरे मठ में आ पहुँची। स्वामीजी उस समय एकाग्रचित्त हो गाना गा रहे थे—"(केवल) आशार आशा भवे आसा, आसा मात्र सार हल। एखन सन्ध्यावेलाय घरेर छेले घरे निये चल।"

भावार्थ—केवल आशा की आशा में दुनिया में आना हुआ, (और) आना भर ही सार हुआ है। अब साँझ के समय (मुझे) घर के लड़के को घर ले चलो।

गाना सुनकर शिष्य स्तम्भित होकर स्वामीजी के मुख की ओर देखता रह गया।

गाना समाप्त होने पर स्वामीजी बोले, "तुम्हारे पूर्व बंगाल प्रदेश में सुकण्ठ गायक पैदा नहीं होते। माँ गंगा का जल पेट में गये बिना सुकण्ठ गायक नहीं होता है।"

किराया चुकाकर स्वामीजी नाव से उतरे और कुरता उतारकर मठ के पश्चिमी बरामदे में बैठ गये। स्वामीजी के गौर वर्ण और गेरुए वस्त्र ने सायंकाल के दीपों के आलोक में अपूर्व शोभा को धारण किया।

परिच्छेद ४६

अन्तिम दर्शन

स्थान—बेलुड़ मठ

वर्ष—१९०२ ईसवी

विषय—जातीय आहार, पोशाक व आचार छोड़ना दोषास्पद है—विद्या सभी से सीखी जा सकती है, परन्तु जिसके द्वारा जातीयता लुप्त हो जाती है, उसका हर तरह से परित्याग करना चाहिए—पहिनाव के सम्बन्ध में शिष्य के साथ वार्तालाप—स्वामीजी के पास शिष्य की ध्यान में एकाग्रता-प्राप्ति की प्रार्थना—स्वामीजी द्वारा शिष्य को आशीर्वाद—विदा।

आज १३ आषाढ़ (बंगला) है। शिष्य बाली से सायं-काल के पूर्व मठ में आ गया है। उस समय उसके कार्य का स्थान बाली में ही है। आज वह आफिसवाली पोशाक पहनकर ही आया है, कपड़ा बदलने को समय उसे नहीं मिला। आते ही स्वामीजी के श्रीचरणों में प्रणाम करके उसने उनका कुशल समाचार पूछा। स्वामीजी बोले, "अच्छा हूँ। (शिष्य की पोशाक देखकर) तू कोट पैन्ट पहनता है, कालर क्यों नहीं लगाया?" ऐसा कहने के बाद पास में खड़े स्वामी सारदानन्दजी को बुलाकर कहा, "मेरे जो कालर हैं, उनमें से दो कालर कल (प्रात:काल) इसे दे देना तो।" स्वामी सारदानन्दजी ने उनके आदेश को शिरोधार्य कर लिया।

उसके पश्चात् शिष्य मठ से एक दूसरे कमरे में उस पोशाक को उतारकर मुँह-हाथ धोकर स्वामीजी के पास आया। स्वामीजी ने उस समय उससे कहा, "आहार, पोशाक और जातीय आचार-

व्यवहार का परित्याग करने पर, धीरे-धीरे जातीयता लुप्त हो जाती है। विद्या सभी से सीखी जा सकती है, परन्तु जिस विद्या की प्राप्ति से जातीयता का लोप होता है, उससे उन्नति नहीं होती—अध:पतन ही होता है।

शिष्य—महाराज, आफिस में आजकल अधिकारियों द्वारा निश्चित पोशाक आदि न पहनने से काम नहीं चलता।

स्वामीजी—इसे कौन रोकता है ? आफिस में काम करने के लिए वैसी पोशाक तो पहननी ही पड़ेगी। परन्तु घर जाकर ठीक बंगाली बाबू बन जा। वही धोती, बदन पर कमीज या कुरता और कन्धे पर चादर। समझा ?

शिष्य—जी हाँ !

स्वामीजी—तुम लोग केवल शर्ट (कमीज) पहनकर ही इसके उसके घर चले जाते हो; उस देश में (पाश्चात्य देश में) वैसी पोशाक पहनकर लोगों के घर जाना बड़ी असभ्यता समझी जाती है। बिना कोट पहने कोई सभ्य व्यक्ति अपने घर में घुसने ही न देगा। पोशाक के बारे में तुम लोगों ने क्या अधूरा अनुकरण करना सीखा है ! आजकल के लड़के जो पोशाक पहनते हैं, वह न तो देशी है और न विलायती, एक विचित्र मिलावट है।

इस प्रकार बातचीत के बाद स्वामीजी गंगाजी के किनारे थोड़ी देर टहलने लगे। साथ में केवल शिष्य ही था। वह स्वामीजी से साधना के सम्बन्ध में एक प्रश्न पूछने में संकोच कर रहा था।

स्वामीजी—क्या सोच रहा है ? कह ही डाल न। (मानो मन की बात ताड़ गये हों !)

शिष्य लज्जित भाव से कहने लगा, "महाराज, सोच रहा था कि यदि आप ऐसा कोई उपाय सिखा दें, जिससे मन बहुत जल्द

स्थिर हो जाय, जिससे बहुत जल्द ध्यानमग्न हो सकूँ, तो बड़ा ही उपकार हो। संसार के चक्र में पड़कर साधनभजन के समय मन स्थिर करना बड़ा कठिन होता है।"

ऐसा मालूम हुआ कि शिष्य की उस प्रकार की दीनता को देख स्वामीजी बहुत ही प्रसन्न हुए। उत्तर में वे स्नेहपूर्वक शिष्य से बोले, "थोड़ी देर बाद जब ऊपर मैं अकेला रहूँगा तब आना। तब उस विषय पर बातचीत होगी।"

शिष्य आनन्द से अधीर होकर बार बार स्वामीजी को प्रणाम करने लगा। स्वामीजी 'रहने दे' 'रहने दे' कहने लगे।

थोड़ी देर बाद स्वामीजी ऊपर चले गये।

शिष्य इस बीच नीचे एक साधु के साथ वेदान्त की चर्चा करने लगा और धीरे धीरे द्वैताद्वैत मत के वितण्डावाद से मठ कोलाहलपूर्ण हो गया। हल्ला सुनकर शिवानन्द महाराज ने उससे कहा, "अरे धीरे धीरे चर्चा कर, ऐसा चिल्लाने से स्वामीजी के ध्यान में विघ्न होगा।" उस बात को सुनकर शिष्य शान्त हुआ और चर्चा समाप्त करके ऊपर स्वामीजी के पास चला गया।

शिष्य ने ऊपर पहुँचते ही देखा, स्वामीजी पश्चिम की ओर मुँह करके फर्श पर बैठे हुए ध्यानमग्न हैं। मुख अपूर्व भाव से पूर्ण है, मानो चन्द्रमा की कान्ति फूटकर निकल रही है। उनके सभी अंग एकदम स्थिर—मानो "चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे।" स्वामीजी की वह ध्यानमग्न मूर्ति देखकर वह विस्मित होकर पास ही खड़ा रहा और बहुत देर तक खड़े रहकर भी स्वामीजी के बाह्य ज्ञान का कोई चिह्न न देखकर चुपचाप उसी स्थान पर बैठ गया। करीब आधा घण्टा बीत जाने पर स्वामीजी के पार्थिव राज्य के सम्बन्ध में ज्ञान का मानो थोड़ा थोडा आभास दीखने

लगा । शिष्य ने देखा उनका मुट्ठी-बन्द हाथ काँप रहा है । उसके पाँच-सात मिनट बाद ही स्वामीजी ने आँखें खोलकर शिष्य से कहा, "यहाँ पर कब आया ?"

शिष्य---यही थोड़ी देर से आया हूँ ।

स्वामीजी---अच्छा, एक गिलास जल तो ले आ ।

शिष्य तुरन्त स्वामीजी के लिए रखी हुई खास सुराही से जल ले आया । स्वामीजी ने थोड़ा जल पीकर गिलास जगह पर रखने के लिए शिष्य से कहा । शिष्य ने गिलास रख दिया और स्वामीजी के पास आकर बैठ गया ।

स्वामीजी---आज ध्यान बहुत जमा था ।

शिष्य---महाराज, ध्यान करते समय बैठने पर मन जिससे पूर्ण रूप से डूब जाय, वह मुझे सिखा दीजिये ।

स्वामीजी---तुझे सब उपाय तो पहले ही बता दिये हैं; प्रतिदिन उसी प्रकार ध्यान किया कर । समय पर सब मालूम होगा । अच्छा, बोल तो तुझे क्या अच्छा लगता है ?

शिष्य---महाराज, आपने जैसा कहा था, वैसा करता हूँ, परन्तु फिर भी मेरा अभी तक अच्छी तरह से ध्यान नहीं जमता। फिर कभी कभी मन में आता है---ध्यान करके क्या होगा ? इसलिए, ऐसा लगता है कि मेरा ध्यान नहीं जमेगा । अब हमेशा आपके पास रहना ही मेरी एकमात्र इच्छा है ।

स्वामीजी---वह सब मानसिक दुर्बलता का चिह्न है । सदा नित्य प्रत्यक्ष आत्मा में तन्मय हो जाने की चेष्टा किया कर । आत्मदर्शन एक बार होने पर, सब कुछ हुआ ही समझ, जन्म-मृत्यु का जाल तोड़कर चला जायगा ।

शिष्य---आप कृपा करके वही कर दीजिये । आपने आज

एकान्त में आने के लिए कहा था, इसलिए आया हूँ। जिससे मेरा मन स्थिर हो, ऐसा कुछ कर दीजिये।

स्वामीजी––समय पाते ही ध्यान किया कर। सुषुम्ना के पथ पर मन यदि एक बार चला जाय, तो अपने आप ही सब कुछ ठीक हो जायगा। फिर अधिक कुछ करना न होगा।

शिष्य––आप तो कितना उत्साह देते हैं! परन्तु मुझे सत्य वस्तु प्रत्यक्ष होगी क्या? यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो सकूँगा क्या?

स्वामीजी––अवश्य होगा। समय पर कीट से ब्रह्मा तक सभी मुक्त हो जायेंगे––और तू नहीं होगा? उन सब दुर्बलताओं को मन में स्थान न दिया कर।

इसके बाद स्वामीजी बोले, "श्रद्धावान बन, वीर्यवान बन, आत्मज्ञान प्राप्त कर और परहित के लिए जीवन का उत्सर्ग कर दे––यही मेरी इच्छा और आशीर्वाद है।"

इसके बाद प्रसाद की घण्टी बजने पर स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "जा, प्रसाद की घण्टी बज गयी है।"

शिष्य ने स्वामीजी के चरणों में प्रणाम करके कृपा की भिक्षा माँगी। स्वामीजी ने शिष्य के मस्तक पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और कहा, "मेरे आशीर्वाद से तेरा यदि कोई उपकार होता है तो कहता हूँ, 'भगवान् श्रीरामकृष्ण तुझ पर कृपा करें।' इससे बढ़कर आशीर्वाद और मैं तुझे क्या दूँ।"

शिष्य ने आनन्दित होकर, नीचे उतरकर शिवानन्दजी महाराज से स्वामीजी के आशीर्वाद की बात कही। स्वामी शिवानन्द उस बात को सुनकर बोले, "जा बांगाल, तेरा सब कुछ बन गया। इसके बाद स्वामीजी के आशीर्वाद का परिणाम जान सकेगा।"

भोजन के बाद शिष्य उस रात्रि को फिर ऊपर न गया, क्योंकि आज स्वामीजी जल्दी सोने के लिए लेट गये थे।

दूसरे दिन प्रात:काल ही शिष्य को कार्यवश कलकत्ता लौटना था। अत: जल्द हाथ-मुँह धोकर वह ऊपर स्वामीजी के पास पहुँचा।

स्वामीजी—अभी जायगा ?

शिष्य—जी हाँ।

स्वामीजी—अगले रविवार को तो आयगा न ?

शिष्य—अवश्य महाराज।

स्वामीजी—तो जा वह एक नाव आ रही है, उसी पर चला जा।

शिष्य ने स्वामीजी के चरणकमलों से इस जन्म के लिए विदा ली। वह उस समय भी नहीं जानता था कि गुरुदेव के साथ स्थूल शरीर में उसका यही अन्तिम साक्षात्कार था। स्वामीजी प्रसन्न मुख से उसे विदा देकर फिर बोले, "रविवार को आना।" शिष्य भी "आऊँगा" कहकर नीचे उतर गया।

स्वामी सारदानन्दजी उसे जाते देखकर बोले, "अरे, वे दो कालर तो लेता जा। नहीं तो मुझे स्वामीजी की बात सुननी पड़ेगी।"

शिष्य बोला, "आज बहुत जल्दी है—और किसी दिन ले जाऊँगा। आप स्वामीजी से कह दीजियेगा।"

नाव का मल्लाह पुकार रहा था। इसलिए शिष्य उन बातों को कहते कहते नाव की ओर भागा। शिष्य ने नाव पर से ही देखा, स्वामीजी ऊपर के बरामदे में धीरे धीरे टहल रहे हैं। वह उन्हें वहीं से प्रणाम करके नाव के भीतर जाकर बैठ गया। नाव भाटे के जोर से आध घण्टे में ही अहीरी टोला के घाट पर आ पहुँची।

इसके सात दिनों बाद ही स्वामीजी ने अपना पांचभौतिक